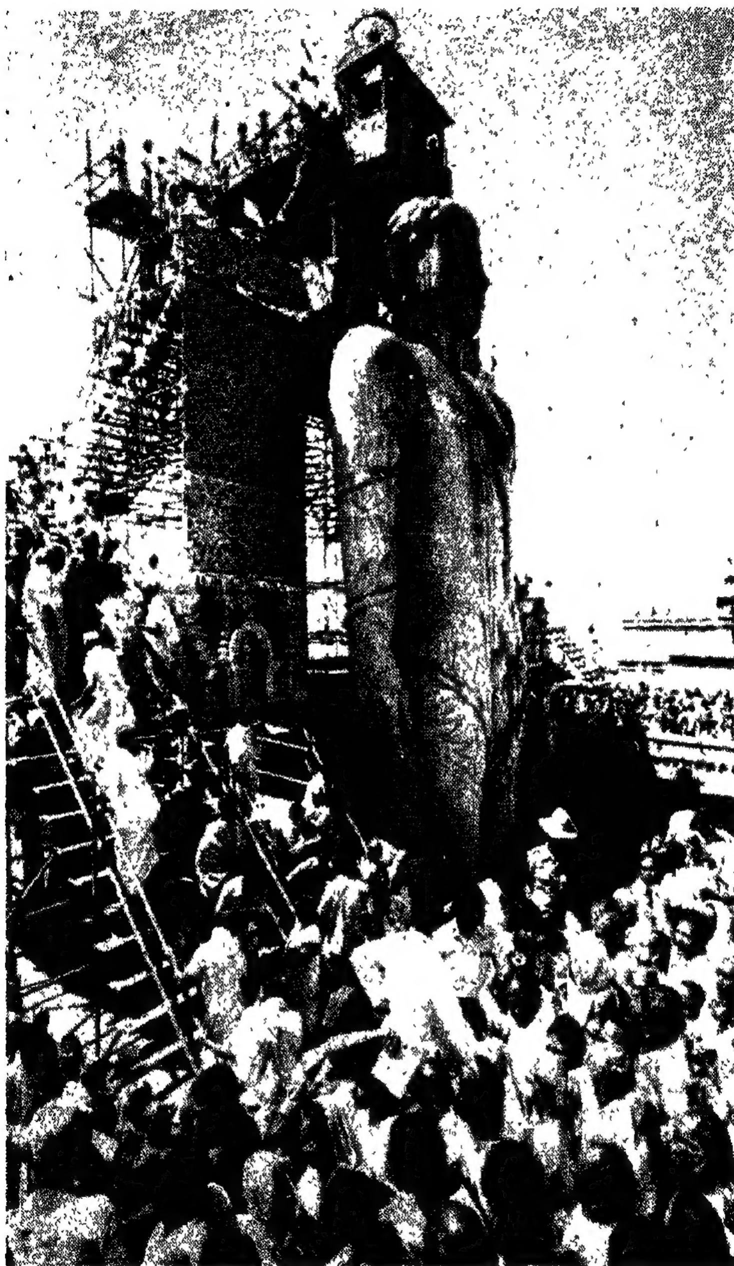


महामस्तकाभिषेक गोम्मटेश्वर बाहुबली—फरवरी 1981

गोम्मटेश्वर बाहुबली
एवं
श्रवणबेलगोल
इतिहास के परिप्रेक्ष्य में

सतीश कुमार जैन

लाडा देवी ग्रंथमाला प्रकाशन

प्रकाशक :
लाडा देवी ग्रंथमाला
3-ई, श्याम कुंज
12-सी, लार्ड सिन्हा रोड,
कलकत्ता-700071 (पश्चिम बंगाल)

प्राप्ति स्थान :
53, ऋषभ विहार
दिल्ली-110092

प्रथम संस्करण नवम्बर, 1992
मूल्य 100/-

मुद्रक :
जय भारत प्रिंटिंग प्रेस
1526-ए, वैस्ट रोहतास नगर
शाहदरा, दिल्ली-110032

प्रस्तावना

"गोम्मटेश्वर एवं श्रवणबेलगोल इतिहास के परिप्रेक्ष्य में" ग्रंथ की पाण्डुलिपि देखने का सुयोग हुआ। ग्रंथ के विद्वान लेखक सतीश कुमार जी ने हार्दिकतापूर्वक जितना श्रम किया है, उसके लिए प्रारम्भ में ही मैं उन्हें साधुवाद देना चाहूंगा। ग्रंथ में जैन कालगणना को आधार मानकर प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का विशद विवरण अनुसंधान परक है।

मनु अथवा कुलकरों की परम्परा पर लेखक ने भारतीय वांगमय का आश्रय लिया है। एक ओर जहां वैदिक ग्रन्थों के उल्लेख हैं तो दूसरी ओर जैन मान्यता को भी आधार बनाया गया है। अनादि सृष्टि के कालान्तर का सुन्दर विवेचन किया है। आदिदेव भगवान ऋषभदेव के पुत्र भरत, बाहुबली तथा ग्रन्थों पर पौराणिक एवं ऐतिहासिक (?) दृष्टि से प्रकाश डाला गया है। भरत चक्रवर्ती की विशद गाथा, उनके नाम पर देश का नाम भारत किस प्रकार सुविख्यात हुआ, यह भी अनुसंधानकर्ताओं के लिए सामग्री प्रदान करता है।

भरत का चक्रवर्ती बनने के लिए पारम्परिक "चक्र-रत्न" का प्रवर्तन, अश्वमेध यज्ञ से भिन्न है। अश्वमेध यज्ञ के निमित्त होता था और बलात युद्ध का आवाहक था। चक्ररत्न प्रवर्तन से चक्रवर्ती बनने की आकांक्षा तो है पर उसमें हिंसा का लेश नहीं। अश्व-मेध में अश्व को यज्ञ में होमना जहां बरबर जान पड़ता है, वहां दो नरेशों का अपने बाहु-बल के आधार पर विजय प्राप्त करना वीरोचित अहिंसक वृत्ति का परिचायक है।

आदि तीर्थंकर ऋषभदेव के द्वितीय पुत्र बाहुबली एवं ज्येष्ठ पुत्र भरत के युद्ध की गाथा बाहुबल की स्पर्धा है, जिसका समीचीन विवरण लेखक ने दिया है। भाइयों द्वारा विजय का निर्णय स्वयं स्पर्धा करके करना और दोनों ओर की सेनाओं को युद्ध में झोंकने से रोकना कितना अहिंसक है।

तीर्थंकर ऋषभदेव की दो कन्याओं—ब्राह्मी और सुन्दरी के निमित्त से लिपि एवं गणित का आविष्कार एक चमत्कारी घटना है। मानव समाज के विकास की कहानी में असि, मसि, कृषि, उद्योग और शिल्प का किस प्रकार उद्रेक हुआ, यह विद्वान लेखक ने सुन्दरता से उल्लेखित किया है। भरत की सम्राट और योगी के बीच की विभाजन रेखा कितनी पतली है, यह सुन्दरता से दर्शाया गया है।

तदुपरांत लेखक श्रवणबेलगोल की ओर आगे बढ़ता है। श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु अपने शिष्य सम्राट चन्द्रगुप्त एवं साधुसंघ के साथ किस प्रकार उत्तर से दक्षिण की ओर विहार करते हैं और कटवप्र पहुंचते हैं यह विवरण भी सुन्दर बन पड़ा है।

जहां आचार्य भद्रबाहु की कथा विशदता के साथ दी है, कितने भद्रबाहु हुए उन पर प्रामाणिकता के साथ लेखक ने अनुसंधान किया है।

सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य के सम्बंध में आधुनिक इतिहासकार मौन हैं। लेखक ने उस लुप्त इतिहास पर अच्छा प्रकाश डाला है। चन्द्रगुप्त के बचपन एवं चाणक्य के सम्बंध में भी अनुसंधानपरक सामग्री दी गई है। इस सम्बंध में बौद्ध साहित्य का आश्रय भी लिया है। जैन आचार्य परम्परा का उल्लेख भी ग्रंथ में प्रामाणिकता से किया गया है।

गोम्मटेश्वर की मूर्ति पर लेखक ने विभिन्न शिलालेखों, अभिलेखों के उदाहरण देकर मूर्ति निर्माणकर्ता चामुण्डराय का जीवन परिचय दिया है जो इतिहास के विद्यार्थियों के लिए अनुसंधान में लाभप्रद सिद्ध होगा। मूर्ति-शिल्पी अरिष्टनेमि के विषय में जानकारी रोचक है, धन से अधिक शिल्प में निष्ठा को प्रतिस्थापित करती है।

गोम्मटेश्वर की भव्य प्रतिमा का आकार-प्रकार एवं उस पर महापुरुषों एवं नेताओं की सम्मति देकर मूर्ति के महत्व पर अच्छा प्रकाश डाला गया है।

श्रवणबेलगोल एवं उसके अंचल में उपलब्ध 573 शिलालेखों पर प्रामाणिक सामग्री प्रस्तुत की गई है, अनेक का जो महत्वपूर्ण हैं, विशदता के साथ उल्लेख किया गया है। किस-किस राजवंश, काल, तथा वर्ष में वह स्थापित हुए उन पर दिये गए परिशिष्ट बहुत उपयोगी हैं। इन शिलालेखों के माध्यम से लेखक ने विशेष परिश्रम कर दक्षिण के राजवंशों के काल में जैन धर्म के प्रसार एवं संस्कृति तथा साहित्य के विकास और सम्वर्धन पर बहुत विशद, प्रामाणिक एवं उपयोगी विवरण दिया है।

दक्षिण के राजवंशों गंगवंश, राष्ट्रकूट वंश, चालुक्य वंश, होयसल वंश, विजयनगर शासन तथा मैसूर के वोडेयर राजवंश में अनेक जैन शासक हुए हैं अथवा जैन धर्म एवं संस्कृति के पोषक रहे हैं। उन राजवंशों के काल में अनेक महान एवं प्रसिद्ध जैनाचार्य हुए हैं, विपुल जैन साहित्य का तथा मन्दिरों, मूर्तियों का निर्माण हुआ है। उस पर क्रमबद्ध रूप में, शिलालेखों से सामग्री निकालकर उपयोगी इतिहास दिया गया है। कौन शासक जैन धर्मावलम्बी थे, और इन सभी राजवंशों के काल में किस-किस प्रकार के निर्माण हुए तथा उनकी व्यवस्था के लिए किस प्रकार से दान, अर्थ की व्यवस्था हुई, यह एक ही स्थान पर इस पुस्तक में उपलब्ध है।

श्रवणबेलगोल की गोम्मटेश्वर मूर्ति बहुत ऊंची है। प्रत्येक 12 वर्ष अथवा न्यूनाधिक अन्तराल से इस मूर्ति का मस्तक से अभिषेक होता रहा है, जो वहां की बहुत महत्वपूर्ण घटना है। उन मस्तकाभिषेकों की क्रमवार, सन-संवत सहित, यहां तक कि किस शासक ने उसमें सहयोग किया, जानकारी परिश्रमपूर्वक दी गई है। मूर्ति के निर्माण के एक सहस्र वर्ष पूर्ण होने के पश्चात् फरवरी 1981 में सम्पन्न हुए भव्य महामस्तकाभिषेक का वर्णन इतना सजीव एवं रोचक है कि लगता है कि वह महान घटना आंखों के सामने घट रही है।

गोम्मटेश्वर मूर्ति विन्ध्यगिरि पहाड़ी पर निर्मित है। उस पर, श्रवणबेलगोल नगर में तथा ऐतिहासिक रूप से प्रसिद्ध अन्य चन्द्रगिरि पहाड़ी पर अनेक जैन बसदियां (मंदिर), स्मारक आदि निर्मित हैं। स्वामी भद्रबाहु एवं चन्द्रगुप्त तथा जैन साधुओं के वहां प्रवास के कारण तथा प्राचीन द्रविड़ शैली के प्राचीन जैन मन्दिरों के निर्माण के कारण चन्द्रगिरि पूर्वकाल से ही प्रसिद्ध रही है। इन सब पर विवरण जानकारी की दृष्टि से उपयोगी है।

मैं पुनः भाई सतीश कुमार जी को उनके इस महत्वपूर्ण सन्दर्भ ग्रंथ की अत्यंत सारगर्भित एवं महत्वपूर्ण अनुसंधान परक सामग्री के लिए साधुवाद एवं बधाई देता हूं और आशा करता हूं कि ग्रंथ विद्वानों एवं विद्यार्थियों दोनों में समादृत होगा।

अक्षय कुमार जैन

सी—47, गुलमोहर पार्क
नई-दिल्ली-110049
भ्रातृ द्वितीया 1992

प्राक्कथन

पूर्वोत्तर भारत के नागालैण्ड प्रदेश के डिमापुर नगर के विनम्र सेवाभावी, दानवीर श्रावक स्व० फूलचन्द सेठी ने अपनी वाणिज्य कुशलता से अर्जित चंचल लक्ष्मी का जिनवाणी के प्रचार-प्रसार में व्यापक उपयोग किया था। उन्होंने अपने जीवनकाल में हजारों की संख्या में भगवान की वाणी को प्रकाशित करवा कर मन्दिरों और साधर्मी बन्धुओं में वितरित किया था। उनके स्वर्गवास के उपरांत श्राविका शिरोमणि, दानशीला श्रीमती लाडा देवी सेठी अपने पति के पद-चिह्नों पर चलकर उसी प्रकार जिनवाणी का लगातार प्रकाशन करवाती आ रही हैं। उन्होंने यह साहित्य श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा एवं दिगम्बर जैन शास्त्री परिषद् के माध्यम से प्रकाशित करवाया एवं वितरित किया है। उन्होंने जो पुस्तकें प्रकाशित करवायीं हैं उनमें आर्यिका सुपार्श्वमति माताजी द्वारा रचित "नैतिक शिक्षाप्रद कहानियां" पहला भाग, चार तरह की जिनवाणी, दश धर्म, पूजा पाठ संग्रह आदि हैं।

श्रीमती लाडा देवी सेठी की रुचि जिनवाणी के व्यापक प्रचार-प्रसार में है। प्रकाशित होने के बाद वह सही हाथों में पहुंचे एवं जिन धर्म के सिद्धांतों के पालन में सहायक बने यह उनकी कामना रहती है। अपनी लक्ष्मी का उपयोग जिनवाणी के प्रचार-प्रसार में लगे, इसलिए उन्होंने बहुत विचार-विमर्श के पश्चात् लाडा देवी ग्रंथमाला की स्थापना की है। इस ग्रंथमाला से प्रत्येक वर्ष एक पुस्तक के प्रकाशन की योजना बनाई गई है।

इस ग्रंथमाला द्वारा पहली पुस्तक "गोम्मटेश्वर बाहुबली एवं श्रवणबेलगोल इतिहास के परिप्रेक्ष्य में" प्रकाशित हो रही है। सन् 1993 में सम्पन्न होने वाले महामस्तकाभिषेक के अवसर पर इस पुस्तक का विशेष महत्व है। इस ग्रंथमाला की दूसरी पुस्तक "बाल बोध जैन धर्म" पहला भाग मूडबिद्री के भट्टारक श्री चारुकीर्ति स्वामी जी करवा रहे हैं।

हम आशा करते हैं ग्रंथमाला प्रत्येक वर्ष जिनधर्म के प्रचार-प्रसार हेतु नवीन-नवीन ग्रंथ प्रकाशित करती रहेगी एवं जैन धर्म की प्रभावना में सहायक होगी।

प्रख्यात समाजसेवी एवं सिद्धहस्त लेखक श्री सतीश कुमार जैन ने "गोम्मटेश्वर बाहुबली एवं श्रवणबेलगोल इतिहास के परिप्रेक्ष्य में" पुस्तक को विशेष परिश्रम द्वारा प्रमुखतः आख्यानों एवं ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर लिखा है अतएव ग्रंथमाला इसके लिए उनकी विशेष आभारी है। आशा है यह रचना शोधकर्ताओं एवं पाठकों दोनों के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध होगी। इसमें सामग्री विशद रूप में प्रस्तुत की गई है।

मैं श्रीमती लाडा देवी सेठी को साधुवाद देता हूं जिन्होंने इस पुस्तक के प्रकाशन के लिये स्वीकृति दी। उनके स्वस्थ दीर्घायु की मंगल कामना करता हूं।

राजकुमार सेठी

संयोजक, लाडा देवी ग्रंथमाला

अक्तूबर 25, 1992

कलकत्ता

भूमिका

भगवान बाहुबली को अपनी स्वतंत्र वृत्ति, बल एवं पराक्रम, शरीर सौष्ठव तथा घोर तपस्या के कारण जैन धर्मावलम्बियों में विशेष आदर प्राप्त है। श्रवणबेलगोल की अद्वितीय, विशाल, एक प्रस्तरीय मूर्ति ने तो उन्हें देश-विदेशों में पूजित किया है। श्रवणबेलगोल भी इस कारण प्रसिद्ध एवं वन्दनीय हुआ है। उनके पिता भगवान ऋषभदेव एवं ज्येष्ठ भ्राता चक्रवर्ती भरत का इस रचना में वर्णन प्रासांगिक तो है ही वह मान्यताओं पर आधारित प्राचीनतम जैन इतिहास पर भी सामग्री प्रस्तुत करता है।

जैन मान्यताओं के अनुसार कालचक्र अवसर्पिणी एवं उत्सर्पिणी में विभक्त है। कालचक्र के ऊपर उठते हुए छः आरे उत्सर्पिणी तथा नीचे उतरते हुए छः आरे अवसर्पिणी कहलाते हैं। उत्सर्पिणी में वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, संहनन, संस्थान, आयुष्य, शरीर, सुख आदि में क्रमशः उन्नति होती जाती है। अवसर्पिणी में इनमें क्रमशः अवनति होती जाती है। अवसर्पिणी विभाजित है सुषमा-सुषम, सुषमा-दुषम, दुषमा-सुषम, दुषम एवं दुषमा-दुषम में। इसके विपरीत उत्सर्पिणी विभाजित है दुषमा-दुषम, दुषमा, दुषमा-सुषम, सुषमा-दुषम, सुषमा एवं सुषमा-सुषम में। अवसर्पिणी में सुषमा-सुषम, सुषमा एवं सुषमा-दुषम को भोगभूमि काल तथा दुषमा-सुषम, दुषम एवं दुषमा-दुषम को कर्मयुग कहा गया है।

भगवान ऋषभदेव वर्तमान अवसर्पिणी कालखंड के चौबीस तीर्थंकरों में से प्रथम हुए हैं, इसी कारण आदिनाथ भी कहलाए। उनका जन्म भोगभूमि काल के अंत होते, कर्मयुग के शैशव काल में हुआ। भोगभूमि काल वस्तुतः वृक्ष संस्कृति का समुन्नत काल था। सभी कुछ वृक्षों से ही प्राप्त होता था, इसी कारण वह विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के कारण दस प्रकार के कल्पवृक्षों में विभाजित थे।

कर्मयुग के शैशवकाल में जब स्वयमेव प्राप्त होने वाले उपभोग सुख में न्यूनता आनी आरंभ हुई तो उससे जीवनयापन सम्बंधी समस्याओं का उत्पन्न होना स्वाभाविक था। भगवान ऋषभदेव से पूर्व चौदह कुलकरों ने उन समस्याओं के समाधान सुझाए एवं समाज को संगठित किया। उनके द्वारा कुल व्यवस्था का जन्म, संगठन एवं विकास हुआ, इस कारण वे कुलकर कहलाए। वे आवश्यकतानुसार आदेश, निर्देश देते थे, मर्यादाएं निर्धारित करते थे और व्यवस्था देते थे इस कारण मनु भी कहलाए। उन्हीं की सन्तान होने के कारण हम मानव कहलाए।

भगवान ऋषभदेव के पिता नाभिराय, चौदहवें अंतिम कुलकर हुए। उनके समय तक मौखिक दण्ड-नीति हाकार ('हा' अर्थात अपराध पर खेद), माकार (ऐसा मत करो), धिक्कार (तिरस्कार) प्रचलित हो चुकी थी। तीसरे काल अर्थात भोगभूमि और कुछ-

कर युग के साथ वास्तविक प्रागऐतिहासिक युग समाप्त हो जाता है और अनुश्रुति गम्य इतिहास (प्रोटो हिस्ट्री) युग आरम्भ हो जाता है । आने वाले उस नवीन युग के प्रमुख नेता होते हैं 24 तीर्थंकर तथा गौण नेता होते हैं 39 अन्य महापुरुष (12 चक्रवर्ती, 9 वासुदेव (नारायण), 9 प्रतिवासुदेव (प्रतिनारायण) तथा 9 बलदेव (बलभद्र) । यह सब मिलकर त्रेसठ शलाका पुरुष कहलाते हैं ।

ऋषभदेव के समय से कुलकर व्यवस्था का अंत हुआ । वे पिता नाभिराय द्वारा घोषित कर्मयुग के प्रथम नरेश बने । उनका राज्याभिषेक हुआ । राजधानी अयोध्या से वे धर्मपूर्वक राज्य कार्य देखते थे । उन्होंने जीवन के लिए आवश्यक षट-कर्म तथा 72 कलाओं का ज्ञान दिया । विश्व की प्राचीनतम ब्राह्मी लिपि का आविष्कार किया एवं अंक विद्या को जन्म दिया ।

उनकी दो रानियों में से प्रथम यशस्वती से भरत आदि सौ पुत्र एवं एक पुत्री ब्राह्मी तथा दूसरी रानी सुनन्दा से पुत्र बाहुबली एवं एक पुत्री सुन्दरी उत्पन्न हुए । यह मान्यता बल पकड़ती जा रही है कि इन चक्रवर्ती सम्राट भरत के नाम पर ही इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा है ।

भगवान ऋषभदेव ने राज्य-सुख भोगकर मुनि दीक्षा ली । अपने त्याग, तप, संयम एवं ज्ञान से सभी जीवों के लिए अध्यात्म मार्ग प्रशस्त किया एवं मोक्षगामी हुए । वे सर्व पूजित थे । प्रथम तीर्थंकर के रूप में वे अत्यंत वन्दनीय हैं । भारत के अनेक भागों में उनकी वैविध्यपूर्ण मूर्तियां प्राप्त होती हैं, जो उनके प्रति असीम भक्ति का प्रमाण हैं ।

उनके चक्रवर्ती पुत्र भरत एवं दूसरे पुत्र बाहुबली से अनेक आख्यान संशलिष्ट हैं । जहां सम्राट भरत के शौर्य एवं अनासक्त भाव का वर्णन हुआ है, वहीं महाबली, स्वतन्त्र वृत्ति के शासक तथा उसके उपरान्त बने त्यागी, परम तपस्वी बाहुबली का भी मार्मिक वर्णन हुआ है । सम्राट भरत के अखंड चक्रवर्तित्व की स्थापना के सन्दर्भ में दोनों भाइयों भरत एवं बाहुबली का अहिंसक युद्ध विशेष चर्चित हुआ है । आख्यान उपलब्ध होते हैं कि बाहुबली के राज्य त्याग एवं कठोर तपस्या को चिरस्थायी रूप देने के लिए भरत ने उनकी 500 धनुष ऊंची मूर्ति का पोदनपुर (वर्तमान तक्षशिला के निकट) में निर्माण कराया । आचार्य जिनसेन द्वारा रचित आदिनाथ पुराण में इन सब का विशद अलंकारिक भाषा में वर्णन हुआ है । वहीं से जुड़ता है प्रमुखत: इस कृति का कथानक, कि 10वीं शताब्दी में गंगवंश के शासक राचमल्ल चतुर्थ के सेनापति एवं अमात्य चामुंडराय की माता काललादेवी ने जैनाचार्य अजितसेन से आदि पुराण से बाहुबली की उपरोक्त 500 धनुष ऊंची मूर्ति के विषय में सुनकर उसके दर्शन की इच्छा व्यक्त की । यद्यपि वहां जाना तो परिवार के लिए सम्भव नहीं हुआ किन्तु माता की इच्छा पूर्ति के लिए दक्षिण में पूर्व मैसूर राज्य में श्रवणबेलगोल में विंध्यगिरि पहाड़ी (इन्द्रगिरि) पर संसार की सबसे सुन्दर एक प्रस्तरीय 57 फीट ऊंची मूर्ति का निर्माण एवं उसके पश्चात उसकी सन्

981 में प्रतिष्ठा चामुण्डराय ने सम्पन्न की। उसी से जुड़ जाता है श्रवणबेलगोल नगर एवं उसकी प्रसिद्ध दूसरी पहाड़ी चन्द्रगिरि (पूर्व नाम कटवप्र एवं कालबप्प) का मौर्य-कालीन प्राचीन इतिहास भी।

चन्द्रगुप्त मौर्य (राज्यकाल जैन मान्यतानुसार ईस्वी पूर्व 371-360 एवं वर्तमान इतिहासकारों के अनुसार ईस्वी पूर्व 322-298) ऐतिहासिक सम्राट हुए हैं। उनके गुरु एवं मगध में मौर्य साम्राज्य के संस्थापक चाणक्य इतिहास प्रसिद्ध विद्वान एवं प्रसिद्धतम कूटनीतिज्ञ हुए हैं जिन्होंने विदेशी आक्रमणों से सुरक्षा हेतु सुसंगठित भारत राष्ट्र की कल्पना की एवं उसे साकार किया। उपराजधानी उज्जयिनी से शासन कार्य देखते समय सम्राट चन्द्रगुप्त ने जैनाचार्य अंतिम श्रुतकेवली स्वामी भद्रबाहु के वहां अपने विशाल संघ सहित प्रवास के समय उनसे मुनि-दीक्षा ली थी। वहां दुर्भिक्ष पड़ने की आशंका से स्वामी भद्रबाहु ने शिष्य चन्द्रगुप्त तथा अन्य जैन मुनियों के संघ सहित दीर्घ यात्रा कर श्रवणबेलगोल की कटवप्र पहाड़ी (वर्तमान चन्द्रगिरि) पर प्रवास किया, तपस्या की एवं वहीं से भद्रबाहु गुफा में उनका समाधि मरण हुआ। इन सब के वर्णन के साथ-साथ सम्बद्ध किया है उस समय का समकालीन इतिहास तथा उस समय भारत के उत्तरी क्षेत्रों में यूनानियों द्वारा आक्रमण, मगध के नन्दवंशीय शासकों की बढ़ती अप्रियता, स्वामी भद्रबाहु द्वारा जैन धर्म की प्रभावना, चाणक्य (विष्णुगुप्त) के जन्म एवं शिक्षा, चन्द्रगुप्त मौर्य के जन्म एवं चाणक्य द्वारा उनके शिक्षित होने से लेकर मगध में विशाल मौर्य साम्राज्य की स्थापना तक की गाथाओं को भी। अधिक से अधिक बहुश्रुत एवं ऐतिहासिक सामग्री का संकलन कर उसे इस कृति में देने का प्रयास किया गया है।

मेरी सुसंस्कृत माता धार्मिक विचारों वाली महिला हैं। अब 90 वर्ष की आयु में भी शारीरिक एवं मानसिक रूप से पूर्ण रूपेण चेतन। देशाटन विशेषकर जैन तीर्थों का दर्शन करना उन्हें सदैव प्रिय रहा है। उसमें अधिकतर मैं उनके साथ रहा हूं। बाल्य-काल से ही इस प्रकार तीर्थ-स्थलों, स्मारकों, ऐतिहासिक व पुरातात्विक महत्व के स्थलों के देखने एवं उनके छायांकन में मेरी रुचि पनपती रही है। सौभाग्य से वन मंत्रालय के 32 वर्ष के दीर्घ सेवाकाल में भी मुझे वन-निरीक्षण के समय वहीं पर स्थित अथवा समीपस्थ हिन्दू एवं जैन स्थापत्यों, गुहा-मन्दिरों, स्मारकों तथा मूर्तियों को देखने का सुअवसर मिलता रहा है, जिससे उन स्थानों के विषय में अधिक जानने की इच्छा बल-वती होती रही है।

सन 1976 में विस्तृत भारत भ्रमण के समय दक्षिण के भी सभी राज्यों में जाने तथा स्मारकों को देखने का अवसर मिला। श्रवणबेलगोल में भी दो दिन के प्रवास में गोम्मटेश्वर बाहुबली की दिव्य, स्मितमयी 57 फीट ऊंची आकर्षक देह यष्टि सहित मूर्ति को देखकर चमत्कृत हुआ। बाल्यकाल से जिस मूर्ति के दर्शन की कामना मन में संजोए हुए था उसे सम्मुख देखकर श्रद्धा एवं जिज्ञासा में और अधिक वृद्धि

हुई । वह उस स्थान के विषय में अधिक समझने के लिए बहुत अपर्याप्त समय था । वहां के जैन मठ के मठाधीश युवा कर्मयोगी चारुकीर्ति स्वामी जी से वार्तालाप से, जो भली प्रकार पूर्व परिचित हैं, इस मूर्ति एवं स्थान की बसदियों, (मन्दिरों) स्मारकों आदि के विषय में विस्तार से लिखने की प्रेरणा प्राप्त हुई । उसके पश्चात् वहां दो प्रवास और हुए और छायाकंन तथा सामग्री संकलन व लेखन का कार्य प्रगति करता रहा । इस विशाल मूर्ति के सहस्त्र वर्ष पूर्ण होने के उपलक्ष में फरवरी 1981 में सम्पन्न भव्य महामस्तकाभिषेक आयोजनों को देखना जीवन की चिर-स्मरणीय घटना बनी । जीर्णोद्धार द्वारा वहां की बसदियों तथा स्मारकों की कायापलट ने बहुत प्रभावित किया । उस समय श्रवणबेलगोल, मूर्ति तथा स्मारकों के विषय में जानकारी देने वाली विशेष सामग्री का प्रकाशन मेरे लिए बहुत उपयोगी रहा । दिल्ली में तो इस से सम्बंधित पुस्तकों का अध्ययन निरन्तर चल ही रहा था । सेवा से निवृत्त होने से पूर्व 1986 में इस सम्पूर्ण अंचल, विशेषकर सभी स्थानों पर निर्मित ऊंची बाहुबली मूर्तियों (कारकल, वेणूर, धर्मस्थल, गोम्मटगिरि, आदि) को देखने का सुअवसर मिला । समय भी अब पर्याप्त था, चर्चाओं द्वारा ज्ञान वृद्धि तथा सामग्री संकलन का कार्य प्रगति पर रहा ।

श्रवणबेलगोल तथा उसके अंचल में 573+27 शिलालेख उपलब्ध हैं । 573 पूर्व के ज्ञात हैं, 27 विगत वर्षों में ज्ञात हुए हैं । यह 600 शिलालेख श्रवणबेलगोल नगर, विन्ध्यगिरि, चन्द्रगिरि तथा समीपस्थ स्थानों में मूर्तियों के पादपीठों, मन्दिरों, स्तम्भों, चट्टानों आदि पर उत्कीर्ण हैं। इन्हीं शिलालेखों पर उपलब्ध साहित्य ने प्रमुखतः इस पुस्तक के कुछ परिच्छेदों के लेखन के लिए आधार सामग्री प्रस्तुत की है ।

यह शिलालेख छठी-सातवीं शताब्दी से आरम्भ होकर 19वीं शताब्दी तक दक्षिण के अनेक राज्य वंशों के काल में उत्कीर्ण हुए हैं । इनमें सबसे महत्वपूर्ण है छठी-सातवीं शताब्दी में उत्कीर्ण शिलालेख क्रमांक 1 (एक) जो चन्द्रगिरि पर पार्श्वनाथ बसदि के दक्षिण की ओर वाली शिला पर पूर्व कन्नड लिपि में उत्कीर्ण है । 981 ईस्वी में गोम्मटेश्वर मूर्ति की प्रतिष्ठा से लगभग 400 वर्ष पूर्व यह उत्कीर्ण किया हुआ है । लेख में सरस काव्य में घटनाओं व दृश्यों का सजीव चित्रण हुआ है । इससे ऐतिहासिक आधार मिला है आचार्य भद्रबाहु के मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त की उपराजधानी उज्जयिनी में प्रवास, उस क्षेत्र में पड़ने वाले 12 वर्ष के दुर्भिक्ष, उनके अपने विशाल संघ सहित कटवप्र (चन्द्रगिरि) पहाड़ी पर पहुंचने, भद्रबाहु स्वामी के वहां सल्लेखना व्रत द्वारा समाधि-मरण होने एवं उनके पश्चात् 700 अन्य जैन साधुओं का भी वहां से समाधि मरण होने का । इस शिलालेख के अतिरिक्त इन शिलालेखों में सातवीं शताब्दी के 54, 8वीं शताब्दी के 20, नवीं शताब्दी के 10 तथा दसवीं शताब्दी के 76 शिलालेख वहां उत्कीर्ण हैं, जो प्राचीन होने के कारण ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं ।

सन् 1163 में उत्कीर्ण शिलालेख क्रमांक 71 में स्वामी भद्रबाहु को अन्तिम श्रुतकेवली एवं चन्द्रगुप्त मौर्य को उनका शिष्य कहा गया है। अन्य शिलालेख भी जैन धर्म की प्राचीनता एवं जनप्रियता को ऐतिहासिक रूप से सिद्ध करते हैं।

इन 600 शिलालेखों में से बहुत अधिक शिलालेख दक्षिण के गंग वंश, राष्ट्रकूट वंश, होयसल वंश, विजयनगर साम्राज्य एवं मैसूर के वोडेयर राजवंश के काल में उत्कीर्ण हुए हैं। इन शिलालेखों में इन वंशों के शासकों, अमात्यों, सेनापतियों, श्रेष्ठियों, जैनाचार्यों, जैन मन्दिरों एवं स्मारकों के निर्माण तथा मन्दिरों की व्यवस्था के लिए दान आदि का विवरण है।

प्रस्तुत पुस्तक लेखन में मेरा प्रयास यह भी रहा है कि इन शिलालेखों के माध्यम से दक्षिण में जैन धर्म के प्रचार-प्रसार का क्रमबद्ध इतिहास पाठकों को संक्षिप्त रूप में प्राप्त हो सके। "श्रवणबेलगोल एवं उसके अंचल के शिलालेख" नाम का छठा परिच्छेद इस कारण अपेक्षाकृत विस्तृत है।

इन शिलालेखों से सम्बन्धित खोज एवं उनके संकलन का कार्य सर्वप्रथम एक अंग्रेज विद्वान मि० बी० एल० राइस ने किया, जिन्हें सन् 1880 में मैसूर राज्य के पुरातत्व विभाग का अंशकालिक निदेशक नियुक्त किया गया था। उन्होंने 22 वर्ष के सेवाकाल में 8869 शिलालेखों का संकलन किया। उन्होंने इन शिलालेखों को लिप्यन्तरण एवं अंग्रेजी में अनुवाद सहित एपिग्राफिया कर्नाटिका नामक पुस्तक के बारह भागों में प्रकाशित कराया। भाग दो में केवल श्रवणबेलगोल एवं उसके अंचल के शिलालेखों का संकलन है। सन 1906 में मि० राइस के सेवा निवृत होने पर श्री रामानुजापुरम नरसिंहाचार्य ने उस पद पर अपने 16 वर्ष के सेवाकाल में 5000 और शिलालेखों की खोज की। उनके द्वारा संकलित शिलालेखों सहित जब एपिग्राफिया कर्नाटिका भाग दो का सन् 1973 में परिवर्द्धित संस्करण प्रकाशित हुआ तब उसमें श्रवणबेलगोल एवं उसके अंचल में प्राप्त 573 शिलालेखों का संकलन हुआ। इन शिलालेखों का स्थान, कालक्रम राजवंशानुसार वर्गीकरण पुस्तक के अंत में दिए गए परिशिष्टों में किया गया है। वस्तुतः एपिग्राफिया कर्नाटिका भाग दो के अध्ययन द्वारा ही इस पुस्तक में दक्षिण राजवंशों के काल में जैन धर्म एवं संस्कृति के प्रचार-प्रसार विषयक सामग्री का दिया जाना सम्भव हुआ है।

भाषा उपन्यास शैली की शब्दाडम्बर तथा अंलकारपूर्ण नहीं है। मुख्यतः सन्दर्भ लेखों के लिखते रहने के कारण अधिक से अधिक सामग्री देने की प्रवृत्ति बन गई है। पुस्तक में उपन्यास एवं इतिहास लेखन की सम्मिश्रित शैली का उपयोग किया है।

पुस्तक की पान्डु लिपि तो दो-तीन वर्ष से तैयार पड़ी थी। किन्तु सामाजिक कार्य का भार अधिक होने के कारण इसके प्रकाशन की ओर ध्यान ही नहीं गया। कुछ माह पूर्व श्री राजकुमार सेठी, कलकत्ता से, जो सुपरिचित समाजसेवी हैं, इसके प्रकाशन

के विषय में चर्चा हुई और उन्होंने इसको लाडा देवी ग्रन्थमाला के अंतर्गत प्रकाशित करने में प्रसन्नता व्यक्त की। श्री राजकुमार सेठी एवं उनकी मातुश्री दोनों ही धार्मिक, सामाजिक वृत्ति के हैं। पुस्तक प्रकाशन के लिए उन दोनों के प्रति आभार।

आभारी तो मैं अपनी पत्नी शान्ता रानी का भी हूं जिन्होंने मेरे अत्यधिक व्यस्त सेवाकाल, अब तक के बहुत अधिक व्यस्त सामाजिक जीवन एवं अब लेखन वृत्ति की अतिरिक्त व्यस्तता को भी न केवल धैर्यपूर्वक सहन किया है बल्कि उसमें सहायक रही है।

श्रद्धेय श्री अक्षय कुमार जी के अनुसार सन्दर्भ पुस्तक के रूप में यह कृति दक्षिण में जैन धर्म के प्रसार, मन्दिर, मूर्ति कला आदि पर यदि शोधार्थियों को अधिक शोध एवं लेखन के लिए आकृष्ट करेगी तो मेरा परिश्रम सफल होगा।

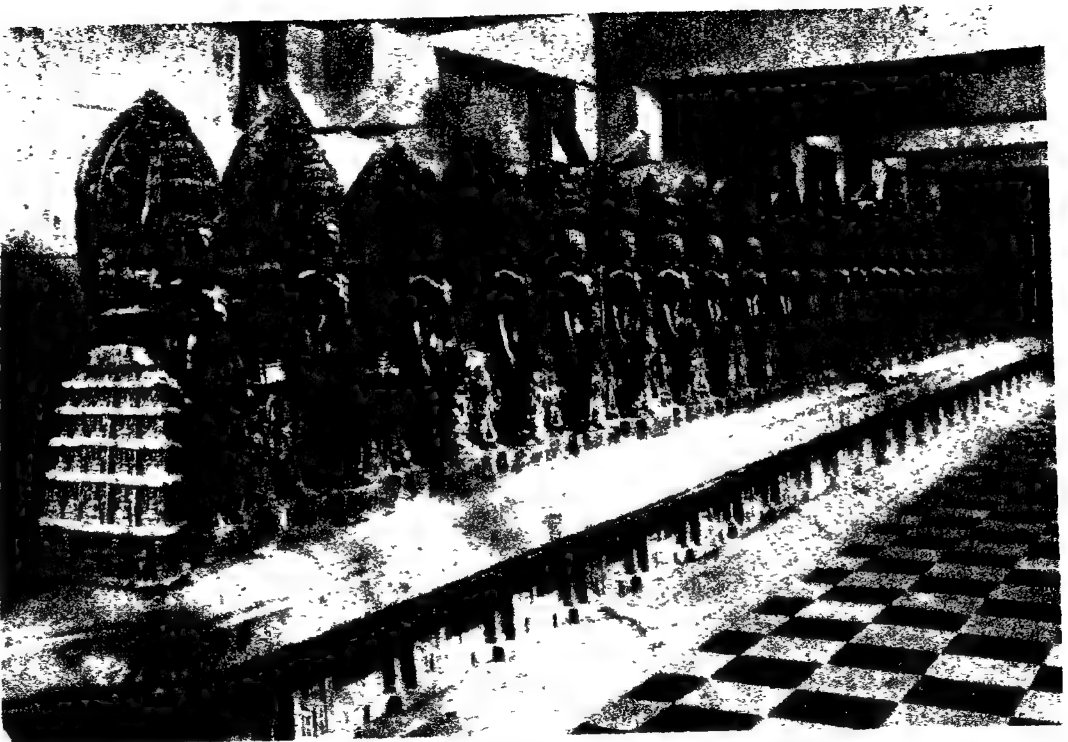
नई दिल्ली
अक्तूबर 30, 1992

सतीश कुमार जैन

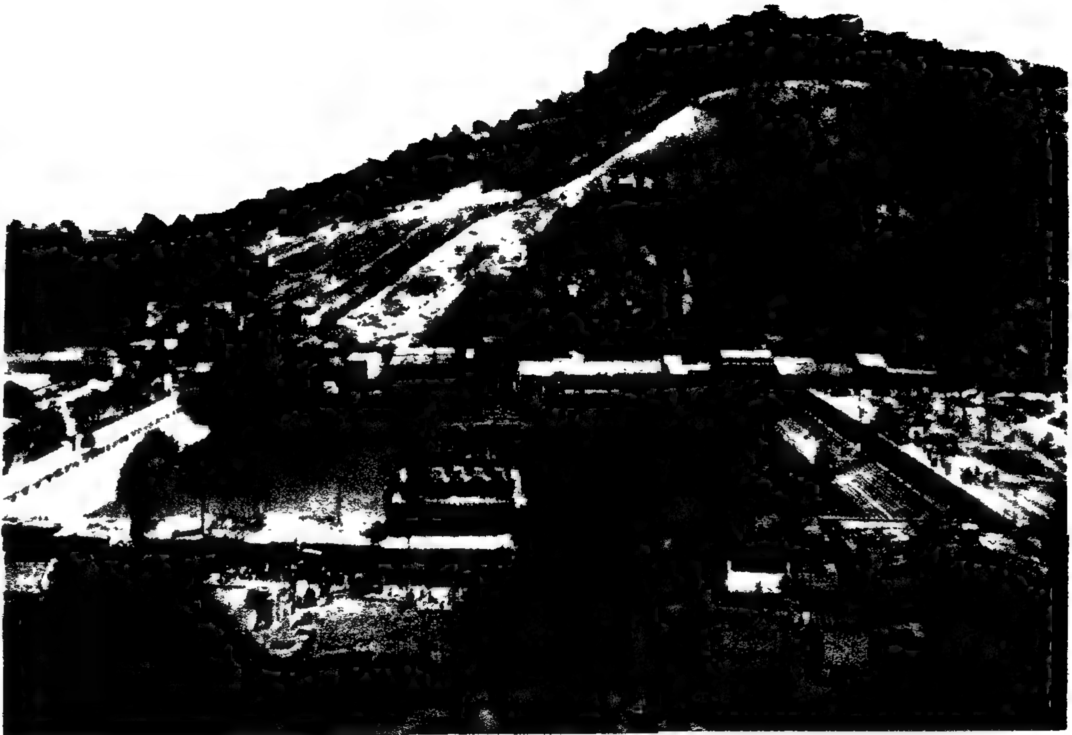
अनुक्रमिका



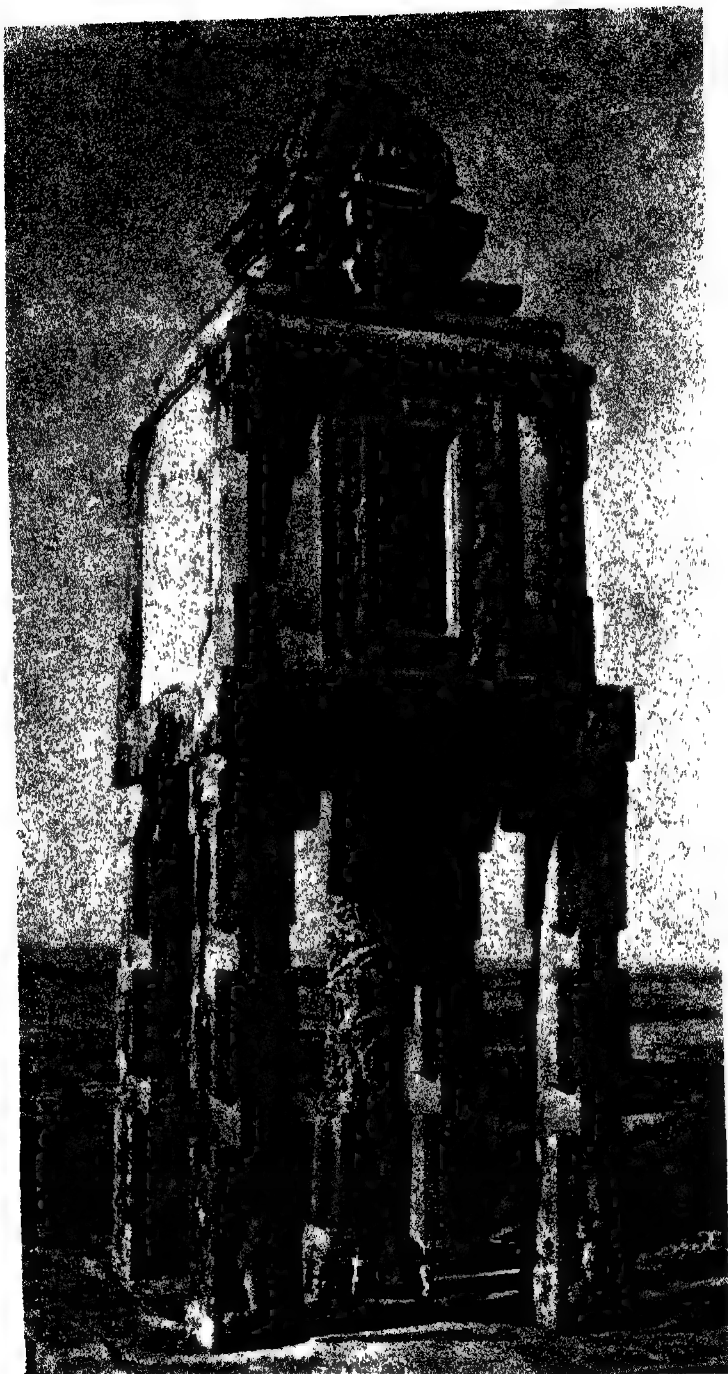
भंडारी बसदि एवं मानस्तंभ (श्रवण बेलगोल)



चौबीस तीर्थंकर (भंडारी बसदि – श्रवण बेलगोल)



विंध्यगिरि (इन्द्रगिरि) एवं कल्याणी सरोवर



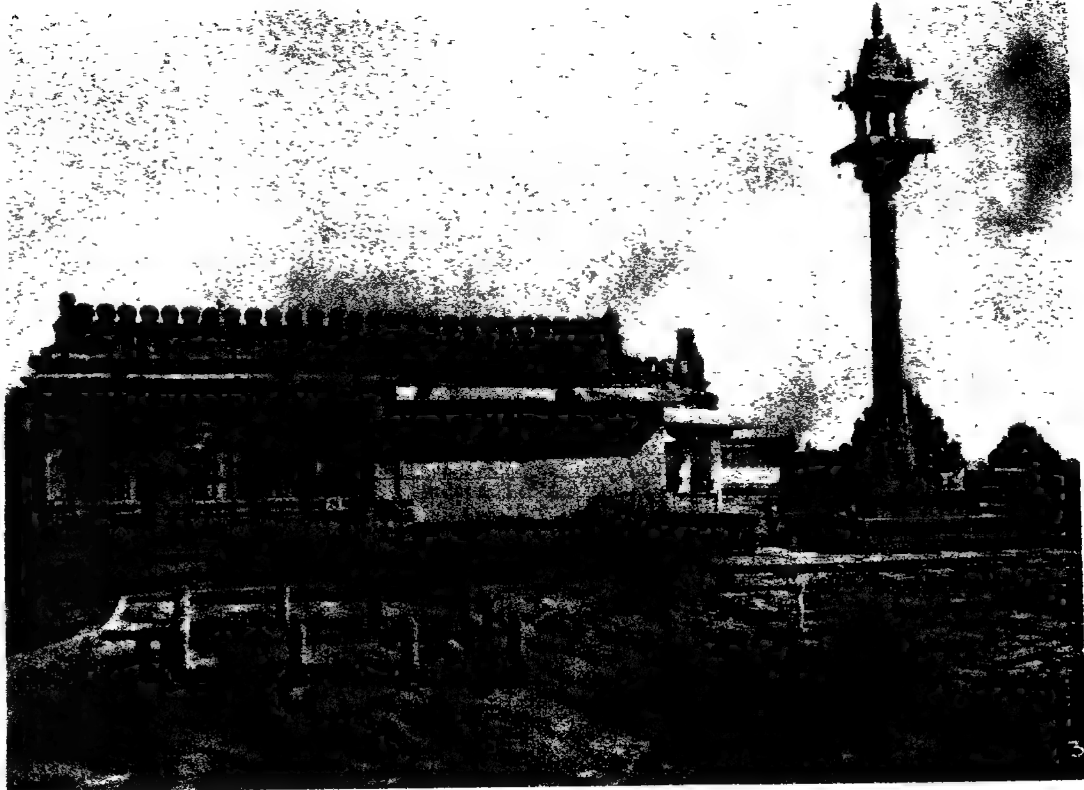
त्यागद ब्रह्मदेव स्तंभ (विंध्यगिरि)



सिद्धर बसदि (विंध्यगिरि)



भगवान पार्श्वनाथ (चामुण्डराय बसदि - चन्द्रगिरि)



पार्श्वनाथ बसदि (चन्द्रगिरि)



चन्द्रगुप्त बसदि (चन्द्रगिरि)



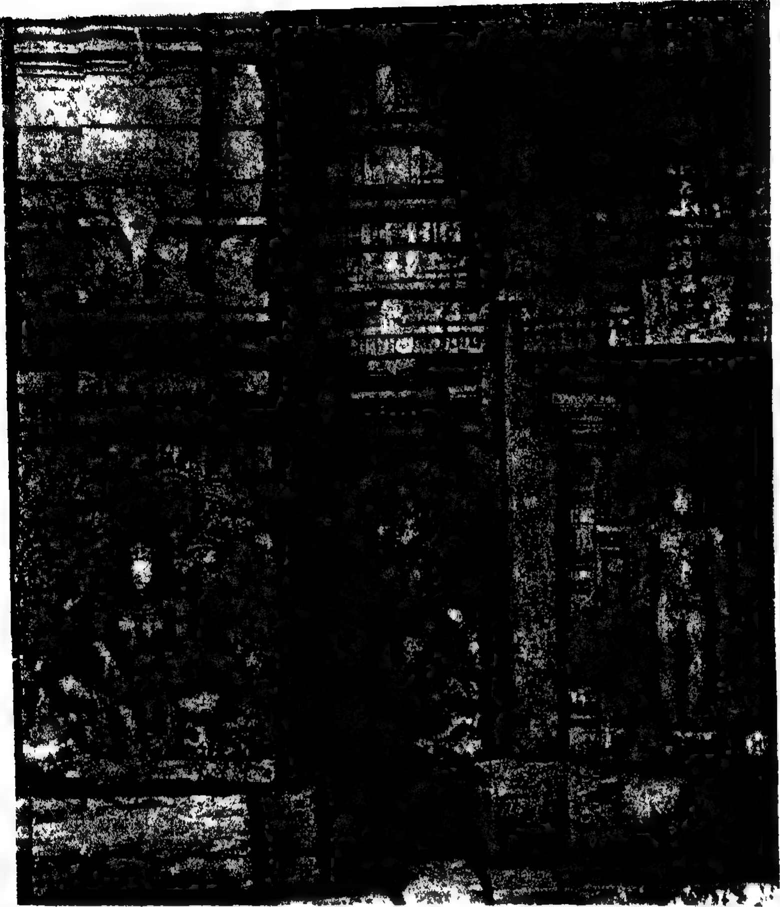
चामुन्डराय बसदि (चन्द्रगिरि)



मुनि भरत (भरतेश्वर - चन्द्रगिरि)



स्वामी भद्रबाहु गुफा (चन्द्रगिरि)



शांतिनाथ बसदि - जिननाथपुर (समीप श्रवण बेलगोल)

9

तीर्थंकर ऋषभदेव

दिव्यता, भव्यता एवं उत्कृष्ट कला का यदि एक ही मूर्ति में समुच्चय हो जाये तो निस्सन्देह उसे एक उत्कृष्ट कृति कहा जाएगा। यह सत्य हुआ है कर्नाटक राज्य के हासन जिले में प्रसिद्ध जैनतीर्थ श्रवणबेलगोल में विन्ध्यगिरि पर्वत पर भूरे श्वेत वर्ण के ग्रेनाइट पाषाण की 57 फीट ऊंची गोम्मटेश्वर बाहुबली की एक ही शिला से निर्मित विश्व की सबसे सुन्दर ऊंची मूर्ति में। प्रतिदिन बड़ी संख्या में भारतीय एवं विदेशी पर्यटक वहां आते हैं और मूर्ति के दिव्य स्मित, अंग सौष्ठव तथा अप्रतिम कला सौन्दर्य से अभिभूत हो सभी के मुख से अनायास निकल पड़ता है "अद्‌भुत, आश्चर्यजनक !" शिल्पी द्वारा मूर्ति का निर्माण अत्यन्त नपे-तुले ढंग से किया गया है। भारतीय मूर्तिकला की श्रेष्ठता का यह मूर्ति प्रतीक बन गई है।

बाहुबली वर्तमान कालचक्र के चौबीस तीर्थंकरों में से प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव अथवा आदिनाथ के पुत्र थे। ऋषभदेव कब उत्पन्न हुए वह समय वर्तमान इतिहास की पकड़ से बहुत-बहुत परे है। जैन मान्यताओं के आधार पर वह प्राग-ऐतिहासिक काल से भी बहुत-बहुत अर्वाचीन काल माना जाता है।

काल की अपेक्षा से जो सामूहिक परिवर्तन होता है उसे क्रम ह्रासवाद या क्रम विकासवाद कहा जाता है। जिस काल में उन्नति एवं सुख की दशा घटती जाती है उसे अवसर्पिणी कहते हैं और जिस काल में उन्नति एवं सुख की दशा बढ़ती जाती है उसे उत्सर्पिणी कहते हैं। अवसर्पिणी में वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, संहनन, संस्थान, आयुष्य, शरीर, सुख आदि पदार्थों की क्रमशः अवनति होती है। उत्सर्पिणी में इन पदार्थों की क्रमशः उन्नति होती जाती है। यह अवनति तथा उन्नति समूह की अपेक्षा से होती है, व्यक्ति की अपेक्षा से नहीं। अवसर्पिणी की चरमसीमा ही उत्सर्पिणी का प्रारम्भ होता है और उत्सर्पिणी का अंत ही अवसर्पिणी काल को जन्म देता है। इसी क्रम से यह कालचक्र चलता रहा है। जैन धर्म के अनुसार यह दोनों ही काल चक्र छः छः आरों में विभक्त हैं। कालचक्र के ऊपर उठते हुए आरे उत्सर्पिणी कहलाते हैं और नीचे उतरते हुए अवसर्पिणी। अवसर्पिणी विभाजित है (1) सुषमा सुषम (2) सुषमा (3) सुषमा-दुषम (4) दुषमा-सुषम (5) दुषम, एवं (6) दुषमा-दुषम में। इसके विपरीत

उत्सर्पिणी विभाजित है (1) दुषमा-दुषम, (2) दुषमा, (3) सुषमा-सुषम (4) सुषमा-दुषम, (5) सुषमा एवं (6) सुषमा-सुषम में। इस प्रकार अवसर्पिणी काल में सुख की अवस्था एक काल से दूसरे में घटती जाती है और उत्सर्पिणी काल में एक काल से दूसरे में बढ़ती जाती है। वर्तमान अवसर्पिणी काल के पांचवें पर्व-दुषम अथवा पंचम काल में हम जी रहे हैं। षष्टम पर्व अर्थात दुषमा-दुषम में स्थिति और भी दुखतर होगी।

हमारा कालचक्र सुषमा-सुषम से आरम्भ हुआ, जिस समय सब ओर सुख ही सुख था। भूमि स्निग्ध थी। वर्ण, गन्ध, रस एवं स्पर्श अत्यन्त मनोहर एवं सुखकर थे। पदार्थों के स्निग्ध होने के कारण उस काल में थोड़ा सा भी खा लेने से तृप्ति हो जाती थी। तीन दिन में एक बार थोड़ी सी वनस्पति खाने से ही तृप्ति हो जाती थी। खाद्य पदार्थों के अप्राकृतिक न होने के कारण शरीर में विकार लगभग नगण्य थे और इसी कारण जीवनकाल बहुत लम्बा होता था। अकाल मृत्यु होती ही न थी। दूसरा पर्व सुषमा आरम्भ हुआ तो सुख में कुछ न्यूनता आई। पदार्थों की स्निग्धता में भी न्यूनता आई। भोजन की आवश्यकता दो दिन के अन्तर से होने लगी। तीसरे पर्व सुषमा-दुषम में सुख मे और न्यूनता आई। इस काल के अन्तिम चरण में भूमि एवं पदार्थों में स्निग्धता बहुत कम हो गई। भोजन भी एक दिन में एक बार आवश्यक होने लगा। पूर्ण प्राकृतिक जीवन मे व्यवधान आने के कारण कृत्रिम व्यवस्था का प्रादुर्भाव हुआ और उसमें कुलकर व्यवस्था का जन्म हुआ।

कर्मयुग का यह शैशव काल था। समाज संगठन अभी आरम्भ नहीं हुआ था। विवाह की भी व्यवस्था नही बनी थी। युगल रूप में मानव उत्पत्ति होती थी। माता-पिता की मृत्यु से दो-तीन माह पूर्व एक युगल उत्पन्न होता था और पति-पत्नि जैसे संबंधों का निर्वाह करते हुए जीवन लीला समाप्त करता था। जनसंख्या उस समय बहुत कम थी। जीवन की आवश्यकताएं बहुत ही सीमित थीं। निर्माण अथवा कृषि-युग आरम्भ नहीं हुआ था। न वस्त्र बनते थे और न ही आवास-गृह। उस समय न कोई स्वामी था और न कोई सेवक। उस समय के व्यक्ति सहज एवं शांत स्वभावी होते थे। शस्त्र एवं शास्त्र दोनों से ही वह अनभिज्ञ थे।

इस वर्तमान अवसर्पिणी के प्रथम तीनों कालों में जीवन अत्यन्त सरल, स्वच्छ, स्वतन्त्र एवं प्राकृतिक था। मनुष्य शान्त एवं निर्दोष था। कोई संघर्ष अथवा द्वन्द नही था। इसी कारण कोई मानवकृत व्यवस्था भी नहीं थी।

उपरोक्त तीनों कालों को जैन मान्यताओं में भोग-भूमि काल कहा गया है। पृथ्वी पर वृक्षों का बाहुल्य था। निर्माण अथवा कृषि-युग आरम्भ नहीं हुआ था। उन वृक्षों से ही उनकी जीवनयापन संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति होती थी। मन से जो चाहते वह इन वृक्षों से प्राप्त हो जाता था। इसी कारण वह कल्पवृक्ष कहलाए। कल्पवृक्ष दस प्रकार के थे, गृहांग, भोजनांग, पात्रांग, वस्त्रांग, भूषणांग, मालांग, मद्यांग, तूर्यांग, ज्योतिरंग तथा तेजांग। जिन वृक्षों से आवास की सुविधा प्राप्त होती

थी वह कहलाते थे, "गृहांग"। जो वृक्ष क्षुधा पूर्ति में सहायक होते थे वह कहलाते थे "भोजनांग"। जिन वृक्षों से पात्र व आसन की संतुष्टि होती थी उन्हें कहते थे "पात्रांग"। वस्त्र सुख देने वाले वृक्ष आते थे "वस्त्रांग" की श्रेणी में। शृंगार के लिए सामग्री प्रदान करने वाले वृक्ष थे "भूषणांग"। जिन पौधों-वृक्षों से मालाओं के लिए सुगंधित पुष्प प्राप्त होते थे वह थे "मालांग"। ऐसे वृक्ष जिनसे मस्ती लाने वाले पेय प्राप्त होते थे वह कहलाए "मद्यांग"। जिन वृक्षों से संगीत की तृप्ति होती थी वह कहलाते थे "तूर्यांग"। अंधकार में उजाला रखने वाले वृक्ष थे "ज्योतिरंग"। "तेजांग" वह वृक्ष थे जो गर्मी एवं सर्दी से बचाते थे।

वास्तव में वह वृक्ष संस्कृति का समुन्नत काल था। वृक्ष ही वृक्ष। वृक्षों-पौधों पर ही जीवन आधारित था। क्योंकि अधिक इच्छा एवं उसके लिए अधिक परिश्रम दोनों ही उस काल में अधिक नहीं होते थे, इस कारण जीवन की साधारण आवश्यकता संबंधी सामग्री वृक्षों से ही प्राप्त हो जाती थी।

तृतीय अथवा "सुषमा-दुषम" काल के अन्त होते-होते सुख के साथ दुःख की आशंका हो चली, दु:ख विभिन्न रूपो में आभासित होने लगा। कल्पवृक्षों में फल कम होने लगे, उनका रस सूखने लगा। आवश्यकता पूर्ति के साधन कम हुए तो दूसरी ओर जनसंख्या में वृद्धि हुई एवं जीवन की आवश्यताएं भी बढ़ीं। लोभ एवं संग्रह प्रवृत्ति का उदय हुआ और उनसे जनित चिन्ता तो फिर अवश्यम्भावी थी।

अपराधी मनोवृत्ति का बीज अंकुरित होने लगा। अपराध एवं अव्यवस्था के उदय ने उन्हें एक नई व्यवस्था के निर्माण की प्रेरणा दी। उसके फलस्वरूप 'कुल' व्यवस्था का विकास हुआ। लोग 'कुल' के रूप में संगठित होकर रहने लगे। चिन्ताओं एवं समस्याओं के उदय के साथ अव्यवस्थित समाज को ऐसे नेता की आवश्यकता हुई जो कुल की बागडोर को अपने हाथ में ले सके, उसे व्यवस्थित रख सके। इन नेताओं को कुलकर कहा गया। कुलकरों की संख्या तथा उनमें से कुछ के नाम अथवा क्रम के विषय में कुछ मतभेद है। बहुमान्य मत के अनुसार चौदह कुलकर हुए जिनके नाम थे प्रतिश्रुत, सन्मति, क्षेमंकर, क्षेमधर, सीमंकर, सीमंधर, विमलवाहन, चक्षुष्मान, यशस्वन, अभिचन्द्र, चन्द्राभ, मरुदेव, प्रसेनजित तथा नाभिराज। मनुष्य के जीवन में जैसे-जैसे बाधाएं आती गई उस युग के कुलकरों ने उन समस्याओं का समाधान किया। इन कुलकरों के नाम उनके विशेष कृतित्व का बोध कराते हैं। वह कुलों की व्यवस्था करते थे, अपने कुलों की सुविधाओं का ध्यान रखते थे तथा आपसी लूट-खसोट पर नियंत्रण रखते थे। वह शासन-तन्त्र का आदि रूप था। वे कुलकर आवश्यकतानुसार आदेश-निर्देश भी देते थे, मर्यादाएं निर्धारित करते थे और व्यवस्था देते थे, इसीलिए मनु भी कहलाते थे। उन्हीं की सन्तति होने के कारण इस देश के निवासी मानव कहलाए।

सर्वप्रथम कुलकर प्रतिश्रुत ने मनुष्यों को सूर्य एवं चन्द्रमा के उदय एवं अस्त होने जैसी प्राकृतिक घटनाओं का रहस्य बताया। चन्द्रास्त एवं सूर्योदय एक साथ पहली बार जब लक्ष्य में आये तभी से दिन और रात्रि का व्यवहार और वर्ष का प्रारम्भ माना जाने लगा। दूसरे कुलकर सन्मति ने नक्षत्रों एवं तारिकाओं का ज्ञान दिया। वह सर्वप्रथम ज्योतिर्विद थे। तीसरे कुलकर क्षेमंकर ने वन्य पशुओं से निर्भय रहना और उनमें से कुछ को पालतू बनाना सिखाया। चौथे कुलकर क्षेमंधर ने सिंह आदि हिंसक पशुओं से अपनी रक्षा करने के लिए दण्ड एव पाषाण आदि का उपयोग करना सिखाया। पांचवे कुलकर सीमंकर के समय तक अधिकतर कल्पवृक्ष नष्ट हो गए थे और जो बचे थे उनके स्वामित्व को लेकर झगड़े होने लगे थे, अतएव उन्होंने प्रत्येक कुल के अधिकार क्षेत्र की सीमा निर्धारित करके उन्हें संघर्षों से बचाया। इन पांचों कुलकरों ने भोगयुग के समाप्त होने तथा कर्मयुग के आगमन की पूर्व सूचना देते हुए अपने-अपने समय के मानव कुलों को परिवर्तित होती हुई परिस्थितियों के अनुकूल जीवनयापन का ज्ञान दिया। वे अपराधियों के लिए "हाकार" नीति का प्रयोग करते रहे, अर्थात अपराधी को केवल 'हा' कह देना ही पर्याप्त होता था। इसके अतिरिक्त किसी शारीरिक दण्ड की आवश्यकता नहीं होती थी। इतना कह देने मात्र से ही वह अपने दुष्कृत्य पर पश्चाताप करता था। भविष्य में अन्य अपराध न हो जायें उसके प्रति सचेष्ट हो जाता था।

छठे कुलकर सीमंधर ने जो कल्पवृक्ष शेष बचे थे उन पर वैयक्तिक अधिकार की सीमाएं निश्चित कर दीं। व्यक्तिगत सम्पदा की भावना का आरम्भ यहीं से हुआ समझा जा सकता है। सातवें कुलकर विमलवाहन ने हाथी आदि पशुओं को पालतू बनाकर बांधे रखना एवं सवारी आदि के लिए उनका उपयोग करना सिखलाया। आठवें कुलकर चक्षुष्मान ने मानव को सन्तान सुख प्राप्त करना सिखाया। उनके समय में युगलिया स्त्री-पुरुष अपनी युगलिया सन्तान को देखकर भी जीवित रहने लगे, उनकी मृत्यु सन्तान को देखने का आनन्द प्राप्त करने के पश्चात होने लगी। नौंवे कुलकर यशस्वन ने सन्तान से स्नेह करना और उनका नामकरण आदि करना सिखाया। दसवें कुलकर अभिचन्द्र ने बालकों का रोना चुप कराने, उन्हें खिलाने, लालन-पोषण आदि विषयक शिक्षा दी। छठे से लेकर दसवें कुलकर के समय में "हाकार" नीति के साथ "माकार" नीति का उपयोग हुआ, अर्थात "हा" के साथ "मा" (नहीं, मत करो) को कहने का दण्डस्वरूप प्रयोग हुआ।

ग्यारहवें कुलकर चन्द्राभ के समय में मौसम का प्रकोप मनुष्यों को सताने लगा। उन्होंने अतिशीत, तुषार एवं वायु के प्रकोप से बचना सिखाया तथा अन्य उपयोगी बातें भी सिखायीं। बारहवें कुलकर मरुदेव के समय में मेघ गर्जन और बिजली की चमक के साथ वर्षा आरम्भ होने के कारण जब मनुष्य भयभीत हुए तो उन्होंने बताया कि भोग-भूमि काल समाप्त होने वाला है और कर्मभूमि काल निकट है। उन्होंने मनुष्यों

को कर्म करने की शिक्षा दी। उन्होंने नाव बनवा कर नदी को पार करना तथा पहाड़ों पर चढ़ना भी सिखाया। तेरहवें कुलकर प्रेसिनजित के काल में उत्पत्ति के समय सन्तान झिल्ली में लिपटी दिखाई देने लगी। उन्होंने उस झिल्ली को शुद्ध करने की विधि बताई एवं सन्तान का भली प्रकार पालन-पोषण करने की शिक्षा दी।

चौदहवें तथा अंतिम कुलकर थे नाभिराज। सन्तानोत्पत्ति के समय उन्होंने ही नाभिनाल काटने की विधि बताई। इसी कारण वह नाभिराज नाम से प्रसिद्ध हुए। समुन्नत शरीर, सुन्दर, विशिष्ट ज्ञानी तथा अनेक गुणों के धारक उन ऐश्वर्यमान कुलकर का युग एक संक्रांतिकाल था। वह भोगयुग के अन्त तथा कर्मयुग के प्रारम्भ का सन्धिकाल था। जब वह सिंहासन पर बैठे तब भोगभूमि काल था। कल्पवृक्षों से किसी प्रकार आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती थी, कबीलों में पारस्परिक सद्भाव होने के कारण अपराध वृत्ति का अभाव था। किन्तु उनके जीवन काल में ही भोगभूमि काल समाप्त हो गया। कल्पवृक्ष प्रायः समाप्त हो गए और नवीन वनस्पति धान्य, फल-फूल तथा विविध औषधियां एवं जीव उत्पन्न होने आरम्भ हो गए। कर्म के बिना अब अस्तित्व कठिन था। नये उपयोग और उनके लिए नवीन क्रियाओं की आवश्यकता थी। समस्याएं उत्पन्न हो रही थीं तो उनका हल भी चाहिए ही था। नाभिराज ने धैर्यपूर्वक उन समस्याओं का समाधान किया। उन्होंने कठिन परिश्रम कर इन कठिनाइयों पर विजय प्राप्त कर जीवन को जीने का मार्ग सुझाया। उन्हें "क्षत्रिय" कहा गया। उनके पुरुषार्थ से विषम परिस्थितियों में भी प्रजा को जीवनयापन संबंधी सुविधाएं प्राप्त हुईं। पुरुषार्थ जनित आशा के एक नवीन सद्युग की उन्होंने सृष्टि की। उन्होंने स्वतः उत्पन्न वनस्पतियों को क्षुधा निवारणार्थ उपयोग करना सिखाया। उनके नाम पर आर्यखण्ड का नाम "नाभिखण्ड" अथवा "अजनाभवर्ष" भी पड़ा। अनेक आचार्यों ने उनको उदयादि तथा उनकी पत्नी महारानी मरुदेवी को प्राचीदिशा कहा है, क्योंकि उनसे सूर्य जैसे तेजस्वी पुत्र तीर्थंकर ऋषभदेव का जन्म हुआ। चैत्र कृष्णा नवमी के दिन उनके जन्म स्थान पर अयोध्या नामक नगरी बसी।

अन्तिम चार कुलकरों के समय में दंड स्वरूप "धिक्कार" शब्द का भी प्रयोग होने लगा था। कुलकरों के काल में मनुष्य मर्यादा-प्रिय एवं स्वयंशासित थे। अतएव खेद-प्रदर्शन, निषेध एवं तिरस्कार अर्थ के शब्द उनको मृत्यु दण्ड से भी अधिक होते थे।

तीसरे काल अर्थात भोगभूमि और कुलकर युग के साथ वास्तविक प्राग-ऐतिहासिक युग समाप्त हो जाता है और अनुश्रुति गम्य इतिहास (प्रोटो हिस्ट्री) युग आरम्भ हो जाता है। आने वाले उस नवीन युग के प्रमुख नेता होते हैं 24 तीर्थंकर तथा गौण नेता होते हैं 39 अन्य महापुरुष (12 चक्रवर्ती, 9 वासुदेव (नारायण) 9 प्रतिवासुदेव (प्रतिनारायण) तथा 9 बलदेव (बलभद्र)। यह सब मिलकर त्रेसठ शलाका पुरुष कहलाते हैं।

ऋषभदेव से पूर्व किसी को अन्न उत्पन्न करने का ज्ञान नहीं था। उन्होंने

इक्षुदंडों के उपयोग की विधि बतलाई। उनसे रस निकालना सिखाया। इक्षुदंड स्वयं उत्पन्न थे, उनका उपयोग आहार के लिए सरल था। उन्होंने ही विधिपूर्वक कृषि करने की विधि का सूत्रपात किया जिसमे उस काल के व्यक्तियों की जीवन की मुख्य समस्या का समाधान हुआ। कच्चा अनाज खाने से जब मनुष्यों को पीड़ा होने लगी, वह दुष्पाच्य हो गया तो वे इस समस्या के समाधान के लिए ऋषभदेव के पास पहुचे। उन्होंने अनाज को हाथों से घिसकर खाने के लिए बतलाया। कुछ समय पश्चात जब वह विधि भी असफल होने लगी तो ऋषभदेव ने अनाज को आग से पकाकर खाना सिखाया। उनके आरम्भिक काल में 'स्निग्ध' काल होने के कारण अग्नि उत्पन्न नहीं हुई किन्तु समय बीतने पर जब काल 'स्निग्ध-रूक्ष' बना तब वृक्षों की टकराहट से अग्नि उत्पन्न हुई। पाषाणों की टकराहट से सूखी पत्तियों पर विशेषत: आग उत्पन्न की जाने लगी। उन्होंने पात्र-निर्माण और पाक-विद्या भी सिखायी। भोजन की समस्या अब लगभग हल हो चुकी थी।

उनकी संस्कृति कृषि प्रधान बनी। उससे प्रजा को धनोपार्जन भी हुआ। वह सम्पन्न तथा समृद्ध हुई। कृषि करने का मुख्य साधन था वृषभ (बैल)। उन्होंने उसकी प्रतिष्ठा पर सबसे अधिक बल दिया। यहां तक कि अपने को 'ऋषभदेव' कहलाना भी गौरव की बात माना। प्रजा की अनिष्ट से रक्षा करने तथा जीवनयापन के लिए लौकिक कर्मों का ज्ञान देने के लिए उनका "परदेव" नाम भी सार्थक हुआ।

उन्होंने असि (युद्ध), मसि (लेखन), कृषि (खेती) वाणिज्य (व्यापार), विद्या (शास्त्ररचना, नृत्य, गायन) और शिल्प (हस्तकला, चित्रकला आदि) लौकिक षटकर्मो का तथा योग विद्याओं का ज्ञान दिया। उन्होंने ज्ञान, ध्यान, तप, संयम आदि द्वारा मोक्ष प्राप्त किया एवं अन्य को भी उसकी प्राप्ति का मार्ग दिखलाया।

ऋषभदेव के समय से कुलकर व्यवस्था का अन्त हुआ। वह पिता नाभिराज द्वारा घोषित कर्मयुग के प्रथम नरेश बने। उनका राज्याभिषेक हुआ। राजधानी अयोध्या से ऋषभदेव धर्मपूर्वक राज्य कार्य देखते थे। उनकी दो रानियों में से प्रथम यशस्वती से भरत आदि सौ पुत्र एवं एक पुत्री ब्राह्मी तथा दूसरी रानी सुनन्दा से पुत्र बाहुबली एवं एक पुत्री सुन्दरी उत्पन्न हुए। जैन मान्यताओं के अनुसार भारतवर्ष का नाम इन्हीं भरत से पड़ा है। धरती में नुकीली धार वाले फलके से आघात करके बीज बोने की विधि बतलाकर उन्होने कृषि को जन्म दिया। अस्त्र-शस्त्र चलाकर निर्भय रहने के लिए प्रतिरक्षा के लिए युद्ध संबधी शिक्षा दी। लेन-देन द्वारा वस्तुओं की वाणिज्य पद्धति से मनुष्यों को परिचित कराया। व्याकरण के नियम, छन्द और काव्य रचने की विधि, गायन, नृत्य, नाट्य शिल्प, ढोल आदि बजाने की कला, सेना-संचालन, व्यूह-रचना, नगर एवं भवन निर्माण, नाप-तोल की विधि आदि 72 कलाएं उन्होने अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को सिखाई। छोटे पुत्र बाहुबली को ज्योतिष विद्या मे निपुण किया।

पुत्री ब्राह्मी को सिखाने के लिए एक लिपि का आविष्कार किया जो 'ब्राह्मी' लिपि कहलाई। आज भी विश्व में ब्राह्मी लिपि प्राचीनतम मानी जाती है। यह भी मान्यता है कि भारत और एशिया महाद्वीप की लिपियों में दिखाई देने वाली समानता इसी कारण है क्योंकि उनका विकास मूल ब्राह्मी लिपि से हुआ है। पुत्री सुन्दरी के लिए उन्होंने अंक विद्या को जन्म दिया तथा उसे 64 कलाओं में निपुण किया। समाज व्यवस्था के लिए उन्होंने मनुष्यों को उनके कार्य, रुचि एवं प्रवृत्ति के अनुसार क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र इन तीन वर्णों में विभाजित किया। यह वर्णभेद प्रतिष्ठा सूचक न था। मात्र कर्मभेद सूचक था। भारत देश भगवान ऋषभदेव द्वारा प्रदत्त विविध ज्ञान एवं क्रियाओं से उपकृत है। ऋषभदेव ने अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को अपना उत्तराधिकारी चुना। यह क्रम राज्यतंत्र का अंग बन गया। वह युगों तक विकसित होता रहा। लोक व्यवस्था का प्रवर्तन कर कर्तव्य बुद्धि से उन्होंने दीर्घकाल तक राज्य किया।

महाराजा ऋषभदेव ने सांसारिक वस्तुओं, शरीर आदि की क्षण-भगुंरता एवं अनित्यता का बोध होते ही राजपाट त्याग मुनि दीक्षा ले ली। हुआ यह कि एक दिन उनके दरबार में एक अत्यंत रूपसी एवं नृत्य प्रवीण अप्सरा नीलांजना नृत्य कर रही थी। सारी सभा उसके नृत्य कौशल पर मुग्ध थी। तीव्र नृत्य के मध्य यकायक नीलाजंना की देह लुप्त हो गई। लय की उसी गति में तनिक भी व्यवधान पड़े बिना इन्द्र ने मृत नृत्यांगना की दूसरी प्रतिचछवि सहस्रांश क्षण में ला उपस्थित की। केवल ऋषभदेव ही जान पाये अवसान की उस घटना को। इन्द्र ने ही यह सब कुछ माया जाल उन्हें दीक्षा के प्रति बोध कराने हेतु रचा था। सुख की उस घड़ी के मध्य ऋषभदेव शरीर के नाशवान स्वरूप को स्वयं देख चुके थे। मन में उमड़ते वैराग्य से वह राज्य त्याग करने का निश्चय कर चुके थे। सिंहासन से उठे तो मुनि दीक्षा का संकल्प पक्का हो चुका था। ज्येष्ठ पुत्र भरत को अयोध्या का राज्य सौंपा और कामदेव सरीखे सुन्दर, बलिष्ठ एवं स्वाभिमानी पुत्र बाहुबली को तक्षशिला के निकट पोदनपुर का स्वतंत्र राजा बनाया। अन्य 99 पुत्रों को भी शेष राज्य की सीमाएं बांटकर उन्होंने अपने कर्तव्य का निर्वाह किया।

गृहत्याग के पश्चात् मुनि-दीक्षा धारण कर लेने पर ऋषभदेव ने मोक्ष प्राप्ति के लिए कठिन तप किया। कई-कई महीने के उपवास किये, निराहार रहे। यहां तक भी हुआ कि समाज को उनको आहार देने की विधि ज्ञात न होने के कारण आरम्भ में एक वर्ष तक आहार प्राप्त ही न हो सका। जिस प्रकार से, जिस विधि से और जिस साधारण से भोजन का वह संकल्प लेकर मौन भाव से आहार के लिए निकलते वह पूरा न होने के कारण वह निराहार लौट आते। ऋषभदेव को अपने आहार संबंधी संयम का निर्वाह करते हुए एक वर्ष इसी प्रकार निराहार ही निकल गया। असीम नियंत्रण की स्थिति थी वह मुनिचर्या का निर्वाह करने के लिए इतने बड़े कष्ट को झेलने की। निराहार की स्थिति में एक वर्ष रहने के पश्चात् इक्ष्वाकु वंश के राजकुमार श्रेयांस को हस्तिनापुर में जब पूर्वभव के द्वारा आहार देने की विधि का ज्ञान हुआ तब वह गन्ने का

रस (इक्षु-रस) लेकर खड़े हुए और ऋषभदेव को विधिवत आहार के लिए आह्वान किया एवं पड़गाहा। विधि सम्पन्न होने पर ऋषभदेव का प्रथम आहार हुआ। प्रसन्नता की प्रतीक वह पुण्य तिथि एक धार्मिक दिवस के रूप में अक्षय तृतीया के नाम से प्रचलित है।

ध्यान, तपस्या एवं योग साधना के अंतिम चरण में भगवान ऋषभदेव कैलाश पर्वत पर विराजमान थे। समस्त कर्मों का क्षय करके वहां से ही उन्होंने निर्वाण पद प्राप्त किया, मोक्षगामी हुए और जीवन-मरण के सुख-दुख से सदैव के लिए मुक्त हो गए। स्वयं मोक्ष प्राप्त किया एवं अन्य को भी आवागमन के जंजाल से मुक्त होने के लिए अध्यात्म साधना एवं मोक्ष प्राप्ति का मार्ग दिखलाया। इस कारण वह आदि तीर्थंकर भी कहलाए।

२

भरत चक्रवर्ती सम्राट एवं अनासक्त योगी

पिता ऋषभदेव ने दीक्षा लेने से पूर्व ज्येष्ठ पुत्र भरत को अनेक विद्याओं एवं कलाओं की शिक्षा देकर उन्हें पृथ्वी के पालन-पोषण का भार सौंपा। उन्हें अयोध्या का शासक बनाया। उनका सुन्दर कन्या पान्यजनी से विवाह किया। वे विनीत, उदार तथा क्षत्रिय गुणों से युक्त शासक थे। श्रीमद्भागवत् के अनुसार वे परम भागवत अर्थात् भगवद् भक्त भी थे।

अयोध्या से राज्य करते हुए सम्राट भरत का समय सुखपूर्वक बीत रहा था। एक दिन राज्य सभा में बैठे हुए एक के पश्चात एक तीन शुभ समाचार संदेशवाहक लाए। धर्माधिकारी के संदेशवाहक ने आकर भगवान ऋषभदेव के केवलज्ञान प्राप्त करने की शुभ सूचना दी। दूसरी सूचना में भरत भावी युवराज के उत्पन्न होने की सूचना सुनकर मन में नाच उठे। आनन्द की सीमा न रही। महल में जाकर नवजात पुत्र को देखने के लिए वह अधीर हो गए। तीसरा समाचार भी उतना ही आनन्दकारी था। आयुधशाला के अधिपति ने आकर हर्ष से सूचित किया कि आयुधशाला में चक्ररत्न प्रकट हुआ है, उनके चक्रवर्तित्व का चिह्न। पिता का केवलज्ञान धर्म पुरुषार्थ की सार्थकता व सिद्धि थी। चक्ररत्न' की उत्पत्ति में उनका भावी पुरुषार्थ प्रकट हो रहा था और पुत्र की उत्पति में अभिव्यक्त हुआ था भरत का काम पुरुषार्थ।

भरत प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ के समवशरण में गए। उनके दर्शन एवं धर्मोपदेश से अपने को पवित्र किया। उसके उपरांत राजप्रासाद में जाकर शिशु को निहार कर स्वयं मुदित हुए तथा पत्नी को प्रसन्न किया। उसके पश्चात् आयुधशाला में जाकर दैवी प्रभा से दीप्त 'चक्ररत्न' की पूजा की। चक्रवर्तित्व का वह प्रेरणा-प्रतीक पूजनीय था। इन प्रसन्नताओं के फलस्वरूप राजा भरत ने जैसा आनदोत्सव मनाया वह अपने में अपूर्व था। दरिद्रों को इतना अधिक दान दिया कि प्रतीत होता था कि उनके राज्य से दरिद्रता ही समाप्त हो गई है। भरत की आयुधशाला में धीरे-धीरे छत्र, दंड, असि आदि रत्न भी प्रकट हो गए।

चक्रवर्ती सम्राटों के लिए जिन उपलब्धियों का प्राप्त होना लिखा है उनमें चक्ररत्न की प्राप्ति भी एक है। वह नव-निधियों एवं चौदह रत्नों के स्वामी हो गए।

दिशाजय अर्थात समुद्र सहित दिशाओं में पृथ्वी पर दिग्विजय करने के लिए निकलते समय 'चक्ररत्न' आगे रहता है। चक्रवर्ती की विजय कामना को सूचित करते हुए दंड भी साथ-साथ रहता है, विरोध के प्रति आतंकित रखने के लिए, विरोधियों को निरुत्साहित करने के लिए।

चक्ररत्न साधन है चक्रवर्तित्व प्राप्त करने का। वह स्वयं में चक्रवर्तित्व नहीं है, यह भरत को ज्ञात हो चुका था। बल एवं पराक्रम द्वारा दिग्विजय के उपरान्त ही वह चक्रवर्ती सम्राट बन सकते थे। उसके लिए परिश्रम आवश्यक था। अनेक नरेशों को अपने अधीन करने के लिए वह शरदऋतु में विशाल सैन्य दल, हाथी एवं घोड़ों के साथ दिग्विजय के लिए निकल पड़े। दिव्य 'चक्ररत्न' आगे-आगे चल रहा था और उसके पीछे 'दण्ड रत्न'। नगाड़े के गम्भीर प्रस्थान घोष के साथ मंगलमय वस्त्राभूषण उन्होंने धारण किए हुए थे। सिर पर मुकुट, कानों में कुन्डल, वक्ष पर कौस्तुभ मणि, घुटनों तक लटकते हुए ब्रह्मसूत्र एवं मस्तक के ऊपर छत्र से वह सुशोभित थे। उनके रथ में जुते अश्व वायु की गति वाले थे। सुदक्ष सारथी रथवाहक था। सेना में सबसे आगे थे पदाति, उसके पीछे अश्वारोही और उसके पीछे था रथों एवं हाथियों का समूह।

सर्वप्रथम सेना ने प्रस्थान किया पूर्व की ओर। उस दिशा में अनेक वन-प्रान्तरों को पार करती हुई उनकी विशाल सेना गंगा नदी के समीप तक आ पहुंची। जिस प्रकार प्रवाहमान थी वह वेगवती नदी उसी वेग से और आगे बढ़ता रहा भरत का सैन्य दल। विजय की घोषणा करते हुए पूर्व में, फिर पूर्व से समुद्र के किनारे-किनारे दक्षिण की ओर, फिर दक्षिण से होते हुए पश्चिम में।

जिधर से भरत का चक्र निकलता वहां का अधिपति अथवा नरेश उनकी आधीनता स्वीकार करता जाता। जो नरेश भरत का प्रतिरोध करने का विचार मन में लाते उनकी सेना की विशालता एवं दिव्य अस्त्रों का तेज उनके विरोध संकल्प को तोड़ देता। नियति से बंधी हुई उनकी वह दिग्विजय-यात्रा चलती रही देश में चतुर्दिश। सभी नगर, जनपद एवं राज्य उनके विशाल साम्राज्य के अंग बनते जा रहे थे। चक्रवर्तित्व साकार होता जा रहा था।

कहा जाता है कि अनेक दिशाओं में विजय प्राप्त करने के पश्चात् दिग्विजय के अंतिम चरण में जब भरत का चक्र उत्तर में विजयार्द्ध पर्वत के वृषभाचल शिखर की ओर बढ़ा तो किंचित मात्र स्वरूप उनके मन में उस सबसे उत्तुंग एवं दुरुह शिखर पर अपनी प्रशस्ति उत्कीर्ण करने की तीव्र लालसा उत्पन्न हो गई। वह चाहते थे कि जो महान वह हैं, जो लोकोत्तर उपलब्धियां उन्होंने प्राप्त की हैं उसका आलेख युग-युगान्तर तक स्थायी रहे। आने वाली पीढ़ियों को भी ज्ञात रहे कि आदि तीर्थंकर ऋषभदेव का पुत्र सम्राट भरत ही वह प्रथम चक्रवर्ती हुआ है जिसने कठिन एवं दुर्गम प्रदेशों में भी अपनी अपरिमेय शक्ति एवं विशाल सेना के बल पर इन दुरुह शिखरों

तक पहुंचकर जयपताका फहराई है। प्रशस्ति आलेख उत्कीर्ण करने के लिए भरत तथा शिल्पी ने शिखर पर उपयुक्त स्थल को खोजने का प्रयास किया किन्तु यह क्या! उस शिखर की किसी भी शिला पर कोई भी ऐसा स्थान शेष नहीं था जिसपर किसी न किसी पूर्व चक्रवर्ती की प्रशस्ति न लिखी हो। भरत के अहं को यह एक आघात था। उनको समझने में देर न लगी कि कालक्रम से उत्पन्न होते रहने वाले चक्रवर्तियों की श्रृंखला में वह भी एक हैं, अब तक हुए इतने अधिक चक्रवर्तियों के पश्चात् एक और। दीर्घ अतीत में इतने अधिक चक्रवर्ती उत्पन्न हो चुके हैं, इतने अधिक विजेता इन दुर्गम स्थानों की यात्रा कर वहां अपनी प्रशस्ति अंकित कर गए हैं कि पूरा शिखर ही उन जय-गाथाओं से भरा पड़ा है। यह सब स्वयं देखकर उनका अहं गलित हो गया। वह सोचने पर विवश हुए कि सागर के अथाह जल में उनका अस्तित्व भी एक बूंद के समान ही है। किन्तु इसको देखकर भी वह खिन्न ही हुए सर्वथा निराश नहीं। अपनी यशोगाथा लिखने के लिये, अपने महान कुल का उल्लेख करने के लिए वह कृतसंकल्प थे। किसी पूर्ववर्ती चक्रवर्ती की लघु प्रशस्ति को मिटा कर जो कुछ उन्होंने वहां पर अंकित कराया उसका सार यह था कि वह चारों दिशाओं की पृथ्वी के स्वामी हैं, सौ पुत्रों में से ज्येष्ठ हैं, समस्त विद्याधरदेव एवं भूमिगोचरी राजाओं को उन्होंने झुकाया है, भगवान ऋषभदेव के वह चरमशरीरी पुत्र अत्यन्त बुद्धिमान व्यक्ति हैं, वीर हैं, तथा उस युग के चक्रवर्तियों में हैं, उनके पास कल्पनातीत विशाल सेना है, छः खंडों से सुशोभित पृथ्वी का वह पालन करते हैं, उनका निर्मल यश समस्त दिशाओं में व्याप्त है, आदि। अलंकार युक्त भाषा में लिखित उस प्रशस्ति पर सेनापति ने चन्दन, रोली एवं अक्षत चढ़ा कर उसके स्थायित्व की कामना की। भरत ने भी चावल के कुछ दाने उस पर प्रक्षेपित किए।

पृथ्वी की परिक्रमा समाप्त होने पर अयोध्या में प्रवेश करने से पूर्व चक्रवर्ती भरत ने कैलाश पर्वत पर जाकर पूज्य आदिनाथ तीर्थंकर के दर्शन किए, उनकी पूजा की। उनके मन को बहुत शांति मिली। अब तक अनेक वर्षों का दिग्विजय का जीवन भागदौड़ का रहा था, युद्धों में वैसे भी शांति उन्हें कहां मिल पाई थी, भले ही विजय सदैव ही निश्चित रही थी।

दिग्विजय के पश्चात् सम्राट भरत के राजधानी अयोध्या वापिस लौटने के समाचार ने शासन-तंत्र एवं नगर निवासियों को अपूर्व उल्लास से भर दिया। नगर को दुल्हन की तरह सजाया गया। नगर-प्राचीर के बाहर मुख्य पथ पर स्वागत-द्वार का निर्माण किया गया। विजय की गरिमा से गौरवान्वित, चक्रवर्तित्व की महिमा से मंडित जब भरत ने अयोध्या की सीमा में पदार्पण किया तो जनता उल्लास से उनके स्वागत के लिए उमड़ पड़ी। उनकी जयकार के घोष ने आकाश को गुंजा दिया। एक घटना से किन्तु सब स्तब्ध रह गए। गोपुरद्वार को पार करने से पूर्व ही चक्र स्वतः स्थिर हो गया। परिणामतः सेना एवं समस्त परिवार का भी राजधानी में प्रवेश

अवरुद्ध हो गया। सभी उपाय किये जाने पर भी वह विश्व चक्र वहां से टस से मस न हुआ। सम्राट, सेना एवं एकत्रित जनता के बाढ़ के समान उफनते हुए उल्लास को इस आकस्मिक घटना से आघात पहुंचा। सम्राट भरत गहरे सोच में डूब गए। बार-बार सोचने पर भी कोई स्पष्ट कारण उनकी समझ में नहीं आ रहा था। कोई नरेश, भू-भाग उनके विचार में शेष नहीं बचा था जो उनके अधीन न हो गया हो। जो चक्र विस्तृत भूखण्डों में नहीं रुका, विजयार्द्ध की दोनों दीर्घ गुफाओं में भी नहीं रुका, वह अपने घर के बाहर ही रुका हुआ है। इससे भरत खिन्न हो गए। किन्तु चक्रवर्ती का चक्र रुका है तो कोई कारण विशेष होना ही चाहिए। भरत ने ज्ञानी व्यक्तियों से मंत्रणा की तो बुद्धिसागर पुरोहित से ज्ञात हुआ कि जब तक प्रत्येक नरेश मन, वचन एवं कर्म से चक्रवर्ती के अनुशासन को स्वीकार नहीं करता, प्रतिरोध का संकल्प रखता है तब तक सम्पूर्ण विजय वह कैसे मानी जा सकती है। ऐसी अपूर्ण दिग्विजय के कारण चक्र राजधानी में कैसे प्रवेश कर सकता है। सार्वभौमिक विजय के पश्चात ही नियमानुसार उसका राजधानी में प्रवेश सम्भव हो सकेगा। विद्वान बुद्धिसागर ने यह भी स्पष्ट किया कि उनके अनुशासन से बाहर अब केवल उनके अपने ही बन्धु हैं। भाई बाहुबली व शेष 98 भाईयों ने तो अभी अधीनता स्वीकार की ही नहीं है। उल्लेख हुआ है कि भरत के एक भ्राता पुरताल के नरेश वृषभसेन इससे पूर्व ही भगवान ऋषभदेव से मुनि दीक्षा धारण कर उनके गणधर बन चुके थे। अतः उनके शेष 98 भाई ही राज्य कर रहे थे, दूसरी माता से उत्पन्न बाहुबली के अतिरिक्त।

बाहुबली एवं अन्य भाईयों को भी अधीनस्थ होना पड़ेगा भरत ने इसकी कल्पना तक भी नहीं की थी। दिग्विजय की सम्पूर्णता के लिए किन्तु यह आवश्यक था कि बाहुबली एवं 98 भाई भी अपने राज्य को भरत के चक्रवर्ती साम्राज्य के अंतर्गत मान लें, उनकी आधीनता स्वीकार लें। भरत एक अजब धर्म संकट की स्थिति में पड़ गए। परिस्थिति की अनिवार्यता के आगे अन्ततः वह विवश हो गए। 98 भाईयों तथा बाहुबली के पास अधीनता स्वीकार करने के लिए दूत भेजने के लिए अनमने भाव से उन्होंने स्वीकृति दे दी।

भरत के दूत पत्र लेकर जब 98 भाईयों के पास उपहारों सहित पहुंचे तब वे आश्चर्यचकित हो गए। भाई की ही अधीनता स्वीकार करें यह उनको सहज भाव से स्वीकृत न था। युद्ध भी किन्तु सहोदर से करना अथवा उनकी अवज्ञा करना वह कदापि नहीं चाहते थे। दूतों को तो भाई भरत के लिए उपहार आदि देकर उन्होंने सम्मान सहित विदा किया और धर्म-संकट की उस कठिन स्थिति में मार्ग-निर्देशन के लिए वे तीर्थंकर ऋषभदेव के दर्शन के लिए गए। प्रणाम करने के लिए भरत उन्हें बुलाते हैं इसमें कारण उनका मद है, अथवा मात्सर्य अथवा दिग्विजय की कामना यह उन्होंने भगवान ऋषभदेव से पूछा, उनसे समस्या का समाधान भी जानना चाहा। भगवान ऋषभदेव ने शान्त भाव से चक्रवर्ती के गुणों, चक्रवर्तित्व की आवश्यकताओं आदि से

98 राजपुत्रों को अवगत कराया। भरत के अधीन होने पर भी उनके प्रति पराजय भाव नहीं अपितु अग्रजरूप में स्नेह भाव रखने के लिए कहा। उनको यह भी समझाया कि जब तक नरेश श्रेष्ठ भरत के पुण्य का उदय है पृथ्वी का पालन उन्हें न्याय रूप से करना है, उसके लिए उनके प्रति क्रोध करना व्यर्थ है। ऋषभदेव ने उनको धर्म का उपदेश देकर धन, सम्पदा तथा राज्य की अस्थिरता के लिए समझाया तथा मुनि दीक्षा लेने के लिए प्रेरित किया। वह सभी भाई भगवान की वाणी से प्रभावित हुए। अपने पुत्रों के सिर पर राजमुकुट रख कर उन्हें भरत की अधीनता स्वीकार करने का निर्देश देकर भगवान ऋषभदेव के सम्मुख वह सभी उनसे दीक्षित हो गए।

अब सम्राट भरत के मन पर चिन्ता व्याप्त थी बाहुबली से भी अपनी श्रेष्ठता स्वीकार कराने की, दिग्विजय की सम्पूर्णता के लिए, राजधानी में चक्र के प्रवेश कराने के लिए। मन्त्रियों से परामर्श कर उन्होंने चतुर सुवेग नामक दूत को पत्र देकर भाई बाहुबली के सभागृह में उनके राज्य पोदनपुर में भेजा। सभागृह में बाहुबली ने भाई भरत द्वारा भेजे हुए दूत को सम्मानपूर्वक बुलाया और स्नेह से अपने समीप बैठाया। आरम्भ में बाहुबली के प्रभावशाली व्यक्तित्व, तेजस्वी रूप को देखकर दूत कुछ कहने का साहस न कर सका। किन्तु शीघ्र ही संयत होकर, साहस बटोरकर उसने मौखिक निवेदन द्वारा चतुराई पूर्वक सम्राट के शौर्य एवं गुणों का वर्णन करते हुए व्यक्त किया कि सम्राट भरत महान हैं, चक्रवर्ती सम्राट बनने का उनको योग प्राप्त हुआ है और भाईयों के स्नेह ने उनके मन को स्पंदित किया है। दिग्विजय से लौटने के पश्चात् उनका देवो-पुनीत चक्र राजधानी अयोध्या के द्वार पर रुका है। शेष 98 भाईयों ने उनके आदर का निर्वाह करते हुए उनके अनुशासन को स्वीकार किया है। उसी स्नेह एवं अनुशासन की अपेक्षा वह आप जैसे विवेकी, गुण-सम्पन्न तथा पराक्रमी अनुज से भी करते हैं। उसने यह भी स्पष्ट किया कि अग्रज ने जो उचित आज्ञा दी है वह अच्छी लगे या बुरी स्वीकार करने योग्य है। यदि कोई शत्रु चक्रवर्ती सम्राट को प्रणाम न करे तो वह युक्ति संगत हो सकता है किन्तु छोटे भाई द्वारा वैसा करना क्या युक्ति संगत होगा। उसका तो गौरव इसी में है कि बड़े भाई का चक्रवर्तित्व पूर्ण होने में सहायक हो जिससे कि अवरुद्ध चक्र राजधानी में प्रवेश कर सके। साथ ही साथ दूत ने निपुणता से अधीनता स्वीकार न करने की दशा में चक्र एवं दण्ड रत्नों के उपयोग में लाने की आवश्यकता का भी उल्लेख कर दिया। सब कुछ सुनकर बाहुबली ने दूत को जो कुछ उत्तर दिया वह एक भाई तथा एक स्वतंत्र शासक की गरिमा के अनुकूल है। उन्होंने कहा कि यह सौभाग्य की बात है बड़े भाई ने इस बेला में स्नेह से उनका स्मरण किया है। यदि वह दिग्विजय के निकलने से पूर्व सूचित करते तो उस विजय अभियान में उनका सहायक बनने का सौभाग्य उन्हें भी प्राप्त होता। यदि नगर-प्रवेश की पूर्व सूचना भी भाई भरत ने दी होती तो वह अवश्य ही नगरी के द्वार पर दिग्विजयी बंधु की अगवानी के लिए प्रस्तुत रहते। वह तब सत्य ही भ्रातृ-प्रेम की स्थिति बनती। किन्तु इस निमन्त्रण से तो भाई भरत का स्वार्थ-भाव ही झलकता है। वह निश्चय

हृदय से एक अग्रज का अनुज को सहज-स्वाभाविक स्नेह से भेजा गया संदेश कदाचित नहीं प्रतीत होता। चक्र अवरोध के कारण उत्पन्न समस्या से भेजा गया यह संदेश तो उनके स्वार्थ-भाव को प्रकट करता है किन्तु फिर भी वह आभारी हैं कि उन्होंने छोटे भाई को इस वेला में स्मरण तो किया है। इस सन्देश में लेकिन स्पष्टतया ही एक चक्रवर्ती सम्राट का एक सामान्य नरेश को उनके अधीन होने का, उनके अनुशासन में रहने का आदेश है।

चतुर दूत ने उत्तर दिया कि यदि उनका हृदय अग्रज के स्नेह से पूरित है तो वह निश्चित ही इस समस्या से सम्राट भरत को त्राण दिलवायें, विजयोल्लास में सहभागी बनें तथा भाई का अनुशासन स्वीकार करने में आपत्ति न करें। बाहुबली ने अग्रज भरत के प्रति आदर प्रदर्शित करते हुए कहा कि अग्रज तो सदैव ही प्रणम्य होते हैं, स्नेहशील होते हैं और उनका हृदय भी भरत के प्रति समान स्नेह से आप्लावित है किन्तु इस समय प्रश्न ही दूसरा है। वह एक शक्तिशाली सम्राट का एक सामान्य नरेश को विवशतापूर्वक चक्र एवं दण्ड का भय दिखलाकर अधीन करने का प्रयास है। किसी भी स्वाभिमानी नरेश को बल के आंतक से सिर झुकाने का प्रस्ताव कैसे प्रिय हो सकता है।

दूत का वाक-चातुर्य एवं कौशल किसी भी प्रकार बाहुबली को आश्वस्त न कर सका। उनका मन एक स्वतंत्र शासक के निराभिमान से, गर्व से दीप्त था तथा भाई के प्रति आदर एवं स्नेह से परिप्लावित। दूत के यह कहने पर कि महाराज यदि सम्राट भरत का यह आदेश उनको स्वीकृत न हुआ तो उसकी परिणति युद्ध में होगी तथा क्या वे चक्र एवं दण्ड के मारक प्रहार से तथा विशाल चतुरंगिणी सेना से अपनी सामान्य सेना की रक्षा कर सकेंगे, बाहुबली तड़प उठे। किन्तु उन्होंने क्रोध पर नियंत्रण रखकर उत्तर दिया कि उनका मस्तक न तो कभी अनीति के सम्मुख झुका है और न कभी झुकेगा। भय एवं आंतक से कोई कार्य करने की शिक्षा न कभी पिता ऋषभदेव ने ही और न कभी स्वयं भाई भरत ने ही दी फिर उसका प्रतिवाद कर वह स्वार्थवश इस समय ऐसी कामना क्यों रखते हैं। दूत के अंतिम उत्तर मांगने पर बाहुबली ने अधिक संयत होते हुए उत्तर दिया कि उन्हें अधीनस्थ नरेश के रूप में नहीं अपितु युद्ध-भूमि में वीरोचित रूप में भाई का स्वागत करने में तनिक भी संकोच नहीं होगा।

बाहुबली का दूत से संवाद निश्चित ही उनके उदात्त जीवन का एक विशिष्ट अंग है, जिससे उनका स्वाभिमान, संयम तथा एक स्वतंत्र शासक की गरिमा भली-भांति परिलक्षित हुए हैं।

बाहुबली ने सम्राट भरत की युद्ध की चुनौती अवश्य स्वीकार कर ली किन्तु प्रासाद तक आते-आते उनका मन अवसाद से भर गया। वह खिन्न-मन हो गए। पत्नि ने उदासी का कारण पूछा तो जो कुछ वार्तालाप भरत के दूत के साथ हुआ था कह सुनाया। वीर पत्नि ने पति को भय विमुक्त रहकर कर्तव्य पालन के लिए ही प्रेरित

किया। कितना भावुक था उस समय बाहुबली का उद्‌गार कि वह युद्ध अथवा भरत की विशाल सेना से होने वाले युद्ध के परिणाम से भयभीत अथवा दुखित नहीं हैं किन्तु जो कुछ उन्हें कचोट रहा है वह है उन्हीं भाई के विरुद्ध सेना तथा शस्त्र लेकर सन्नद्ध होना जिनके साथ वह बड़ी मां की गोद में बैठे हैं, जिनके स्नेह की वर्षा सदैव उनके ऊपर रही है। अब यह नियति की विडम्बना ही है कि परिस्थितियां उन्हीं के विरुद्ध शस्त्र उठाने के लिए विवश कर रही हैं। हम दोनों की मातायें जब हम दोनों के मध्य होने वाले युद्ध के विषय में सुनेंगी तो कैसा बीतेगा उन पर और क्या कहेगा लोक हम दोनों भ्राताओं की इस क्षुद्रता को। भाई भरत के प्रति उनके हृदय में असीम स्नेह था इसीलिए पत्नी से उन्होंने कहा कि यद्यपि सम्राट भरत के अहंकार को चूर करना ही उनका लक्ष्य होगा किन्तु उनका अनिष्ट अथवा पराभव वह कभी नहीं चाहेंगे। भूल से भी उनकी अथवा उनकी सेना से ऐसा कुछ नही होगा जिससे अकारण ही भरत के शरीर को क्षति पहुंचे।

बाहुबली के हृदय में एक ओर भाई भरत के प्रति असीम स्नेह एवं आदर था और दूसरी ओर थी स्वतन्त्रता के प्रति अपनी जन्म सिद्ध अधिकार भावना। भावना एवं कर्तव्य का प्रबल द्वन्द बाहुबली के अन्दर चल रहा था। उनका शरीर स्थिर था किन्तु मन प्रलय की लहरों जैसा अशान्त था। हृदय से वे न तो अग्रज की अवज्ञा करना चाहते थे और न ही किसी प्रकार की क्षति। किन्तु स्वाभिमान का प्रश्न, एक स्वतन्त्र शासक के अस्तित्व का कर्तव्य उनको युद्ध में जूझने के लिए विवश कर रहा था। धीर-गम्भीर होकर सोचने पर, कर्तव्य ने भावना पर विजय पाई। वह भाई द्वारा थोपे गए युद्ध का सामना करने के निश्चय पर दृढ़ रहे।

बाहुबली का सम्राट भरत की अधीनता स्वीकार करने का प्रतिरोध बड़े भाई के प्रति छोटे भाई की अवज्ञा नहीं है। वह एक स्वाभिमानी राजा का अपने स्वाभिमान तथा अपनी स्वतंत्र स्थिति को बचाये रखने का प्रश्न है। इसी कारण वह कहते हैं— "मेरे महर्षि पिता ने जो कुछ राज्य मुझे दिया है वह मेरा है, कौन है जो मेरे उस स्वतंत्र अधिकार का, मेरी धरती का अपहरण करना चाहता है। कौन है वह जो कहता है कि मैं भरत को प्रणाम करूं।" बाहुबली के ये शब्द दर्प के नहीं हैं। वस्तुतः उनके द्वारा प्रकट हुआ है एक स्वाभिमानी शासक का अपने पर आये संकट के प्रति सहज विक्षोभ।

भरत के अन्य भाईयों के समान वह पराजय भाव से उनकी अधीनता स्वीकार करने का औचित्य नहीं मानते थे। अपने स्वत्व एवं अधिकार की रक्षा के लिए संघर्ष न कर समर्पित कर देना अथवा दीक्षा ले लेना वह पलायनवादी भावना मानते थे, आध्यात्मिक भावना नहीं। उसे वह एक सशक्त हृदय की स्वतः उत्पन्न आध्यात्मिकता नहीं किन्तु भीरु एवं निर्बल हृदय की स्थितिजन्य एवं विवश आध्यात्मिकता मानते थे। उनके ज्ञानवान पिता ऋषभदेव मर्यादा की जो रेखा खींच गए हैं उसका किसी से

भी भंग किया जाना उन्हें सह्य नहीं था। उसका अतिक्रमण होने पर ही उनमें आक्रोश उत्पन्न हुआ दिखाई देता है, किन्तु उसमें बड़े भाई के प्रति अनादर हो ऐसा कुछ नहीं है।

बाहुबली की नैतिक मूल्यों में आस्था उनके प्रत्येक आचार से सिद्ध होती है। उनकी अपनी स्वयं की कोई आकांक्षा राज्य विस्तार करने की नहीं थी। भरत के राज्य-विस्तार में भी उनकी कोई रुचि नहीं थी। उनके हृदय में भाई की दिग्विजय भावना के प्रति कोई ईर्ष्या भी नहीं थी। वह एक उदार शासक के समान अपना धर्म निभाते थे। उन्होंने भरत के दूत का उचित स्वागत किया, उसे आदर दिया किन्तु उसके द्वारा सम्राट भरत का यह संदेशा दिये जाने पर कि वह उनकी दिग्विजय की सम्पूर्णता के लिए उनकी अधीनता स्वीकार कर लें, अपने स्वतंत्र अस्तित्व को नष्ट कर दें, उन जैसे निराभिमानी को सहन नहीं हुआ और वह अभ्यर्थना औचित्य का निर्वाह करते हुए भरत के अधीनता विषयक प्रस्ताव को अस्वीकार कर सम्राट भरत की विशाल सेना से युद्ध से किंचित मात्र भी भय न खाते हुए दूत को उत्तर देते हैं कि अपने आत्म-सम्मान की रक्षार्थ उन्हें वीरोचित रूप में भाई भरत की सेनाओं का भी सामना करना पड़ेगा तो वह उसके लिए निर्भीकतापूर्वक सन्नद्ध रहेंगे। भरत जिस दिव्य चक्र को अचूक मारक अस्त्र मानते थे और जिसका उल्लेख दूत ने चतुराईपूर्वक किया भी था वह उसे कुम्हार के चाक के समान मानते थे।

एक शासक को दूसरे शासक की अधीनता में रहना पड़े इस विचार को वह आत्मसात नहीं कर पाए। एक स्वतंत्र राजा जैसा गौरव उनको आल्हादित तथा दर्प से दीप्त रखता है। उनका वही दर्प जागृत हो उठता है जब दूत के चुनौती भरे प्रस्ताव को सुनकर वह कहते हैं "मैं कन्दर्प (कामदेव) हूं मैं दर्पहीन नहीं हो सकता।"

दूत से यह ज्ञात कर कि उनकी अधीनता भाई बाहुबली को स्वीकार्य नहीं है भरत मन से खिन्न हुए। भाई से भी युद्ध करना पड़ेगा यह विचार अब उन्हें व्यथित किये जा रहा था। जिसको हाथों खिलाया, गोदी में बैठाया उसी के विरुद्ध अब शस्त्र भी धारण करने पड़ेंगे, रक्तपात भी मचाना होगा उन्हें शूल की भांति वेदना दे रहा था। उनके हृदय की बात मुख्य सेनापति के सम्मुख इस प्रकार व्यक्त हुई "यदि भाई से ही युद्ध करना पड़े तो ऐसा चक्रवर्ती पद हमें अभीष्ट नहीं। यदि समस्या का शांतिपूर्ण समाधान सम्भव नहीं है तो जहां चक्र रुका है वहीं एक आयुधशाला का निर्माण किया जाये।" चतुर सेनापति ने व्यथित भरत को समझाया कि जो कुछ उन्हें करना पड़ रहा है वह उनकी व्यक्तिगत इच्छा के कारण नहीं है वह तो चक्रवर्तित्व की आवश्यकता का निर्वाह है। वह चक्रवर्ती के रूप में जन्मे हैं अतएव उसकी मर्यादा के अनुरूप कर्त्तव्यों का पालन भी आवश्यक है, पारिवारिक सम्बन्धों का उसमें निर्वाह नहीं है। इन तर्कों द्वारा भरत प्रकृतिस्थ हुए। उन्हें और अधिक सोचने के लिए बल मिला। हृदय में विभिन्न विचारों की उठती तरंगें उनके मुख पर भी प्रतिबिम्बित होने लगीं। अंत में

उनका घोर गम्भीर निश्चय गूंज उठा "यदि नियति को यही स्वीकार है, कर्त्तव्य की ऐसी ही अपेक्षायें हैं तो वह विवश हैं, भ्राता और पोदनपुर के शासक से युद्ध आवश्यक होगा।"

इसी संदर्भ में बाहुबली की माता सुनन्दा तथा भरत की माता यशस्वती के मध्य हुआ वार्तालाप उन दोनों के परस्पर स्नेह का सूचक है। यह सुनने पर भी कि भरत विजय अभियान के लिए पोदनपुर की ओर प्रस्थान करने वाले हैं सुनन्दा ने बाहुबली को ही अग्रज की अवज्ञा करने का दोषी ठहराया। प्रत्युत्तर में यशस्वती का कथन कि स्वतंत्रता से राज्य करने वाले बाहुबली का क्या दोष है, राज्य लिप्सा, चक्रवर्तित्व की कामना तो भरत को ही अभिभूत किये हुए है कितना मार्मिक है, कितना सत्य परक है। महत्वाकांक्षाओं के लिए वह पुत्र भरत की ही भर्त्सना करती हैं। कितना वात्सल्यपूर्ण था यशस्वती का महामंत्री से यह कथन "भरत एवं बाहुबली दोनों यशस्वती के ही पुत्र हैं। अपने सम्राट से कह देना कि पुत्र बाहुबली का पराभव और जननी का जीवन एक साथ ही अयोध्या की प्रजा नहीं देख पायेगी।" सम्भवतया इसी आदेश ने महामंत्री को दोनों भाइयों के मध्य परस्पर एवं अहिंसक युद्ध के लिए प्रेरित किया था।

दोनों ओर से युद्ध की तैयारियां होने लगीं। भरत के सेनापति ने मालव, मगध कुरु, लाट, कच्छ, सिन्धु, किरात आदि जनपदों के राजाओं को अपनी सेना सहित अयोध्या में उपस्थित होने के लिए संदेशवाहकों द्वारा आदेश भिजवा दिये। भरत की विशाल चतुरंगिणी सेना ने अधीनस्थ राजाओं के दल के साथ युद्ध के लिए पोदनपुर की ओर प्रस्थान किया। चक्र आगे-आगे चल रहा था। वहां से एक योजन चल कर बहली प्रदेश की सीमा पर गंगा के तट पर पड़ाव डाला गया। गंगानदी का तट युद्ध-स्थल के लिए निश्चित किया गया। भरत को सूचना मिली कि बाहुबली भी ससैन्य युद्ध के लिए सन्नद्ध हैं। बाहुबली ने पुत्र सिंहरथ को अपना सेनापति बनाया। सम्राट भरत ने अपने को विशिष्ट आयुधों से सज्जित किया। उन्होंने अगजजय नामक कवच पहना। गीर्वाणश्रृंगार नामक शिरस्त्राण, जय एवं पराजय नामक दो तूणीरों, त्रैलोक्यदंड नामक धनुष एवं दैत्यदावानल नामक खड्ग को धारण किया। तैयारियां पूर्ण होते ही दोनों ओर की सेनाएँ आमने-सामने आ डटीं। पोदनपुर की सेना यद्यपि भरत की सेना की तुलना में बहुत छोटी थी किन्तु स्वाधीनता की रक्षा हेतु उनका मनोबल ऊंचा था। इसके विपरीत भरत की सेना के अनेक सैनिक इस होने वाले युद्ध से खिन्न थे।

भरत के महामंत्री ने दोनों ओर के अमात्यों, सेनाध्यक्षों से विचार-विमर्श किया। उनको राजमाता यशस्वती की भावना से भी अवगत कराया। उन्होंने सुझाव दिया कि यदि केवल दोनों भाइयों के मध्य ही बल परीक्षण हो जाये तो युद्ध की विभीषिका टाली जा सकती है, दोनों ओर की सेनाओं का व्यर्थ संहार बच सकता है।

महामंत्री के उत्तम सुझाव का सभी ने समर्थन किया। सम्राट भरत को भी यह सुझाव उचित लगा। वह भी कब चाहते थे कि युद्ध की होलिका में सैनिकों के जीवन धूं-धूं करके जलें, विनाश की लीला अपना खेल खेले। उनको सुझाव युक्तिसंगत लगा। उन्होंने उस पर अपनी सहमति प्रदान कर दी। बाहुबली पर तो यह युद्ध थोपा ही जा रहा था। उन्होंने भी यह सुझाव सुना तो सहर्ष सहमत हो गये।

निश्चित हुआ कि दोनों के मध्य क्रम से दृष्टि-युद्ध, जल-युद्ध एवं मल्ल-युद्ध हो जाये और उनके परिणाम से ही विजय-पराजय का निर्धारण हो जाये। अगले दिन का दृश्य दोनों ओर के सैनिकों के लिए अत्यंत उत्सुकता का था। कितना विचित्र था वह दृश्य जब बाहुबली जो अबतक अग्रज के समक्ष नत-नयन हो रहे थे उनको घूर कर देखने के लिए, उनको पराजित करने के भाव से सन्नद्ध थे। दोनों पराक्रमी भाई अहिंसक युद्ध के लिए एक दूसरे के सम्मुख आ खड़े हुए। मंच के चारों ओर दोनों ओर के सेनाध्यक्ष, अमात्यगण एवं अन्य प्रमुख सैनिक बैठे थे। दृष्टि-युद्ध आरम्भ हुआ। इस युद्ध में विजय का निर्धारण इस बात से होना था कि एक दूसरे को नेत्रों से घूरने में किसकी पलकें पहले झपकती हैं। इस प्रथम युद्ध में विजय बाहुबली की हुई। भरत से अपेक्षाकृत उनकी ऊंचाई विजय में विशेष सहायक रही। भरत आंखों एवं ग्रीवा को उठाकर देखते थे तो बाहुबली को भारत को घूरने में अपेक्षाकृत कम श्रम करना पड़ता था। भरत प्रथम पराजय से खिन्न हुए किन्तु शेष दो युद्धों में विजय की आशा शेष थी। एक विस्तृत सरोवर में जल-युद्ध आरम्भ हुआ। अयोध्या की सरयू नदी में दोनों को ही जलक्रीड़ा करने का अभ्यास था। बाहुबली ने फिर भी विशेष कौशल का प्रदर्शन किया। वह बलपूर्वक जल को उछाल कर भरत के वक्ष एवं चेहरे पर फेंकते तो भरत को आघात पहुंचता, उनकी आंखें धुंधिया जातीं। ऊँचाई में बाहुबली से छोटे भरत जब जल उछालते तो वह बाहुबली के मुख पर कठिनता से ही आघात कर पाता। वह बाहुबली के शरीर पर अधिकांशतः मुख से निचले भाग पर ही पड़ता था। रोमांचक जल युद्ध में भी विजय बाहुबली की ही हुई। इसके उपरान्त वास्तविक शारीरिक बल-परीक्षण के लिए मल्ल-युद्ध की तैयारी आरम्भ हुई। सिंह के समान बलशाली वे दोनों भ्राता इसके लिए तैयार की हुई रंगभूमि में आ उतरे। बाहुबली यदि बलिष्ठ भुजाओं तथा विशाल एवं सुदृढ़ काया वाले थे तो भरत भी कुछ कम बलशाली नहीं थे। दोनों के मध्य अत्यंत रोमांचक मल्ल-युद्ध हुआ। युद्ध के कौशल ने सभी को चकित कर दिया। भरत के लिए तो यह अंतिम बाजी थी। वह प्राण-प्रण से इस मल्ल-युद्ध को जीतना चाहते थे। किन्तु इस मल्ल-युद्ध में भी भरत के सभी प्रयास विफल हुए। बाहुबली ने भरत को हथेलियों पर रखते हुए कंधों से ऊपर उठा लिया। बाहुबली असमंजस में पड़े कि बड़े भाई को अब पृथ्वी पर कैसे पटकें। स्नेह एवं विवेक उनके युद्धोन्माद के ऊपर मंडराने लगा। आदर से उन्होंने भरत को भूमि पर उतार दिया। भरत तो अब ग्लानि एवं पराजय की आग में जल रहे थे, प्रतिहिंसा उन पर हावी हो चुकी थी। वह अपने ऊपर संयम खो चुके थे। बाहुबली का शीष काटने के लिए उन्होंने उनके ऊपर 'चक्र' ही चला दिया। इस नीति-

विरुद्ध आचरण पर दोनों ओर से हाहाकार मच उठा। किन्तु यह क्या हुआ ! चक्र वेग-पूर्वक बाहुबली की ओर चला और उनके मस्तक की प्रदक्षिणाएं करके वापिस आकर स्थिर हो गया। बाहुबली की जयकार एवं प्रशंसा से आकाश तक गुंजित हो उठा। भरत की ग्लानि एवं संताप का अब कोई पार न था। क्रोध में वह यह भी भूल गए थे कि महासंघातक चक्र वंशजों के प्राण नहीं लेता। बाहुबली ने भरत का ग्लानियुक्त एवं दुखी चेहरा देखा तो वह करुणार्द्र हो उठे। भाई से स्नेह के कारण उनकी उस अवस्था पर उनकी आंखों में जल छल-छला आया। उधर भरत भी अब प्रकृतिस्थ हो चुके थे। पश्चाताप से उनका मन भरा हुआ था। उनका अहं खंड-खंड हो चुका था। स्नेह से वह बाहुबली की ओर इस भाव से बढ़े कि उस विस्तृत राज्य का अधिकारी अब वह नहीं अपितु उनका विजयी अनुज है। उस भाव को स्नेह से उन्होंने अनुज से व्यक्त भी किया। किन्तु राज्य लिप्सा, अहंकार, क्रोध, अविवेक आदि अब बाहुबली के सम्मुख अपने सत्य रूप में प्रकट हो चुके थे। उन्हें संसार में बांध कर रखने को अब कुछ शेष नहीं रह गया था। राज्य को त्यागकर वह मुनि दीक्षा धारण करने का संकल्प कर चुके थे। स्नेह एवं आदर से एक बार फिर उन्होंने भाई भरत की ओर देखा और उन्हें गले लगा लिया। पुत्र महाबली को भी अपने भुजपाश में भर लिया। वह विदा से पूर्व का अंतिम स्नेह मिलन था, भावोद्रेक से परिपूर्ण। पोदनपुर के भावी शासक महाबली का हाथ उन्होंने भरत के हाथों में सौंप दिया और साधु बनकर ध्यान, तपस्या, योग द्वारा संसार के दुखों से सदैव के लिए मुक्त होने के लिए वन की ओर बढ़ गये। बाहुबली ने त्याग का, महान व्यक्तित्व का कितना ज्वलंत उदाहरण प्रस्तुत किया था।

परस्पर युद्ध से जो कुछ कषाय उत्पन्न हुई थी वह बाहुबली की क्षमा एवं दोनों भाईयों के स्नेह-संलाप से दूर हो गयी थी। किन्तु बाहुबली के दीक्षा के लिए वन गमन कर जाने के कारण वहां अब सब कुछ नीरव एवं निर्जीव सा लग रहा था। सभी ऊपर से शांत थे किन्तु अन्दर से टूट गये थे। बाहुबली का उनके बीच से चले जाने का बिछोह सभी को मथे डाल रहा रहा था। भरत निश्चेष्ट खड़े थे। बाहुबली ने स्नेह रज्जू को तोड़कर त्याग का जैसा मार्ग दिखाया था उस अप्रत्याशित घटना से सभी दुखित थे। विशेष दुखित थे भरत तथा बाहुबली की पत्नियां एवं बाहुबली के पुत्र महाबली, सदैव के लिए अपने प्रिय से सम्बन्ध टूट जाने के कारण।

उस बोझिल निस्तब्धता को भंग करते हुए महामंत्री ने भरत को सान्त्वना देने का प्रयास किया। उन्हें समझाया "होनहार प्रबल है, होकर ही रहती है, कदाचित प्रिय बाहुबली से भी बिछोह इसी प्रकार नियति में लिखा था। किन्तु विवेकी, धीर एवं ज्ञानी पुरुष उससे विचलित नहीं होते। उस दुख से ऊपर उठकर उनको चक्रवर्ती सम्राट के नाते प्रजापालन एवं साम्राज्य का कार्य भी तो देखना है।"

कर्तव्य की ओर ध्यान जाने पर भरत अधिक स्थिर हुए, उनका संताप कम हुआ। महाबली को सांत्वना के शब्द कहे। उनको तथा पोदनपुर के अमात्यों को राज्य

कार्य सुचारू रूप से चलाने के लिए परामर्श दिया और अपनी सेना के साथ शांत, चुपचाप अयोध्या वापिस लौट आये।

चक्रवात शांत हो चुका था। युवक महाबली सम्राट भरत को अपना आदर समर्पित कर चुके थे। चक्र का अतएव अब अयोध्या में प्रवेश हुआ। किन्तु उस समय दिग्विजय का महोत्सव मनाने का उत्साह सम्राट भरत में शेष नहीं रह गया था। अमात्य तथा प्रजा उनके हृदय के दुःख से परिचित थे। इस कारण उस समय महोत्सव मनाने के लिए उनकी ओर से आग्रह भी नहीं हुआ।

बाहुबली ने मुनि होकर मोक्ष प्राप्ति के लिए कठोर तपस्या आरम्भ कर दी। दिगम्बर वेश में कार्योत्सर्ग मुद्रा में पर्वत के शिखर पर वह पाषाण प्रतिमा की भांति स्थिर निश्चल ध्यानस्थ खड़े रहते। भरत प्रायः उनके दर्शनों को जाते किन्तु उनके दो शब्दों से, परस्पर दृष्टि मिलने से भी निराश होकर लौटते। बाहुबली ने एक वर्ष का प्रतिमा योग धारण कर कायोत्सर्ग मुद्रा में ध्यान करने की प्रतिज्ञा कर ली थी। अडिग अवस्था में वह एक वर्ष तक घोर तपस्या करते रहे। ध्यान की उस उत्कृष्ट अवस्था में उनका लक्ष्य था देहउत्सर्ग द्वारा कर्मजाल को काट देना, सदैव के लिए आवागमन से मुक्ति प्राप्त कर लेना।

पार्थिव शरीर के सुख-दुख से उनका सम्बन्ध ही टूट चुका था। घोर तपस्या में उनका शरीर इतना निश्चल हो गया था एवं मन आत्मचिंतन में इतना अधिक केन्द्रित कि कब चींटियों ने उनके चरणों के पास विवर बनाए और कब कुक्कुट सर्पो ने आकर वहां वास किया और कैसे वहां माधवी लताएं उत्पन्न होकर उनके पैरों-हाथों पर चढ़ने लगीं इसका भी उन्हें आभास न हुआ। वे आध्यात्मिकता के निश्चल प्रतीक बन गये। किन्तु एक वर्ष के दुर्धर तप के पश्चात भी उनके मन की चिंता कि उनके द्वारा बड़े भाई का अपमान हुआ है तथा वह उन्हीं भरत चक्रवर्ती सम्राट की भूमि पर खड़े हैं उनकी केवलज्ञान प्राप्ति में बाधक बनी रही। कैवल्य अवस्था है आत्मा के उस शुद्धतम स्वरूप की जब समस्त कर्मक्षय हो जाते हैं और मन पूर्णतया मुक्त हो जाता है चिंता, मोह, माया, क्रोध आदि विकारों से। केवलज्ञान से साधु को अरहंत पद प्राप्त होता है जो मोक्ष प्राप्ति का मुख्य साधन बनता है।

भगवान ऋषभदेव का समवशरण अयोध्या से दूर नहीं था। भरत ने पूरे परिवार के साथ वहां पहुंच कर उनकी अर्चना एवं भक्ति की। उनसे यह भी जिज्ञासा की कि लगभग एक वर्ष की घोर तपस्या के पश्चात भी बाहुबली को केवलज्ञान क्यों उत्पन्न नहीं हो रहा है। भगवान ऋषभदेव ने स्पष्ट किया कि बाहुबली को केवलज्ञान इसलिए नहीं हो रहा है कि उनके मन में कांटे की सी कसक है, शल्य है कि जिस धरती पर उनके दो पग टिके हुए हैं उसका भी स्वामी भरत ही है। वही चक्रवर्ती सम्राट भरत जिसने इस पृथ्वी को विजित करने की महत्वाकांक्षा से अपने छोटे भाई से भी युद्ध किया। उन्होंने यह भी बताया कि बाहुबली इस विचार से भी मुक्त नहीं है कि उन्हीं के कारण भारत का अपमान हुआ है। भगवान ऋषभदेव ने कहा कि बाहुबली द्वारा

धारण किए हुए एक वर्ष के प्रतिमायोग को समाप्त होते ही शल्यों के निवारण के लिए भरत उन्हें सम्बोधित करें जिससे कि बाहुबली का मोक्ष पथ प्रशस्त हो। यह ज्ञात कर कि बाहुबली का मन अभी किंचित इस बात से दुःखी है कि उनके द्वारा भरत का अपमान हुआ है, भरत का हृदय अनुज के प्रति स्नेह से द्रवित हो उठा। बाहुबली के प्रति उनका आदर और भी बढ़ गया। उन्होंने विचार पक्का किया प्रतिमायोग पूर्ण होने के समय बाहुबली के सन्निकट होने का, उनके चरणों में आकर पूजा करने का और अपने हृदय की दो बात कहकर उनके मन के शल्यों को दूर करने का।

राजमाता यशस्वती, सुनन्दा, ब्राह्मी, सुन्दरी तथा अन्य इष्टजनों व नागरिकों सहित भरत बारहवें दिन बाहुबली के सम्मुख उनके तप-स्थल पर आ उपस्थित हुए और उनका जयकार किया। भरत ने अपना मस्तक उनके चरणों में रखकर उनकी स्तुति की। यशस्वती एवं सुनन्दा ने शरीर पर से जीव-जन्तुओं को हटाया। ब्राह्मी एवं सुन्दरी बहिनों ने उनके शरीर को लता-जाल से विमुक्त किया, पत्नी जयमंजरी ने पैरों के पास से मिट्टी की बाम्बियों को हटाकर चरण प्रक्षालन किया। पुत्रों ने स्थान को साफ किया। भरत के आंखों से झरते आंसु बाहुबली के चरणों का प्रक्षाल किए जा रहे थे। अपूर्व था वह दृश्य। भरत को संशय हुआ कि निर्विकार दिव्यता की इतनी अलौकिक स्थिति में शल्य कैसे रह सकते हैं, किन्तु दूसरे ही क्षण अपने को आश्वस्त किया कि भगवान ऋषभ की तो सर्वज्ञ की वाणी है उसमें संशय को स्थान कहां। जैसे ही प्रतिमायोग का समय पूर्ण होने की वेला निकट आयी भरत ने उतनी ही प्रगति से उनके दायें हाथ ही हथेली को सहलाना आरम्भ किया, अपनी सबकी उपस्थिति का बोध कराने के लिए, उनके शल्यों का निवारण करने के लिए।

सहसा ही ध्यानस्थ उस अलौकिक तपस्वी की काया में चेतना का एक मन्द कम्पन्न हुआ, बरौनियां बहुत हल्की सी निमिष मात्र के लिए खुलीं। सबके हर्ष की सीमा न रही। बहिनें ब्राह्मी एवं सुन्दरी विनय के अतिरेक में मंगलमय मीठी वाणी में उनसे जो बोलीं वह एक राजस्थानी कवि की भाषा में इस प्रकार व्यक्त हुआ है :—

"वीर म्हारा गज थकी उतरो
गज चढ़या केवल नहीं होसी रे"

(हमारे वीर भैया गज से नीचे उतरो, गज (अहंकार) पर चढ़े हुए केवलज्ञान संभव नहीं है)

सम्बोधन ने जादू से भी अधिक काम किया। ध्यानस्थ तपस्वी के मन में बिजली सी कौंध गयी। अपने शल्यों का समाधान उन्हें उन थोड़े से शब्दों से स्वयं ही प्राप्त हो गया। शब्दों के आडम्बर अथवा अर्थ की आवश्यकता ही नहीं पड़ी। मुनि बाहुबली ने क्षण भर के लिए विचार किया कि सचमुच भरत की पृथ्वी पर खड़े होने का संवेदन-मूल उन्हें अहंकार के गज पर बैठाए हुए है। वे विचार करते हैं मैं अहंकार रूपी हाथी पर सवार हूं, पहले जन्म लेने से कोई बड़ा नहीं हो जाता। मेरे लघु भ्राताओं ने मेरे

से पूर्व दीक्षा लेकर तपस्या द्वारा अपनी अध्यात्म साधना का मार्ग प्रशस्त किया है। निश्चय ही उनका विवेक मुझसे पूर्व प्रबुद्ध हुआ है, अतः वे वन्दनीय हैं। मुझे जाकर उन्हें प्रणाम करना चाहिए। विचार मंथन की इसी बेला में उनको सुनाई पड़े भरत के वह शब्द भी "मुनिराज, भरत का चक्रवर्तित्व तुच्छ है, आपकी इस तपस्या पर भरत के हजार राज्य न्यौछावर हैं। इस नश्वर संसार में कौन भरत और कहां उसकी भूमि। आप तो असीम हैं अतः सीमा से ऊपर उठिए। आपको मैं नमन करता हूं।" भरत के इन शब्दों ने बाहुबली के रहे-सहे शल्य का भी समाधान कर दिया। शल्य दूर होते ही, अहंकार तिरोहित होते ही वे तुरन्त ही पवित्रतम वीतराग अवस्था में आ गये। उन्हें केवलज्ञान हो गया। कैलाश पर्वत की ओर वह अग्रसर हो गए। निर्वाण की ओर द्रुत-गति से अग्रसर होते हुए तीर्थंकर आदिनाथ से भी पूर्व बाहुबली प्रथम मोक्षगामी हो गये। भरत ने परम तपस्वी भाई की श्रद्धांजलि के रूप में पोदनपुर में उनकी मूंगे की एक विशाल मूर्ति का निर्माण करवाया। श्रवणबेलगोल की गोम्मटेश्वर मूर्ति की निर्माण कथा संश्लिष्ट है इन सभी संदर्भों से।

बाहुबली चौबीस कामदेवों में प्रथम कामदेव थे। उनके अन्य नाम भी थे। अत्यंत पराक्रमी होने के कारण भुजबली तथा दोरबली, एवं सुनन्दा से उत्पन्न होने के कारण सौनन्दी भी। वे वीर तथा उदार हृदय थे। उनके सुंदर शरीर से शौर्य एव वीरता टपकती थी। वे अलौकिक बलशाली तथा रूपवान थे। उनकी मूर्तियों में उनका कामदेव जैसा रूप भली भांति परिलक्षित होता है।

अधिक की उन्हें लालसा नहीं थी। पिता द्वारा प्रदत्त छोटे से राज्य से ही वे संतुष्ट थे। आस-पास के राज्यों पर विजय प्राप्त करने की उनकी महत्वाकांक्षा नहीं थी। अपरिग्रह, क्षमा, दया, प्रेम, उदारता तथा शरणागत की रक्षा आदि सभी उत्तम गुणों के वे धारक थे। वे विशिष्ट संयमी थे। कामदेव के समान सुंदर होने पर भी पर स्त्री की चाह उन्हें नहीं थी न ही कभी उसके लिए उन्होंने प्रयास मात्र भी किया था। अन्याय एवं आधीनता उन्हें सह्य नहीं थी। शरणागत की रक्षा के लिए, अन्याय के प्रतिकार के लिए ही अग्रज भरत के प्रति असीम आदर रखते हुए भी उन्होंने उनके शत्रु वज्रबाहु को अपने यहां शरण दी थी और समझाने के बावजूद भी उस पर अडिग रहे थे। भरत द्वारा आधीनता स्वीकार करने का संदेशा भेजने पर उन्होंने उसे स्नेह की नहीं अपितु क्षात्र धर्म की तराजू पर तोला था। एक श्रेष्ठ क्षत्रिय की भांति अपने स्वाभिमान का बलिदान उनको स्वीकृत न हुआ था।

कठिन तपस्या की दृष्टि से भी वह सर्वश्रेष्ठ उदाहरण बन गये हैं। एक वर्ष की प्रतिमायोग की लम्बी अवधि में आत्मा के शरीर में रहते हुए भी उनका शरीर के सुख-दुख से सम्बन्ध टूट गया था। अपने काल के वह प्रथम मोक्षगामी हुए। जन्म से निर्वाण तक उनका जीवन उदात्त गुणों से परिपूर्ण रहा है।

राजराजा भरत ने चक्रवर्ती सम्राट के कर्तव्यों का पालन अनासक्त भाव से किया। भगवान ऋषभदेव तीन वर्णों की स्थापना समाज व्यवस्था की दृष्टि से कर ही चुके थे। ज्ञान के बढ़ते प्रसार के साथ भरत ने अहिंसा धर्म की प्रतिष्ठा के लिए ब्राह्मण वर्ण की स्थापना की। इस प्रकार अब चार वर्ण हो गए। भरत का जीवन अध्यात्म से प्रभावित होता जा रहा था। राज्य सम्पदा एवं ऐश्वर्य के प्रभाव से वह मुक्त होते जा रहे थे। अब उनको चिन्ता रहती थी कल्याणकारी कार्यों द्वारा प्रजा को सुखी रखने की। राज्य व्यवस्था में मानव कल्याणकारी पक्ष को वह प्राथमिकता देते थे। उनका धार्मिक जीवन, समता भाव, स्वाध्याय वृत्ति आदि प्रजा को प्रभावित करते जा रहे थे। उनका जीवन राज्य करते हुए भी एक कर्तव्य परायण योगी जैसा बनता जा रहा था। कहा जाता है कि इन्द्र की सभा में यह चर्चा चलने पर कि सम्राट होते हुए भी ऐश्वर्य के मध्य वह अंतरंग से साधु हैं एक देव को उस पर विश्वास न हुआ। स्वयं अनुभव करने के लिए भरत की परीक्षा लेने वह मनुष्य लोक में उतर आया। एक वृद्ध ब्राह्मण का रूप रखकर वह सम्राट भरत के सम्मुख आ उपस्थित हुआ और विनम्र शब्दों में पूछा कि क्या इतनी सम्पदा, सुखों एवं ऐश्वर्य के मध्य, भोग एवं उपभोग की वस्तुओं से भरपूर वह त्यागी वृति रखने में सफल हो सके हैं, क्या उसका प्रमाण दे सकेंगे।

महाराज भरत यह सुनकर मुस्कराये। विप्र की शंका का समाधान उन्होंने विवेकपूर्ण ढंग से करने की ठानी। अपने प्रधान अमात्य को बुलाकर विप्र की शंका उनके सम्मुख रखी और उनको उसका समाधान करने का आदेश दे दिया। विप्र से कहा कि वह अमात्य से सवेरे मिल लेवें। अमात्य को शंका समाधान की विधि बतला कर भरत निश्चित हो गए। सवेरे जब विप्र अमात्य के पास पहुंचा तो उन्होंने उससे इस सम्पूर्ण प्रसंग में किसी दैवी शक्ति अथवा चमत्कार का सहारा लेने का निषेध किया। विप्र ने अपने देव होने का भेद न खोलकर साधारण मनुष्य की भांति आचरण करने का आश्वासन दिया। अमात्य ने कहा कि सम्मुख रखे कटोरे में वह इतना तेल भर दें कि एक अतिरिक्त बूंद भरने का भी स्थान शेष न रहे। उसमें रुई की एक बाती भी डाल कर जला लें और फिर समूचे राजप्रासाद में घूमे, जहां विभिन्न व्यक्ति उनको सुन्दर उपहार आदि भेंट करेंगे तथा विविध प्रकार के मनोरंजन से चित्त प्रसन्न करेंगे। किन्तु ध्यान रहे कि राजप्रासाद की सम्पूर्ण सैर में एक बूंद तेल भी कटोरे से छलकने न पाये तथा जलती बाती बुझ न पाये अन्यथा शस्त्रधारी सैनिकों द्वारा उनके लिए संकट उपस्थित हो जाएगा। विप्र से फिर उन्होंने प्रासाद की प्रदक्षिणा के पश्चात् महाराज भरत के सम्मुख प्रस्तुत हो अपने सुखद अनुभवों, प्राप्त हुए उपहारों तथा प्रासाद की शोभा वर्णन आदि करने का निवेदन किया और आश्वस्त किया कि वहां उनका शंका समाधान भी हो जाएगा। विप्र को सुनने में वह जितना सरल एवं कौतुहलपूर्ण

लग रहा था वास्तव में उसका अंश मात्र भी वैसा नहीं निकला। कुछ ही पग चलने पर उसने पाया कि कम्पन के कारण न तो तेल को छलकने से रोकना सरल था और न बाती को बुझने से रोकना ही। भेंट-उपहारों तथा मनोरंजन की ओर वह आंख उठा-कर देख न सका। प्राणपण से उसकी सारी शक्ति एवं प्रयास इसी पर केन्द्रित रहे कि कटोरा न छलके, न बाती ही बुझे। सूर्यास्त होने पर विप्र जलती लौ सहित तेल से भरा-पूरा कटोरा लेकर सम्राट भरत के सम्मुख उपस्थित हुआ तो उसको लगा जैसे साक्षात मृत्यु के फंदे से छूटकर जीवन बचा पाने में सफल हो पाया है। भरत द्वारा राजप्रासाद की सैर के विषय में प्रश्न पूछे जाने पर विप्र अपने छल को और अधिक समय तक स्थिर न रख सका। उसने अपना वास्तविक देव रूप प्रकट किया। लज्जा से देव बोला कि महाराज उपहारों के ग्रहण करने, प्रासाद का सौन्दर्य निहारने तथा प्रासाद में आयोजित मनोरंजन को अवलोकन करने की तो उसकी स्थिति सर्वथा नहीं रही। उसका सम्पूर्ण ध्यान तेल के छलकने को रोकने एवं बाती को बुझने से रोकने में ही केन्द्रित रहा। सारी शक्ति लौ को प्रज्वलित करने में ही लगी रही। महाराज भरत के पूछने पर कि क्या शंका समाधान उनका विवेकपूर्ण ढंग से हो गया है देव ने प्रत्युत्तर में कहा धन्य हैं महाराज आप, सत्य है आपकी प्रसिद्धि एक अनासक्त योगी के रूप में। भोग सामग्री की पराकाष्ठा के मध्य भी आपका ध्यान केवल धर्म और आत्मा पर केन्द्रित है। किसी भी क्षण आप धर्म-कार्य से असावधान नहीं हैं। कर्म-बन्ध का भय सदैव ही आपको भोग के परिणाम से आतंकित रखता है। भरत को प्रणाम कर देव अन्तर्ध्यान हो गया। उसकी शंका का समाधान पूर्णतः हो चुका था।

भरत में वैराग्य उत्पत्ति के लिए मानो नियति ने एक दिवस नियत कर रखा था। एक दिन दर्पण में देखते समय उन्हें मस्तक में एक श्वेत केश दीख गया। ज्ञानवान भरत को यह जरावस्था का आगमन लगा। अकर्मण्य जरा का अंत मृत्यु में निश्चित होता है यह उन्हें स्पष्ट होने लगा। साधु बन मुनिव्रत धारण कर आत्म-कल्याण की उनकी इच्छा बलवती होती चली गई। पुत्र अर्ककीर्ति को एक शुभ दिवस राज्य भार सौंपकर भरत मुनि हो गए। उन्होंने कठिन तप किया। देश-देशान्तर में विहार कर धर्म का, आत्मा के उत्थान का उपदेश दिया। उनको केवलज्ञान प्राप्त हुआ और वह संसार के आवागमन से सदैव के लिए मुक्त होकर मोक्षगामी हो गए।

३

अन्तिम श्रुतकेवली महान प्रभावक आचार्य भद्रबाहु

श्रवणबेलगोल के अनेक शिलालेखों में आचार्य भद्रबाहु का उल्लेख हुआ है। भगवान महावीर की आचार्य परम्परा में स्वामी भद्रबाहु अंतिम श्रुतकेवली हुए हैं। मुनियों, आर्यिकाओं, श्रावकों एवं श्राविकाओं का विशाल समुदाय महावीर का चतुर्विध संघ कहलाता था। मुनिसंघ नौ गणों अथवा वृन्दों में विभक्त था जिसके अध्यक्ष थे भगवान महावीर के ग्यारह गणधर अथवा प्रमुख शिष्य इन्द्रभूति (गौतम), अग्निभूति, वायुभूति, व्यक्त, सुधर्म, मंडिकपुत्र (माण्डव्य), मौर्यपुत्र, अकम्पित, अचल भ्राता, मेतार्य एवं प्रभास। ये सभी गणधर ब्राह्मण तथा उपाध्याय थे एवं ग्यारह अंग और चौदह पूर्व के ज्ञाता थे। महासती चन्दना आर्यिका संघ की नेत्री थीं और श्राविका संघ का संचालन होता था मगध की साम्राज्ञी चेलना द्वारा। उनके प्रथम समवशरण के मुख्य श्रोता थे मगध के सम्राट बिम्बिसार-श्रेणिक। भारत के लगभग प्रत्येक भाग में भगवान महावीर के अनुयायी होने के अतिरिक्त गान्धार, कपिशा, पारसीक आदि देशो में भी उनके भक्त थे।

भगवान महावीर के ग्यारह गणधरों में से इन्द्रभूति एवं सुधर्म के अतिरिक्त नौ को उनके जीवन काल में ही निर्वाण-पद प्राप्त हो गया था। भगवान महावीर को निर्वाण लाभ हुआ 15 अक्तूबर, ई०पू० 527 के प्रातःकाल में। उनके पश्चात संघ नायक रहे गणधर इन्द्रभूति और उनके पश्चात गणधर सुधर्म। सुधर्माचार्य के निर्वाण के पश्चात संघनायक हुए अंतिम केवली जम्बू स्वामी। उनके पश्चात संघ नायक रहे क्रमशः श्रुतकेवली विष्णुनन्दि, नन्दि-मित्र, अपराजित, गोवर्धनाचार्य एवं भद्रबाहु। उन्हें सम्पूर्ण श्रुत का यथावत ज्ञान था इसी कारण वह पांचों श्रुतकेवली कहलाये।

स्वामी भद्रबाहु जैन धर्म के महान प्रभावक आचार्य रहे हैं। सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य की ही भांति वे ऐतिहासिक महापुरुष हुए हैं। यद्यपि भद्रबाहु नामक अन्य आचार्य भी हुए हैं किन्तु यहां तात्पर्य उन्हीं अंतिम श्रुतकेवली भद्रबाहु से है जो आचार्य गोवर्धन के शिष्य तथा सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य के गुरु थे। उनका युगारम्भ काल है वीर निर्वाण सम्वत 134 (ई०पूर्व 393) और अंतिम काल है वीर निर्वाण सम्वत 162 (ई०पू० 365)। आचार्य भद्रबाहु के विषय में विविध प्रकार की विस्तृत सामग्री प्राप्त होती है।

तिलोयपण्णत्ती में, जिसकी रचना चौथी शताब्दी के लगभग हुई, उनका सामान्य रूप में उल्लेख हुआ है। वस्तुतः आचार्य हरिषेण प्रथम कवि हैं जिन्होंने अपने बृहत्कथाकोष (931-932 ई0) में पूर्व अनुश्रुतियों के आधार पर भद्रबाहु की विस्तृत जीवनगाथा लिखी। बृहत्कथाकोष के अनुसार वह पुण्ड्रवर्धन राज्य के कोटिमत नगर के निवासी ब्राह्मण दम्पति सोमशर्मा एवं सोमश्री के पुत्र थे और उनकी जन्मजात प्रतिभा के कारण चतुर्थ श्रुतकेवली गोवर्धनाचार्य ने उनके माता-पिता से उन्हें लेकर अपना योग्य शिष्य बनाने तथा अपना उत्तराधिकार सौंपने का निश्चय किया था। गोवर्द्धनाचार्य द्वारा भद्रबाहु को अपना शिष्य बनाने की कथा उल्लेखनीय है। 1200 शिष्यों के अपने विशाल संघ सहित गिरनार की यात्रा के पश्चात विहार करते हुए पुन्ड्रवर्धन राज्य के कोटिमत (कोटिपुर) नामक नगर के समीप गोवर्धनाचार्य ने एक बालक को अन्य बालकों के मध्य चौदह गोलियों को एक पर एक पंक्तिबद्ध खड़ा करते हुए देखा। आचार्य उसकी बुद्धिमता से प्रभावित हुए। निमित्तज्ञान द्वारा उनको स्पष्ट हुआ कि यही मेधावी बालक भली प्रकार शिक्षित एवं दीक्षित होने पर उनके आचार्य पद का सुयोग्य उत्तराधिकारी बनेगा। बालक से उसके माता-पिता का पता ज्ञात कर उन्होंने ब्राह्मण दम्पति से उस बालक को उचित शिक्षा देने के लिए ले लिया। गोवर्धनाचार्य ने बालक को यथोचित शिक्षाएं देकर विद्वान शिष्य बनाने के उपरांत माता-पिता के पास वापिस भेज दिया। किशोर विद्वान ने माता-पिता से मुनिधर्म में दीक्षित होने की अनुमति मांगी जो उन्होंने सहर्ष प्रदान की। गोवर्धनाचार्य ने दीक्षा उपरान्त नाम दिया भद्रबाहु। मुनि भद्रबाहु का जीवन मुनिचर्या में व्यतीत होने लगा। वे जैनधर्म के धुरन्धर विद्वान बन गये। आचार्य ने उन्हें अपने पद पर प्रतिष्ठित कर संघ का सब भार उन्हीं को सौंप दिया। उनके देह त्याग के पश्चात भद्रबाहु ने आचार्य पद धारण किया। वे चतुर्दश पूर्वधर तथा अष्टांग निमित्तज्ञानी श्रुतकेवली थे। अनेक क्षेत्रों में विहार करते हुए अपने उपदेशों द्वारा उन्होंने धर्म प्रचार एवं जन-कल्याण किया। विहार करते हुए वह संघ सहित उज्जयिनी भी पधारे एवं क्षिप्रा नदी के किनारे उपवन में प्रवास किया। सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य्य उस समय अपनी उपराजधानी उज्जयिनी से ही राज्य संचालन कर रहे थे। वे महारानी सहित उनके दर्शनों के लिए आए और उनके संघ को आहार के लिए निमंत्रित किया। विधिपूर्वक उनके संघ ने नगर में आहार ग्रहण किया। आहार के निमित्त नगर में पधारने पर वे एक दिन जैसे ही एक आवास-गृह के आंगन में प्रविष्ट हुए झूले में झूलते हुए एक सर्वथा अकेले शिशु ने उनको सम्बोधित कर कहा "जाओ-जाओ।" आचार्य भद्रबाहु ने निमित्तज्ञान से जाना कि भविष्य उस क्षेत्र में शुभ नहीं है, वहां बारह वर्ष का भारी दुर्भिक्ष पड़ने वाला है। वर्षा न होने से अन्नादि उत्पन्न न होंगे तथा मुनिसंघ को आहार में भारी कष्ट होगा, संयम-पूर्वक चर्यापालन कठिन होता जायेगा। बिना आहार लिए वह वापिस आ गये तथा संघ को भावी संकट से सूचित करते हुए दक्षिण की ओर जाने का निश्चय किया।

रात्रि में सम्राट चन्द्रगुप्त ने भी सोलह अशुभ स्वप्न देखे। वे उन स्वप्नों का

फल ज्ञात करने के लिए आचार्य भद्रबाहु के पास पहुंचे। उन्होंने स्वप्नों को भी आने वाले संकट काल का सूचक बताया। स्वामी भद्रबाहु के संघ सहित दक्षिण में प्रस्थान करने के निश्चय को ज्ञात कर सम्राट ने भी राज्य कार्य अपने पुत्र बिन्दुसार को सौंप आचार्य से जैन मुनि दीक्षा ले ली। महान सम्राट एक दिगम्बर साधु बन गये, सभी परीषहों को झेलने के लिए सहर्ष तत्पर। धर्मोपदेश देते हुए आचार्य ने विशाल संघ एवं चन्द्रगुप्त सहित दक्षिण की ओर प्रस्थान करने की तैयारी की। यद्यपि राजपरिवार के अनेक सदस्यों एवं श्रेष्ठी वर्ग ने उनसे वह क्षेत्र न छोड़कर जाने के लिए अनुनय की किन्तु साधुओं की चर्या एवं संयम की रक्षा के लिए वह अपने निश्चय पर अडिग रहे।

श्रवणबेलगोल में चन्द्रगिरि पहाड़ी पर निर्मित चन्द्रगुप्त बसदि में शिल्पकार दासोज द्वारा उत्कीर्ण 90 जालीदार पाषाण चित्रफलकों में से अनेक चित्रफलकों में उपरोक्त घटनाओं को चित्रित किया गया है।

स्वामी भद्रबाहु जैन धर्म के महान प्रभावक आचार्य हुए हैं। कितनी अपूर्व रही होगी उनकी नेतृत्व शक्ति तथा जैन धर्म के प्रसार के लिए उत्कट कामना। यह जान कर भी कि इतने विशाल संघ सहित सुदूर दक्षिण में जाने में मार्ग में कितने ही कष्ट आयेंगे, साधुओं को कभी-कभी निराहार भी रहना पड़ेगा, ऋतु सम्बंधी परीषह भी झेलने पड़ेंगे, उन्होंने प्रस्थान का निश्चय लेकर कितने साहस का परिचय दिया। किन्तु जहां संघ ने सभी परीषहों को समभाव से झेला, उस विशाल संघ द्वारा समस्त मार्ग में धर्म प्रभावना भी कम नहीं हुई। स्थान-स्थान पर दिगम्बर जैन साधुओं के कठोर आचरणमय जीवन तथा उनकी शान्त तपस्या मुद्रा से सहस्त्रों-सहस्त्रों व्यक्तियों के हृदय में जैन धर्म के उत्कट त्याग एवं संयम के प्रति आदर तथा आस्था अवश्य ही उत्पन्न हुए।

उनके कर्णाटक में संघ सहित कटवप्र पर्वत, वर्तमान चन्द्रगिरि, पर पहुंचने के उपरान्त वह समस्त क्षेत्र जैन जयघोष से गुंजित हो उठा। श्रवणबेलगोल समस्त दक्षिणा-पथ में जैन धर्म प्रसार के लिए केन्द्र बिन्दु बन गया। कैसा अपूर्व रहता होगा उस समस्त स्थान का धार्मिक एवं पवित्र वातावरण। आचार्य भद्रबाहु की ज्ञान-गरिमा से प्रभावित होकर अनेकों ने जैन धर्म अंगीकार किया एवं मुनि धर्म में दीक्षित हुए। जैन धर्म का पालन करना तथा मृत्यु निकट होने पर सात्विक वृत्ति से संयम पूर्वक सल्लेखना-व्रत धारण कर समाधिमरण पूर्वक देह त्याग करना उस काल में एक प्रचलित एवं धार्मिक महत्व की बात बन गई थी। चन्द्रगिरि के सर्वाधिक प्राचीन छठी शती के शिलालेख क्रमांक एक में उल्लेख है कि स्वामी भद्रबाहु ने वहां से समाधिमरण पूर्वक देह त्याग किया तथा उनके पश्चात् उनके प्रमुख शिष्य चन्द्रगुप्त (दीक्षा नाम प्रभाचन्द्र) तथा 700 अन्य साधुओं ने समाधिमरण पूर्वक देह त्याग किया।

भगवती आराधना की एक गाथा में भद्रबाहु की समाधि का निम्नलिखित रूप

में उल्लेख किया गया है :—

ओमोदरिये घोराए भद्दबाहू य संकिलिट्ठमदो।
घोराय विगिच्छाए पडिवण्णो उत्तमं ठाणं ॥

अर्थात भद्रबाहु ने अवमौदर्य द्वारा न्यून आहार की घोर वेदना सहकर उत्तम पुण्य की प्राप्ति की।

दिगम्बर साहित्य में स्वामी भद्रबाहु के जन्म आदि का परिचय हरिषेण कृत बृहत कथाकोष, श्रीचन्द्र कथाकोष तथा भद्रबाहु चरित्र आदि में मिलता है। भट्टारक रत्ननन्दी ने "भद्रबाहुचरित्र" स्वतंत्र संस्कृत लघु काव्य की रचना बृहत्कथाकोष तथा रामचन्द्र मुमुक्ष एवं प्रभाचन्द्र के कथानकों के आधार पर की थी। इन कथानकों में नगर के नामों या कुछ अन्य घटनाओं में संक्षेप अथवा विस्तार से परिवर्तन इन रचनाकारों ने अपनी कृतियों में किया है। अन्यथा अधिकतर कथानक प्रायः सब में एक जैसे ही हैं। इन कथानकों में यह उल्लेखित है कि चन्द्रगुप्त मौर्य (मगध सम्राट) आचार्य भद्रबाहु के शिष्य थे। चन्द्रगुप्त के दरबार में सैल्युकस द्वारा भेजे गये यूनानी राजदूत एवं इतिहासकार मैगेस्थनीज द्वारा भी इस तथ्य की पुष्टि हुई है। इतिहासकार श्री के० पी० जायसवाल तथा कतिपय पाश्चात्य विद्वानों के शोध निष्कर्षों से भी इस तथ्य का समर्थन होता है।

श्वेताम्बर साहित्य में उन पर सामग्री के श्रोत हैं कल्पसूत्र, आवश्यकसूत्र, नंदिसूत्र, आर्यमंडलसूत्र तथा आचार्य हेमचन्द्र का परिशिष्ट पर्व। दिगम्बर परम्परा में स्वामी भद्रबाहु द्वारा साहित्य रचना का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। किन्तु श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार व्यवहारसूत्र, छेदसूत्र आदि ग्रन्थ श्रुतकेवली भद्रबाहु द्वारा रचित माने जाते हैं।

दिगम्बर परम्परा में भद्रबाहु का पट्टकाल (आचार्य पद) 29 वर्ष (ई० पू० 394 से ई० पू० 365) तथा श्वेताम्बर परम्परा में 14 वर्ष (ई० पू० 371 से ई० पू० 357) बताया गया है। दिगम्बर परम्परा के अनुसार उनका निधन ई० पू० 365 में हुआ जबकि श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार उनका देह त्याग भगवान महावीर के निर्वाण वर्ष से 170वें वर्ष में अर्थात ई० पू० 357 में हुआ। ऐतिहासिक मान्यता के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य का राज्यकाल ई० पू० 321 से ई० पू० 298 पर्यन्त रहा है। स्वामी भद्रबाहु के आचार्य काल में चन्द्रगुप्त उनके शिष्य रहे। अतएव जैन परम्परा एवं इतिहास सम्मत काल के अनुसार उनके जीवन काल सम्बंधित लगभग 70 वर्ष का अन्तर आता है। इस पर शोध-खोज द्वारा निष्कर्ष अपेक्षित है।

अपना अन्त काल निकट आया जानकर, कटवप्र पर्वत (चन्द्रगिरि) पर स्वामी भद्रबाहु ने अपने समस्त संघ को दक्षिण के पाण्डय आदि राज्यों की ओर जाने का आदेश दिया। मुनि चन्द्रगुप्त के अनुरोध पर केवल वे ही उनकी सेवा के लिए वहां पर रुके रहे। भद्रबाहु गुफा में समाधिमरण पूर्वक उनका देह त्याग हुआ। उस समय चन्द्रगुप्त

उनके पास ही थे। स्मृतिस्वरूप उस गुफा में उनके चरण चिह्न स्थापित हैं जिनकी पूजा की जाती है।

भद्रबाहु चरितों के लेखक इस बात पर एकमत नहीं हैं कि बारह वर्ष का भीषण दुर्भिक्ष पड़ने के समय आचार्य भद्रबाहु ने समाधिमरण उज्जयिनी के निकट एक वटवृक्ष के समीप किया था अथवा अन्य स्थान पर अथवा श्रवणबेलगोल में कटवप्र (चन्द्रगिरि) पर। श्रवणबेलगोल में चन्द्रगिरि पर उत्कीर्ण 6ठी शताब्दी के लेख क्रमांक एक तथा अन्य लेखों के अनुसार उनका वहां (श्रवणबेलगोल) में ही समाधिमरण करना अधिक मान्यतापूर्ण है।

स्वामी भद्रबाहु के आदेश पर विशाखाचार्य उस संघ के नेता हुए और उस विशाल मुनिसंघ ने दक्षिण के पाण्ड्य आदि देशों में विहार कर धर्म प्रचार किया।

बारह वर्ष के दुर्भिक्ष के समाप्त हो जाने के पश्चात उस साधु संघ का मूल एवं अधिकतर भाग स्थायी रूप से दक्षिण में ही रह गया। श्रवणबेलगोल को प्रधान केन्द्र बनाकर दिगम्बर जैन साधु दक्षिण भारत के विभिन्न क्षेत्रों में तथा सागर के निकट द्वीपों में भी जैन धर्म का प्रचार एवं प्रसार करने में लगे रहे।

भगवान महावीर के अहिंसा धर्म के अनुयायी मगध तथा उत्तर पूर्वी भारत में तो अनेक राजवंश थे ही, आचार्य भद्रबाहु की धर्म प्रभावना के फलस्वरूप शताब्दियों के अंतराल के पश्चात भी दक्षिण के अनेक प्रसिद्ध राजवंश जैन धर्म से प्रभावित रहे और अनेक नरेस, मंत्री, सामन्त, अधिकारी, उच्च श्रेष्ठी आदि जैन धर्म के अनुयायी बने रहे तथा उनके द्वारा बहुविध रूपों में जैन धर्म को संरक्षण मिलता रहा।

दक्षिण में ही अधिकांशतः वह महान जैनाचार्य हुए जिन्होंने अपने अगाध ज्ञान से शास्त्रार्थ में अनेक प्रमुख जैनेतर विद्वानों पर विजय प्राप्त कर जैन धर्म के यश को उज्जवल किया तथा उसके महत्व एवं श्रेष्ठता को स्थापित किया। जैन वांङ्मय का अधिकांश भाग भी दक्षिण के महान जैनाचार्यों द्वारा सृजित हुआ है। दक्षिण में जैन धर्म के विकास का श्रेय इस प्रकार मूलतः इन आचार्य भद्रबाहु को ही प्राप्त होता है।

नन्दीसंघ पट्टावली में भद्रबाहु नामक दो आचार्यों का उल्लेख हुआ है, एक अंतिम श्रुतकेवली और दूसरे वे जिनसे सरस्वती गच्छ नन्दि आम्नाय की पट्टावली आरम्भ हुई। द्वितीय भद्रबाहु का समय ई० पू० 35 है। इन दोनों के समय में इस प्रकार लगभग 300 से अधिक वर्ष का अंतर है। कुछ विद्वानों ने भ्रमवश द्वितीय भद्रबाहु को ही अंतिम श्रुतकेवली मान लिया है जो अब निश्चित मान्यताओं के अनुसार ठीक नहीं है। प्रथम भद्रबाहु आचार्य ही अंतिम श्रुतकेवली थे तथा चन्द्रगुप्त मौर्य उन्हीं के शिष्य थे।

४

चन्द्रगुप्त मौर्य एवं अमात्य चाणक्य

चन्द्रगिरि के छठी-सातवीं शताब्दी के शिलालेख क्रमांक एक तथा कुछ अन्य शिलालेखों में अंतिम श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी तथा उनके शिष्य चन्द्रगुप्त का उल्लेख हुआ है। यह चन्द्रगुप्त मौर्य भारत के प्रथम ऐतिहासिक सम्राट हुए हैं जिनकी ऐतिहासिकता ठोस क्रमबद्ध एवं सुनिश्चित इतिहास पर आधारित है। वे ही भारत के प्रथम महान सम्राट हुए हैं जिनके शासनकाल में भारतीय साम्राज्य ने संगठित रूप में अपना विशालतम आकार धारण किया था और जिनकी विजयों के कारण उनके साम्राज्य की सीमायें, आधुनिक भारत से भी बाहर फारस की सीमा तक स्थापित हो गई थीं। उन्होंने अपने साहस, शौर्य एवं अद्वितीय संगठन शक्ति के बल पर विजय के उपरांत विजय प्राप्त कर अपने साम्राज्य की सीमाओं को पंजाब से आगे सिन्धु नदी तक, हिरात तक विस्तृत किया था। उनका साम्राज्य बंगाल से लेकर उत्तर-पश्चिम में हिन्दुकुश पर्वत तक, उत्तर में हिमाचल तक, दक्षिण में विन्ध्याचल के पर्वतों के पार तक फैला हुआ था। जिसमें आधुनिक काबुल, हिरात, कन्धार, बिलोचिस्तान पंजाब, उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल, गुजरात का काठियावाड़ (सौराष्ट्र) आदि प्रदेश सम्मिलित थे। अनेक इतिहासकारों के मतानुसार हैदराबाद एवं मैसूर के भी कुछ भाग उनके साम्राज्य में सम्मिलित थे। तमिल लेखकों ने भी चन्द्रगुप्त मौर्य की दक्षिण विजय का उल्लेख किया है। उनके अनुसार दक्षिण में उनका राज्य विस्तार तिन्नेवैलूली जिले में पोदिमिल पहाड़ी तक हो चुका था।

उन्हीं को छोटे-छोटे राज्यों में बंटे हुए भारत को विशेषकर उत्तर भारत को, एक महान संघ के रूप में गठित करने का गौरव प्राप्त है। उन्होंने अपने गुरु चाणक्य की मंत्रणा से सिकन्दर महान द्वारा विजित पंजाब एवं सिन्धु के भारतीय क्षेत्र को मुक्त कराकर अपने अधिकार में किया था। सिकन्दर का तत्कालीन भारत की उत्तरी सीमा पर आक्रमण काल मई ई० पूर्व 327 से मई ई० पूर्व 324 तक रहा। अदम्य साहसी चन्द्रगुप्त ने ई० पू० 321 तक उस भारतीय क्षेत्र को यूनानियों के अधिकार से मुक्त करा लिया था। वह सिकन्दर के समकालीन थे तथा उससे उन्होंने भेंट की थी।

सम्राट चन्द्रगुप्त के आरम्भिक जीवन के विषय में बहुत कम सामग्री प्राप्त हुई है। उनकी जाति के सम्बन्ध में प्राचीन ग्रंथों में बहुत मतभेद पाया जाता है। वैसे उनके

विषय में ब्राह्मण, बौद्ध एवं जैन सभी स्रोतों से सामग्री उपलब्ध होती है। लैटिन तथा ग्रीक भाषा की पुस्तकों में उनके जन्म एवं जीवन के विषय में प्रचुर उल्लेख हुआ है। चन्द्रगुप्त पर सामग्री के ब्राह्मण स्रोत हैं : पुराण, कौटिल्य (चाणक्य) का अर्थशास्त्र, विशाखदत्त का नाटक मुद्राराक्षस, सोमदेव का कथा सरित्सागर तथा क्षेमेंद्र की बृहत कथा मंजरी। बौद्ध स्रोतों में प्रमुख हैं : दीपवंश, महावंश टीका एवं महाबोधिवंश तथा लंकावतार सूत्र। जैन स्रोत जिनमें चन्द्रगुप्त के जन्म, जीवन अथवा पश्चात्वर्ती मुनि-जीवन के विषय में सामग्री दी गयी है, मुख्यतः हैं भद्रबाहु का कल्पसूत्र, हरिषेणकृत बृहत कथा कोश, रत्ननंदि कृत भद्रबाहु चरित, चिदानंद कवि कृत मुनिवंशाभ्युदय, देवचंद कृत राजावली कथा, आचार्य हेमचंद्र के त्रिषष्टीशलाका पुरुष का परिशिष्ट पर्व, नाम परिशिष्ट आदि ग्रंथ, शिलालेख तथा सिक्के।

जैन मान्यताओं (परिशिष्ट पर्व) के अनुसार चन्द्रगुप्त का जन्म एक मयूर पोषक ग्राम में उसके क्षत्रिय मुखिया की पुत्री के यहां हुआ था। कहा जाता है कि उस गांव के व्यक्ति अपने राज्य के मयूरों का संरक्षण करते थे। बौद्ध स्रोतों द्वारा भी उस मयूर पोषक ग्राम की पुष्टि हुई है। जिसके आधार पर यह माना जाता है कि उसी के कारण वह वंश मौरिय अथवा मौर्य्य नाम से प्रसिद्ध हुआ। कुछ ग्रन्थों में उनका जन्म शूद्र जाति से बताया गया है। कुछ दन्तकथाओं के आधार पर उनका जन्म नन्दवंश में मुरा नामक निम्न जाति की दासी से होने के कारण मौर्य पड़ना कहा गया है जो ठीक नहीं है। व्याकरण के नियमों के अनुसार मुरा से मौर्य विशेषण बन सकना सम्भव नहीं है। नंदनगढ़ के सम्राट अशोक के स्तंभ के आधार पर मोर की आकृति बनी है। सांची के स्तूप पर भी, जिसका सम्बन्ध अशोक से रहा है, मोर की आकृतियां बनी हैं। ग्रुनवेडेल, फाऊचर तथा सर जान मार्शल के मतानुसार मोर ही मौर्य वंश का राज्य चिह्न था। इससे भी यही निष्कर्ष निकलता है कि उस मयूर पोषक ग्राम से सम्बन्ध होने के कारण उनका वंश मौर्य वंश कहलाया।

चन्द्रगुप्त को मगध के भावी सम्राट के रूप में चयन करने का श्रेय महान विद्वान तथा कूटनीति में पारंगत आचार्य चाणक्य को है। जैन मान्यताओं के अनुसार चाणक्य का जन्म ई. पूर्व. 375 के लगभग बिहार के गौल्लविषय के अन्तर्गत चाणक अथवा चणय ग्राम में चणक नामक ब्राह्मण के घर हुआ था जिसकी जैन धर्म में अपार श्रद्धा थी। चणक की पत्नी का नाम था चणकेश्वरी। जन्म के समय ही शिशु के मुंह में दांत देखकर माता-पिता दोनों को ही दुख एवं आश्चर्य हुआ। श्रमण साधु द्वारा यह बताये जाने पर कि यह उसके नरेश होने का लक्षण है वह पति-पत्नि और अधिक सोच में पड़ गये। विद्वान साधु के वचनों पर अविश्वास करने को उनका मन न हुआ। साधारण स्थिति का वह सन्तोषी एवं व्रती श्रावक एक अपूर्व असमंजस की स्थिति में पड़ गया। उसको कदापि यह उचित नहीं लगा कि परिग्रह रखने वाले व युद्धों में हिंसा का खेल-खेलने वाले राजा का पालन-पोषण उसी के द्वारा हो। उसने शिशु के राज-लक्षण को ही नष्ट करने की ठान ली। उसके आदेश पर माता ने धीरे-धीरे शिशु के दांत घिसना

आरम्भ कर दिया। दांतों को नष्ट कर देने के पश्चात चणक ने खोजकर साधु के दर्शन कर विनीत भाव से उनको दांत घिसने की बात बताकर फिर बालक के भविष्य के विषय में पूछा। साधु का उत्तर मिला "यद्यपि दांत घिस दिये गये हैं किन्तु उनकी जड़ें अभी भी शेष हैं। अतएव वह स्वयं तो राजा नहीं बनेगा किन्तु किसी राज्य की जड़ें अवश्य जमायेगा। चाणक्य नाम से वह अपनी अपूर्व बुद्धि, युक्ति तथा राजनीति कौशल के कारण अत्यन्त प्रसिद्ध होगा।"

ज्ञानी पिता ने पुत्र चाणक्य को मनोयोग से धर्म, दर्शन, इतिहास, ज्योतिष आदि अनेक विद्यायें सिखायीं। तक्षशिला तथा उसके निकटवर्ती स्थानों में रहने वाले आचार्यों के निकट श्रावक चाणक्य ने छः अंग-शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष और कल्प, चार वेद—ॠग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद-, मीमांसा, न्याय, पुराण एवं धर्मशास्त्र इन चौदह विद्याओं का अध्ययन किया और उनमें पारंगत हो गया। चाणक्य एक अद्भुत ज्ञानी व्यक्ति बन गया, अनेक विद्याओं में विशेष निपुण एवं पारंगत। शिक्षा समाप्त हो जाने के पश्चात उसके पिता ने एक ब्राह्मण की कन्या से उसका विवाह कर दिया और वह शिक्षक वृत्ति से साधारण रूप में जीवन व्यतीत करने लगा। विवाह के पश्चात ससुराल में अपने साले के विवाह के समय पत्नि यशोमती की तीन बहिनों आदि ने उसकी दरिद्रता पर उपहास किया। पत्नी के दुखी मन से घर लौटने पर चाणक्य को अपनी निर्धनता पर गहरी वेदना हुई। उसने घर से निकलकर धन उपार्जन का दृढ़ निश्चय किया। नियति सम्भवतया उसके महापुरुष बनने के लिए मार्ग प्रशस्त कर रही थी। यह उल्लेखनीय है कि जैन परम्परा के अतिरिक्त अन्य किसी परम्परा में चाणक्य के विवाह का उल्लेख नहीं मिलता।

उसने मगध सम्राट नंदवंशी (नवनंद वंशी) महापद्मनन्द के अत्यधिक धनी होने, उसके दानशील होने तथा पाटलिपुत्र के वैभव के विषय में सुन लिया था। ज्ञान की गरिमा से मंडित चाणक्य महाराजा महापद्मनन्द की राजधानी पाटलिपुत्र पहुंचा और वहां शास्त्रार्थ में राज्य-सभा के विद्वानों को चुनौती देकर पराजित किया। प्रसन्न होकर सम्राट ने उसको दानशाला का प्रधान (संघ ब्राह्मण) नियुक्त किया। राज्य में प्रभाव एवं यश बढ़ने के साथ-साथ चाणक्य का अहंकार तथा उद्दण्डता भी बढ़ते रहे। एक दिन चाणक्य ने अप्रत्याशित कांड कर दिया। दानशाला में वह राजा के लिए निश्चित आसन पर बैठ गया। जब नन्दराज दानशाला में आया तो उसने सेवक को चाणक्य के लिए दूसरा आसन देने का निर्देश दिया। दूसरा आसन दिये जाने पर उसने उस पर अपना जलपात्र रख दिया तथा अन्य आसन दिये जाने पर उसने उन पर क्रमशः अपना दन्ड, माला आदि रख दिये। इस प्रकार अनेक आसन दिए जाने पर भी चाणक्य ने सम्राट का आसन रिक्त नहीं किया तो परिचारक ने लात मारकर उसको आसन से उठा दिया। क्रोधी एवं अहंकारी चाणक्य के क्रोध की सीमा न रही। जन समुदाय के सम्मुख उसने प्रण किया कि नन्दवंश को नष्ट कर देने के पश्चात ही वह चैन से बैठेगा।

बौद्ध स्रोतों के अनुसार चाणक्य तक्षशिला का निवासी था और उसके अपमान की घटना स्वयं धननन्द के राज्यकाल की है। स्वयं धनानन्द ने ही उसको अपने यहां से निष्कासित किया था। चन्द्रगुप्त के जन्म एवं चाणक्य के अपमान की घटनाएँ ई. पू. 345 के लगभग हुई।

बौद्ध कृति बौद्धवंश टीका के अनुसार नन्द नौ भाई थे, जिनमें से ज्येष्ठ भ्राता ही उनका चुना हुआ नेता था। वह देश में लूटमार करके जीवन व्यतीत करते थे तथा उनका आहार एवं पान भी ठीक नहीं था। ज्येष्ठ भ्राता ने अपने को नन्द घोषित किया और राज्य सत्ता में आने का निश्चय किया। उसने सेना का गठन किया तथा जनता को त्रस्त करते हुए भूमि पर अधिकार करना आरम्भ कर दिया। अंत में उसने पाटलिपुत्र पर आक्रमण किया एवं वहां का शासक बन बैठा। कुछ ही समय पश्चात उसकी मृत्यु हो जाने पर उसका छोटा भाई सिंहासन पर बैठा। उन नौ नन्दों में धनानन्द ही सबसे छोटा था। धन एकत्रित करने की लालसा के कारण ही उसका अपरनाम धनानन्द पड़ गया था। जिस समय चाणक्य उसके दरबार में पहुंचा उस समय तक उसकी धन-संग्रह प्रवृति यथेष्ट बदल चुकी थी और उसने दान देना आरम्भ कर दिया था। उसने एक संघ के अंतर्गत एक दानशाला स्थापित की थी, जिसका प्रमुख वह ब्राह्मण को ही नियुक्त करता था। चाणक्य की विद्वता से प्रसन्न होकर उसी को दान-शाला का प्रमुख नियुक्त किया था किन्तु चाणक्य के अहंकार, उग्र स्वभाव तथा कुरूपता के कारण धनानन्द ने उसको अपने यहां से अपमानपूर्वक निष्काषित कर दिया। सम्राट के सैनिकों की पकड़ में आने से बचने के लिए वह वस्त्रविहीन होकर नग्न हो गया और भागकर प्रासाद के एक एकांत स्थान में जा छिपा और युक्तिपूर्वक वहां से छद्मवेश में बच निकलने में सफलता प्राप्त की। बौद्ध साहित्य में यह भी उल्लेख है कि वह भागकर जंगलों में जा छिपा जहां उसने रसायन विद्या के प्रयोग से एक कहापण को आठ कहापणों में परिवर्तित किया और इस प्रकार बनाये हुए 80 कोटि कहापणों को वहां वन में भूमिगत कर दिया।

चाणक्य के सम्मुख अब एक ही उद्देश्य था मगध के लिए भावी शासक की खोज जिसके माध्यम से वह नन्दवंश का उच्छेद करके नये राजवंश की स्थापना करे।

तराई प्रदेश में पिप्पली वन के मोरियों का गणतंत्र स्थापित था। वे लोग व्रात्य क्षत्रिय थे। भगवान महावीर के एक गणधर मोरियपुत्र भी इसी जाति से थे। इस जाति को जैन धर्म के प्रति श्रद्धा थी। इनका एक पूरा ग्राम मयूर पोषकों का ही था। दिगम्बर साधुओं, ऐलकों तथा क्षुल्लकों के लिए, जो उस समय सहस्रों की संख्या में थे, मयूर पिच्छी की आवश्यकता रहने के कारण मयूर पोषण उनका व्यवसाय भी था। घूमते हुए चाणक्य एक दिन इसी ग्राम में पहुंचकर मोरियवंशी मुखिया के घर पर ठहरा। मुखिया की गर्भवती पुत्री को उसी समय चन्द्रपान करने का विचित्र दोहद उत्पन्न हुआ। चाणक्य ने मुखिया को उसकी पुत्री को चन्द्रपान कराने का आश्वासन दिया (उसने

अनुमान लगा लिया था कि उत्पन्न होने पर ऐसा बालक अवश्य ही विशेष प्रतिभाशाली होगा)। इसके बदले में उसने पहिले ही यह शर्त रखी कि पुत्र उत्पन्न होने पर उसकी शिक्षा आदि तथा भविष्य निर्माण का उत्तरदायित्व उसके ही ऊपर रहेगा और उसके लिए जब वह चाहेगा बालक को अपने साथ ले जायेगा। चाणक्य की विद्वत्ता से प्रभावित होकर मुखिया ने वह शर्त मान ली।

चाणक्य ने गुप्त रूप से गांव के एक व्यक्ति को मुखिया के घर पर चढ़ते और उसके कहे अनुसार कार्य करने के लिए तैयार कर लिया। युक्तिपूर्वक जल की थाली में चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब को दिखाकर और उस जल का गर्भवती को पान कराकर चाणक्य ने उसका दोहद शांत कर दिया। मुखिया के भेंट देने पर चाणक्य ने कुछ भी स्वीकार नहीं किया और प्रातःकाल में आहार लेकर वहां से चला गया। कुछ माह उपरांत पुत्रोत्पत्ति पर माता के दोहद में चन्द्रपान करने के कारण उसका नाम चन्द्रगुप्त रखा गया। मौर्य गणतंत्र में होने के कारण उसके नाम के साथ मौर्य शब्द सम्बद्ध हुआ।

आठ-दस वर्ष पश्चात चाणक्य फिर उसी ग्राम में आया। ग्राम के बाहर वन में कुछ बालक खेल रहे थे। एक तेजस्वी बालक उनमें राजा बना हुआ था तथा नेतृत्व के अन्य कार्य कर रहा था।

बौद्ध साहित्य के अनुसार चाणक्य घूमते हुए उस गांव में आया जहां चन्द्रगुप्त अपनी बाल्यावस्था में जंगल में अपने साथियों सहित पशु चरा रहा था। बालकों का दल राजा-प्रजा का खेल-खेल रहा था। उसको देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि उनमें एक बालक राजा जैसा स्वाभाविक सहज व्यवहार कर रहा है तथा सभी बालक उसकी आज्ञा से बंधे हुए हैं। वह बालकों को हाथी, घोड़े स्वरूप समझकर उन पर सवारी भी कर रहा है। कौतुक कचहरी बनाकर न्यायाधीश जैसा उचित फैसला भी दे रहा है। 'राजकोलम' नामक खेल का आविष्कार कर वह ग्रामीण बालक अपने जन्मजात नेता होने का परिचय दे रहा था। चाणक्य की पैनी दृष्टि से यह छिपा न रहा सका कि जटिल समस्याओं को हल करने की बालक में आरम्भिक काल से ही अपूर्व क्षमता है। चाणक्य ने बच्चे की नेतृत्व शक्ति की परीक्षा के लिए उससे कोई भी उपहार भेंट मांगा "महाराज आप बड़े नरेश हैं मुझ ब्राह्मण को भी कुछ दान दें।" बालक ने राजसी मुद्रा में गायों के झुण्ड की ओर इंगित करते हुए चाणक्य से कहा कि वह इन्हें ले जा सकते हैं। चाणक्य ने ध्यान से देखा कि न तो बालक ने उसके लिए अपने साथियों से उनकी गाय देने के लिए पूछा और न ही साथियों का साहस हुआ कि वह बालक की उस आज्ञा का प्रतिरोध करें। चाणक्य द्वारा यह कहने पर कि इस प्रकार बिना अनुमति के गाय लेने से उनके स्वामियों से संघर्ष हो सकता है बालक ने उत्तर दिया "वीरभोग्या वसुन्धरा"। चाणक्य बालक चन्द्रगुप्त के इन सब लक्षणों एवं साहस से अत्यंत प्रसन्न एवं आश्वस्त हुआ। उसे बालकों से यह जानकर और प्रसन्नता हुई कि वह उसी मुखिया की लड़की का पुत्र है जिसका उसने चन्द्रपान द्वारा दोहद शांत कराया था। चन्द्रगुप्त को स्नेह

की दृष्टि से देखते हुए, सहलाते हुए चाणक्य ने बताया कि उसी ने उसकी माता का दोहद शांत किया था। उसे अपनी योजना सिद्धि के लिए भावी सम्राट मिल गया था।

चाणक्य ने बालक को ले लिया और उसको एक स्वर्ण माला से सज्जित किया। भावी सम्राट के प्रति उसका यह प्रथम स्नेह तथा आदर था। बालक चन्द्रगुप्त को, जिसकी अवस्था उस समय केवल 8-9 वर्ष की थी, चाणक्य अपने साथ ले आया और तक्षशिला में सात-आठ वर्ष के परिश्रम से उसे युद्ध-विद्या सहित अनेक विद्याओं में भली-भांति प्रशिक्षित किया।

चाणक्य को विदित था कि यूनानी युद्ध-विद्या में निपुण हैं अतएव उसने चतुराई से चन्द्रगुप्त को यूनानी सेना, में, जो भारत में थी, भरती कर दिया जिससे कि वह सेना-संचालन में निपुण हो जाये। चन्द्रगुप्त ने वहां पर युद्ध विद्या तथा यूनानियों के गुण एवं दोष दोनों को देखा भी। गुप्तचरी के सन्देह में उसे एक दिन बन्दी बना लिया गया। सेनाध्यक्ष ने उसे अपने सामने प्रस्तुत किए जाने पर उसके साहस एवं आत्म-विश्वास से प्रभावित होकर बन्धन मुक्त कर दिया।

जब चाणक्य आश्वस्त हो गया कि किशोर चन्द्रगुप्त अब सेना का नेतृत्व तथा नियंत्रण कर सकता है तब उन्होंने सेना की भरती आरम्भ की। महावंश टीका में उल्लेख है कि तक्षशिला में चन्द्रगुप्त की सैनिक शिक्षा समाप्त हो जाने के पश्चात् चाणक्य तथा चन्द्रगुप्त दोनों अलग-अलग स्थानों से सैनिक ढूंढने निकल पड़े और सेना के नायक बने चन्द्रगुप्त। उन दोनों ने मिलकर धीरे-धीरे शक्ति बढ़ाना आरम्भ किया। उनका अब सर्वप्रथम कार्य था यूनानियों से पंजाब एवं सिन्ध के उस भाग को मुक्त कराना जिस पर सिकंदर महान ने ई० पू. मई 327 से लेकर ई. पू. मई 324 के मध्य भारत पर किए गए आक्रमण के समय अधिकार कर लिया था। खैबर घाटी से भारत में प्रवेश कर सिकन्दर ने आरम्भ में सिन्ध घाटी की जातियों को एक-एक करके पराजित किया था। ई. पू. 326 में उसने ओहिन्द नामक स्थान पर नावों का पुल बनवाकर सिन्धु नदी को पार किया और तक्षशिला की ओर बढ़ा। उन दिनों तक्षशिला में अम्भी नामक राजा का शासन था। युद्ध करने के स्थान पर अम्भी ने सिकन्दर का आदर कर उसकी मित्रता प्राप्त की। देश का दुर्भाग्य कि यह सब उसने अपने पड़ोसी एवं प्रबल शत्रु राजा पुरु (ग्रीक नाम पोरस) के राज्य पर, जो झेलम एवं चिनाब नदियों के मध्यवर्ती प्रदेश दोआबे में था, आक्रमण की योजना बनाने के लिए किया था। सिकन्दर द्वारा अधीनता स्वीकार करने का संदेश भेजे जाने पर और राजा पुरु द्वारा उसे अस्वीकृत किये जाने पर दोनों के मध्य युद्ध अवश्यम्भावी हो गया। एक विशाल एवं बलशाली सेना के होने तथा पुरु के अपनी पूर्ण शक्ति से लड़ने के उपरांत भी यूनानियों द्वारा चतुराई से युद्ध लड़ा जाने के कारण विजय सिकन्दर की ही हुई। राजा पुरु बन्दी बना लिया गया किन्तु निर्भीकता पूर्वक वीरोचित उत्तर देने के कारण सिकन्दर ने उसे मुक्त कर दिया। इसके पश्चात् चिनाब एवं रावी नदी के मध्य बसे कुछ कबीलों

के नगरों तथा छोटे पुरु के राज्य को विजित करके सिकन्दर ने उन्हें अपने मित्र बड़े पुरु को दे दिया। उसके पश्चात् रावी नदी को पार कर सिकन्दर ने रावी एवं ब्यास नदी के मध्य के भागों में बसे स्वतंत्र कबीलों से युद्ध किया। उसके पश्चात् सिकन्दर ब्यास नदी तक बढ़ा किन्तु ब्यास के पार मगध की शक्तिशाली सेना के भय, अपने देश यूनान से काफी समय तक दूर रहने तथा निरन्तर युद्धों से थक जाने के कारण सेना के और आगे जाने से इन्कार कर दिये जाने के कारण वह वापिस लौटने पर विवश हुआ।

झेलम के उसी मार्ग से जिससे वह आया था सिकन्दर वापिस लौटा। वापसी में भी उसको शिवि, क्षुद्रक, मलोई, मेन्सीकेनो, अग्रोह इत्यादि जातियों के साथ युद्ध करना पड़ा। अग्रोह के स्वतंत्रता प्रेमी निवासी, वर्तमान अग्रवालों के पूर्वज, अत्यंत वीरता के साथ लड़े। उन्होंने यूनानी सैनिकों के छक्के छुड़ा दिए। किन्तु यूनानियों की विशाल सेना के सम्मुख उनकी छोटी-सी सेना कब तक टिकती अन्ततः वे पराजित हुए। बीस सहस्त्र स्त्री-बच्चों ने जौहर द्वारा अपना अंत कर लिया। इतिहास में जौहर का वह एक विशालतम उदाहरण बना।

सिन्धु में तो ब्राह्मणों ने भी सिकन्दर की सेना के विरुद्ध शस्त्र धारण कर लिए थे। सिकन्दर को अपने वतन की मिट्टी नसीब न हो सकी। 33 वर्ष की आयु में ई. पू. 323 में बेबीलोन में उसका देहान्त हो गया। लौटते समय वह अपने द्वारा विजित भारतीय भू-भाग को राजा पुरु एवं अम्भी में बांट गया था और सेनापति फिलिप्स को सिंध प्रान्त का राज्यपाल नियुक्त कर गया था।

ई. पूर्व 325 एवं ई. पू. 323 के मध्य यूनान साम्राज्य को अपने दो प्रमुख सेनापतियों निकानौर तथा फिलिप्स (सिन्ध का राज्यपाल) का वध कर दिये जाने के कारण भारी क्षति पहुंची। उसके कारण भारत में यूनानी सत्ता नगण्य रूप में ही रह गई। ई. पू. 323 में सिकन्दर की मृत्यु हो जाने पर उसके शेष सेनापतियों ने उसके साम्राज्य को आपस में बांट लिया और भारत में यूनानियों की स्थिति और भी निर्बल हो गई।

सिकन्दर के भारत से वापिस जाने के पश्चात ही चन्द्रगुप्त ने पंजाब के वाह्लीकों को उभार कर यूनानी सत्ता के विरुद्ध विद्रोह करा दिया। बहुत सा प्रदेश उसने यूनानियों से स्वतंत्र कराया। ई. पू. 321 तक तो भारतीय भू-भाग यूनानियों से पूर्णतया मुक्त हो गया था जिसको यूनानी लेखकों ने भी स्वीकृत किया है।

ई. पू. 323 के लगभग चाणक्य के निर्देशन में चन्द्रगुप्त ने अपना एक छोटा-सा राज्य नन्दों के मगध साम्राज्य की सीमा पर स्थापित कर लिया। शीघ्रता में ई. पू. 321 के लगभग चन्द्रगुप्त एवं चाणक्य ने एक छोटी सी सेना लेकर छद्मवेश में पाटलिपुत्र पहुंच कर वहां आक्रमण कर दिया। नन्द की विशाल सेना के सम्मुख चाणक्य का कूट-कौशल सफल न हो सका। वह दोनों बुरी तरह परास्त हुए और प्राण बचाने के लिए भाग निकले। पीछा कर रही नन्द की सेना से दो बार पकड़े जाने पर

युक्तिपूर्वक बचे। भाग-दौड़ में एक बार भूख से मरणासन्न होते हुए चन्द्रगुप्त की चाणक्य ने जीवन रक्षा भी की। जस्टिन ने भी लिखा है कि चन्द्रगुप्त ने स्थानीय निवासियों को सेना में भरती कर नन्द की राजधानी पाटलिपुत्र पर आक्रमण किया जिसमें वह पराजित हुआ। उसकी सेना नष्ट हो गई और उनको प्राण बचाने के लिए भाग कर जंगलों में छिपना पड़ा। यहीं उन्होंने पराजय के कारणों का पता लगाने का विचार किया। इसके लिए वे वेश बदल कर अनेक स्थानों पर घूमते रहे जहां रात्रि में वह विभिन्न व्यक्तियों के विचार जानने के प्रयास करते थे।

जैन एवं बौद्ध दोनों ही साहित्यों में उल्लेख मिलता है कि पराजित होने के पश्चात भटकने की अवस्था में वह दोनों किसी वन-प्रान्तर के गांव में पहुंचे। एक झोंपड़ी के बाहर जब वह खड़े थे तो देखा कि एक मां अपने बेटे को भोजन करा रही थी। शीघ्रता के कारण पुत्र ने गर्म खिचड़ी के मध्य में हाथ डाल दिया था जिससे उसकी अंगुलियां जल गई थीं। इस पर बुढ़िया ने उपालम्भ दिया "तू भी चाणक्य एवं चन्द्रगुप्त की तरह मूर्ख है जिन्होंने सीमावर्ती राज्यों को क्रमशः विजित करने के स्थान पर सीधे पाटलिपुत्र पर ही आक्रमण कर मगध की विशाल सेना से पराजय प्राप्त की है। तू ऐसी भूल न कर और खिचड़ी को ठंडे होते छोरों की ओर से खाना आरम्भ कर"।

इसी विषय को एक अन्य प्रकार से भी व्यक्त किया गया है। पराजित होने के पश्चात् उसका कारण जानने के लिए वे वेश बदल कर घूमने लगे। रात को किसी ग्राम या नगर में विश्राम कर स्थानीय लोगों के विचार जानने के प्रयत्न करते थे। एकबार चन्द्रगुप्त ने एक ग्रामवासी के यहां शरण ली। घर की स्वामिनी ने रोटी बना कर अपने पुत्र को दी। बच्चे ने रोटियों के किनारों को फेंक कर बीच का भाग खा लिया और रोटी मांगी। इस पर बुढ़िया ने उपालम्भ दिया कि तू भी चन्द्रगुप्त के समान ही मूर्खता कर रहा है। किनारा-किनारा छोड़ कर केवल मध्य का भाग खा रहा है।

उपरोक्त बात चाणक्य एवं चन्द्रगुप्त को भली-भांति जंच गई। उन्होंने अपनी भूल पर विचार किया तथा भावी युद्ध-योजना अब कौशलपूर्वक बनाई। नवीन उत्साह एवं युक्ति-कौशल से उन्होंने पुनः तैयारी आरम्भ की। चाणक्य ने विन्ध्य के वन प्रदेश से अपने भूमिगत कोष को निकाल कर विशाल सेना की भरती आरम्भ की। पंजाब के मल्लि या मालव गणतंत्र को भी उन्होंने अपना सहायक बनाया। चाणक्य फिर उत्तर में हिमालय क्षेत्र में, हिमवतकूट (गोकर्ण) गए और वहां के शासक किरातवंशी पर्वतक से विजित साम्राज्य का आधा भाग देने का आश्वासन देकर मैत्री कर सन्धि की। विशेषकर इसी सन्धि के कारण चन्द्रगुप्त को अपनी सेना के लिए शक, किरात, काम्बोज, पारसीक, बाह्लीक तथा यवन (सम्भवतया यूनानी) जातियों के सैनिक प्राप्त हुए।

चन्द्रगुप्त एवं पर्वतक ने संयुक्त रूप से सैन्य वृद्धि कर सेना का गठन कर

सीमान्त प्रदेशों में अपना विजय अभियान आरम्भ किया। मार्ग में पड़ने वाले जिन राज्यों एवं जनपदों पर वह विजय प्राप्त करते थे वहां पर अपनी सेना नियुक्त कर देते थे। मगध के सीमावर्ती राज्यों को धीरे-धीरे विजित करते हुए अंत में उन्होंने मगध की राजधानी पाटलिपुत्र पर घेरा डाल दिया। उनका सामना एक महान साम्राज्य एवं उसकी विशाल सेना से था। विजय उतनी सरल नहीं थी। चार वर्ष तक घेरा बन्दी तथा युद्ध चलता रहा। चन्द्रगुप्त की विलक्षण सैन्य संचालन शक्ति, पर्वतक की बर्बर युद्ध-प्रियता तथा आचार्य चाणक्य की कूटनीति इन तीनों का ही मगध के ऊपर आक्रमण एवं उसकी घेराबन्दी में संयोग हुआ था। आक्रमण के अतिरिक्त चाणक्य के परामर्श से नन्दों के राज्य में फूट एवं षड्यंत्र भी रचाए गए। भीषण युद्ध हुआ। सभी नन्द वीरतापूर्वक लड़े। धनानन्द आदि आठों नन्दकुमार युद्ध में काम आए। नन्दों का कोष, सैन्यबल, सामर्थ्य तथा विक्रम अब क्षीण हो चुके थे। वृद्ध महापद्मनन्द ने विवश होकर धर्मद्वार नामक प्रमुख नगरद्वार के निकट शस्त्र डाल दिए और आत्मसमर्पण कर चाणक्य को धर्म की दुहाई देकर अपने को जीवित छोड़ दिए जाने तथा राज्य से बाहर चले जाने की याचना की। चाणक्य की उद्देश्य पूर्ति अब हो ही चुकी थी। अतएव उसने उदारतापूर्वक महापद्मनन्द को एक रथ में जितना धन तथा वस्तुएं आयें उतना लेकर सपरिवार चले जाने की अनुमति दे दी। वृद्ध नन्द एक रथ में कुछ धन व आवश्यक वस्तुएँ, अपनी दो पत्नियों तथा एक पुत्री दुर्द्धरा अपरनाम सुप्रभा के साथ पाटलिपुत्र का परित्याग कर चल दिए। जाते हुए मार्ग में सुप्रभा एवं चन्द्रगुप्त एक दूसरे को देखते ही परस्पर मोहित हो गए। पिता नन्द एवं गुरु चाणक्य से दोनों की यह दशा छिपी न रह सकी। उन्होंने दोनों का विवाह करने की अनुमति दे दी। सुप्रभा पिता के रथ से कूद कर चन्द्रगुप्त के रथ पर आ बैठी। उन दोनों का विवाह हो गया। महापद्मनन्द प्रवास में चले गए। ई. पू. 317 में इस प्रकार मगध में सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य का साम्राज्य स्थापित हो गया।

ई. पू. 317 में मगध के नन्दवंश का पतन होने के पश्चात् भी उज्जयिनी में नन्दों के कुछ वंशज अथवा सम्बन्धी स्वतंत्र बने रहे प्रतीत होते हैं जिसके कारण कुछ जैन अनुश्रुतियों में नन्दवंश का पतन ई. पू. 317 में तथा कुछ में ई. पू. 312 में कहा गया है।

इसी सन्दर्भ में जैन इतिहास की दृष्टि से नन्दवंश का सूक्ष्म परिचय देना आवश्यक प्रतीत होता है। ई. पू. 467 में मगध में नन्दवंश नामक एक नए वंश का प्रारम्भ हुआ। इस नवीन वंश के प्रथम सम्राट का नाम भिन्न-भिन्न अनुश्रुतियों में शिशुनाग, काकवर्ण, कालाशोक, नन्दिवर्धन, अवन्तिवर्धन, व्रात्यनन्दि, महानन्दि आदि मिलता है जिसमें कई नामों का समीकरण कर दिया गया प्रतीत होता है। ऐसा लगता है कि उसका नाम व्रात्यनन्दि शिशुनाग था और वह पूर्व नरेश का पुत्र आदि न होकर कोई दूर का सम्बन्धी था। किन्तु मूलतः वह शैशुनाक वंश से ही सम्बंधित था। वह

और उसके कुछ वंशज पूर्व नन्दों के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। उसने ई. पू. 449 तक 18 वर्ष पर्यन्त मगध पर राज्य किया। उसका उत्तराधिकारी हुआ नन्दिवर्धन काकवर्ण कालाशोक, जिसने ई. पू. 449 से ई. पू. 407 तक 42 वर्ष पर्यन्त राज्य किया। वह इस वंश का सर्व-प्रसिद्ध मगध सम्राट हुआ है। उसीने ई. पू. 424 में कलिंग विजय के समय वहाँ से कलिंग जिन नामक जैन प्रतिमा को लाकर अपनी राजधानी में स्थापित किया था। कहा जाता है कि नन्दिवर्धन की हत्या मकटार द्वारा की गई थी। उसके पश्चात् उसका पुत्र महानन्दिन सिंहासनारूढ़ हुआ। महानन्दिन के स्वेच्छा से राज्य त्याग करने के उपरांत मगध में एक घरेलू राज्य क्रान्ति हुई। उस परिस्थिति का लाभ उठाकर एक चतुर तथा साहसी युवक महापद्मनंद ने सिंहासन पर अधिकार कर लिया। उसका नाम सर्वार्थसिद्धि भी मिलता है भ्रम से उसे धनान्द अथवा धनान्द भी कहा गया है। किन्तु धनान्द नाम उसका नहीं अपितु उसके ज्येष्ठ पुत्र युवराज हिरण्य-गुप्त या हरिगुप्त का अपरनाम उसकी धन-संग्रह प्रवृत्ति के कारण रहा प्रतीत होता है। महापद्मनन्द के जन्म के विषय में विभिन्न प्रकार से कहा जाता है। उसे राजा का दासी-पुत्र अथवा गणिका-पुत्र अथवा राजा की एक रानी से एक नाई दिवाकीर्ति के अवैध सम्बन्ध से उत्पन्न पुत्र भी कहा गया है। महापद्मनन्द के इस वंश को उत्तरनन्द या नवनन्द वंश भी कहा गया है।

महापद्मनन्द के समय में मगध देश के जैन संघ के आचार्य स्थूलभद्र थे। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि पूर्व नन्दों की भांति महापद्मनन्द एवं उनके पुत्र भी जैन धर्म के अनुयायी थे। ई० पू० 363 में मगध का साम्राज्य हस्तगत कर, ई. पू. 329 तक 34 वर्ष पर्यन्त मगध पर राज्य कर महापद्मनन्द ने उसे धनान्द आदि आठ पुत्रों को संयुक्त रूप से सौंप दिया था। ई. पू. 329 से लेकर ई. पू. 317 तक, अर्थात् नवनंद वंश के पाटलिपुत्र में पतन तक, धनानन्द आदि भाई ही राज्य कर रहे थे। इस प्रकार निष्कर्ष निकलता है कि चाणक्य के अपमान के समय मगध के सम्राट महापद्मनन्द थे और धनानन्द युवराज। चाणक्य एवं चन्द्रगुप्त द्वारा मगध पर किए गए दोनों आक्रमणों के समय शासन धनानन्द आदि भाईयों के हाथों में था।

नन्द साम्राज्य बहुत विस्तृत था। नन्दों ने इक्ष्वाकु, पाञ्चाल, काशीय, हैहया, कलिंग, अश्मक, कुरु मैथिल, शोरसेन, वितिहोत्र राज्यों को विजित कर अपने अधीन किया था। इसके प्रत्यक्ष उल्लेख हैं कि नन्दों के अधिकार में कलिंग भी था। भुवनेश्वर के निकट उदयगिरि पहाड़ी में हाथी गुम्फा में महाराजा खारवेल द्वारा उत्कीर्ण सतरह पंक्तियों वाले ई. पू. प्रथम शताब्दी के लेख में उल्लेख हुआ है कि जिस जिन-प्रतिमा (कलिंग जिन) को मगध के नन्द (नन्दिवर्धन) कलिंग से ले गए थे उसको खारवेल मगध से वापिस लाए। नन्दों का साम्राज्य दक्षिण में मैसूर के उत्तर में कुन्तल तक फैला हुआ था। महत्वाकांक्षी चाणक्य एवं चन्द्रगुप्त मगध विजय में प्राप्त केवल उतने ही राज्य से सन्तुष्ट नहीं रहे। उनका उद्देश्य तो भारत के अधिकतम भाग में एक छत्री

सार्वभौम सत्ता को स्थापित करना था, जिससे कि देश के छोटे-छोटे राज्य आपसी युद्धों से तथा बाह्य आक्रमणों के प्रभाव से बचे रह सकें। उन्होंने अपने राज्य को भारत की सीमा के बाहर उत्तर-पश्चिम में पारस तक विस्तृत किया था।

चाणक्य सम्राट चन्द्रगुप्त का एक नीति-निपुण प्रधान-मंत्री एवंगुरू अमात्य था। उसने धीरे-धीरे स्वयं उससे तथा चन्द्रगुप्त से वैर रखने वाले व्यक्तियों से भी चतुराई से मित्रता की। युद्ध हो अथवा युद्धोत्तर काल साम, दाम, दन्ड एवं भेद नीति का वह प्रबल समर्थक रहा। उसकी उन्हीं नीतियों के कारण चन्द्रगुप्त को युद्धों में विजय पर विजय मिलती रही एवं उसका मार्ग निष्कंटक होता रहा। नन्द साम्राज्य के पतन के पश्चात कुछ काल तक उस वंश का स्वामीभक्त मंत्री राक्षस चन्द्रगुप्त के प्राण लेने के प्रयास में लगा रहा। षड़यंत्र द्वारा राक्षस ने विजय अभियान से लौटते हुए चन्द्रगुप्त के रथ के आगे एक विष कन्या को भेज दिया। विष कन्या के चन्द्रगुप्त के रथ के आगे आने पर चाणक्य ने उसे चन्द्रगुप्त के रथ पर बैठने से रोक कर उस रूपवती कन्या को राजा पर्वतक द्वारा ग्रहण कराया। उद्दाम आवेग में जैसे ही पर्वतक ने विष कन्या का हाथ पकड़ा उसके पसीजे हुए हाथ का पसीना उसके लिए प्राणघातक बन गया। पर्वतक जीवित न रहा। यह भी चतुर चाणक्य की कौशल नीति का एक उदाहरण था। वह जानता था कि मगध के युद्ध में बराबर साथी रहने के कारण तथा सन्धि के अनुसार पर्वतक भी साम्राज्य के आधे भाग का अधिकारी बनेगा और कभी न कभी चन्द्रगुप्त एवं उसमें भयंकर युद्ध ठनेगा। कौशल से उसने विषकन्या से चन्द्रगुप्त के प्राणों की रक्षा तो की ही साथ ही साथ एक भावी महान संकट को भी समाप्त कर दिया। विषकन्या के उस प्रसंग से सतर्क होकर चाणक्य ने चन्द्रगुप्त को भविष्य में भी उनसे सुरक्षित रखने के लिए यह व्यवस्था की कि चन्द्रगुप्त के आहार में धीरे-धीरे विष की मात्रा बढ़ती रहे और वह विष का इतना अभ्यस्त हो जाए कि यदि कोई विषकन्या उसके सम्पर्क में आये तब भी चन्द्रगुप्त के प्राण संकट में न पड़ें। कहा जाता है कि एक दिन उसकी रानी सुप्रभा ने दोहद के कारण चन्द्रगुप्त की थाली में से भोजन का एक ग्रास उठाकर खा लिया। विष के प्रभाव के कारण राजमहिषी को तो बचाना असम्भव हुआ किन्तु शल्य क्रिया द्वारा माता के उदर से शिशु को बाहर निकाल कर उसकी प्राण रक्षा कर ली गई। शिशु के ललाट पर विष के प्रभाव के कारण केवल एक नीला बिन्दु ही बन कर रह गया जिसके कारण चन्द्रगुप्त ने बालक का नाम बिन्दुसार रखा। राक्षस सहित अन्य पुराने मंत्रियों-राजपुरुषों आदि को चाणक्य ने धीरे-धीरे चन्द्रगुप्त के पक्ष में कर लिया।

चाणक्य की मंत्रणा, चन्द्रगुप्त के प्रति अत्यंत सद्‌भाव तथा पुत्रवत स्नेह, स्वयं चन्द्रगुप्त के सैन्य-संचालन, कौशल, शक्ति संगठन एवं राज्य संचालन योग्यता के कारण मौर्य्य साम्राज्य में उत्तरोत्तर विस्तार होता गया। ई० पू० 312 में अवन्ति को विजित कर चन्द्रगुप्त ने उज्जयिनी को फिर से साम्राज्य की उपराजधानी बनाया।

अवन्ति को अधिकार में करने के पश्चात वह सेना सहित दक्षिण विजय के

लिए निकला। सौराष्ट्र द्वारा महाराष्ट्र में प्रवेश किया। 150 ईस्वी के रुद्रदामन के गिरनार (जूनागढ़) के शिलालेख में वर्णन है कि इस पर्वत की तलहटी में सुदर्शन नामक विशाल झील का निर्माण चन्द्रगुप्त ने अपने प्रान्तीय राष्ट्रीय (राज्यपाल) वैश्य पुष्यगुप्त की देखरेख में कराया।

उक्त झील के तट पर सम्राट चन्द्रगुप्त ने दिगम्बर साधुओं के निवास के लिए चन्द्रगुप्त आदि गुफाएं बनवाईं। इससे स्पष्ट है कि वर्तमान गुजरात का सौराष्ट्र प्रदेश चन्द्रगुप्त मौर्य्य ने अपने अधिकार में किया था। सम्राट चन्द्रगुप्त ने दक्षिण में भी विजय-यात्रा की। प्राचीन तमिल साहित्य, अनुश्रुतियों एवं शिलालेखों द्वारा मौर्य्यों के दक्षिण देश पर अधिकार की पुष्टि होती है। चन्द्रगुप्त के पौत्र अशोक के शिलालेखों में उल्लेख हुआ है कि दक्षिण में उसके (अशोक के) पड़ौसी चोल, पान्ड्य, सत्यपुत्र तथा केरलपुत्र हैं। अशोक ने कलिंग के अतिरिक्त अन्य कोई विजय नहीं की तथा चन्द्रगुप्त के पुत्र बिन्दुसार ने कोई भी विजय नहीं की। इस कारण माना जाता है कि दक्षिण देश को अपने अधिकार में स्वयं चन्द्रगुप्त मौर्य्य ही कर गए थे। मैक्सुलर एवं पारलार लिखते हैं कि चन्द्रगुप्त ने दक्षिण के कुछ भागों को विजित किया था। अन्य कई लेखों से भी विदित होता है चन्द्रगुप्त का उत्तरी मैसूर से पर्याप्त सम्बन्ध था। जैन-मुनि की दीक्षा लेने के पश्चात चन्द्रगुप्त का अपने गुरु आचार्य भद्रबाहु के साथ श्रवणबेलगोल में कटवप्र (चन्द्रगिरि) पर्वत पर दिगम्बर साधु चर्या में वहां प्रवास करने का निश्चय करना भी इसी की ओर इंगित करता है कि उन्होंने अपने ही साम्राज्य के भाग में शांतिपूर्वक साधना एवं तपस्या करना उचित समझा।

जितना विस्तृत चन्द्रगुप्त का साम्राज्य था उतनी ही विशाल थी उनकी सेना। अनुमान किया जाता है कि चन्द्रगुप्त की सेना में छः लाख पदाति, तीस सहस्त्र घुड़सवार, नौ सहस्त्र हाथी तथा आठ सहस्त्र रथ थे। यदि एक हाथी पर महावत के अतिरिक्त तीन धनुषधारियों का बैठना तथा एक रथ पर सारथी के अतिरिक्त दो धनुषधारियों का बैठना माना जाये तो उनकी सेना में इस प्रकार कुल व्यक्ति थे, छः लाख पदाति, तीस सहस्त्र घुड़सवार, छत्तीस सहस्त्र सैनिक हाथियों पर तथा चौबीस सहस्त्र सैनिक रथों पर। चन्द्रगुप्त की सेना में इस प्रकार कुल 6,90,000 सैनिक थे।

सिकन्दर की ई0 पू0 323 में मृत्यु होने के पश्चात उसके सेनापति सैल्युकस ने ई० पू० 311 तक बैबीलोन के शासक के रूप में अपनी स्थिति यथेष्ट सुदृढ़ कर ली थी। अब उसने सुदूर प्रान्तों में भी अपनी सत्ता को सुदृढ़ करने की ठानी। वह बैबीलोन, बखतारिया एवं अफगानिस्तान का शासक बन गया। ई० पू० 312-310 तक वह इतना शक्तिशाली हो गया था कि सिकन्दर के अन्य उत्तराधिकारी उसके सम्मुख लगभग दब गये थे। महत्वाकांक्षी सैल्युकस ने भी सिकन्दर महान के समान, वरन उससे अधिक कामना के साथ, दिग्विजय करने की ठानी। लगभग ई० पू० 305 में

उसने भारत में पंजाब एवं सिन्ध के उस भाग को जिसे चन्द्रगुप्त मौर्य्य ने मुक्त करा लिया था अपने अधिकार में लेने की योजना बनाई। इसके पश्चात उसका विचार मगध शासन पर आक्रमण करने का था। काबुल नदी के किनारे वाले मार्ग से चल कर सिन्धु नदी पार कर उसने ससैन्य भारत की सीमा में प्रवेश किया। किन्तु अब वह सिकन्दर के समय का छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त देश नहीं था। अब उसको सामना करना था एक महान सम्राट चन्द्रगुप्त से तथा उसकी सुगठित एवं सुशिक्षित विशाल सेना से जिस सब को अमात्य चाणक्य की अपूर्व बुद्धि एवं मंत्रणा का बल प्राप्त था। मौर्य्य सेना ने आगे बढ़कर आक्रमण की गति को रोका। स्वयं सम्राट चन्द्रगुप्त ने सेना का संचालन किया जो यूनानियों के युद्ध कौशल तथा उनके गुण एवं दोषों से परिचित थे। भीषण युद्ध हुआ और सैल्युकस की सेना पराजित हुई। वह स्वयं बन्दी बना लिया गया और उसे चन्द्रगुप्त से सन्धि करने पर विवश होना पड़ा। लेने के स्थान पर सैल्युकस को देना पड़ गया। सन्धि के अनुसार उसको सम्राट चन्द्रगुप्त को कन्धार एवं काबुल के प्रान्त तथा हिरात एवं बलूचिस्तान के कुछ भाग देने पड़े। इसके अतिरिक्त कम्बोज (बदख्शा) और पामीर भी चन्द्रगुप्त के अधीन हुए। चन्द्रगुप्त ने अपनी सेना के 500 हाथी सैल्युकस को मैत्री स्वरूप भेंट किये। सम्भवतया सैल्युकस ने अपनी पुत्री हेलेन का विवाह भी चन्द्रगुप्त के साथ किया। सैल्युकस ने एक यूनानी राजदूत मैगेस्थनीज को चन्द्रगुप्त के दरबार में भेजा जहां पर वह ई० पू० 303 से ई० पू० 299 पर्यन्त रहा। मैगेस्थनीज ने चन्द्रगुप्त, उसकी दिनचर्या, राजधानी पाटलिपुत्र, शासन व्यवस्था, लोक दशा, रीति-रिवाजों आदि का वर्णन अपनी पुस्तक 'इन्डिका' में किया। वह उस समय के भारत का एक सुन्दर इतिहास था किन्तु मैगेस्थनीज के वह मूल वृतांत नष्ट हो गये। उसके दो-तीन सौ वर्ष पश्चात जिन यूनानी इतिहासकारों ने भारत का सिकन्दर एवं सैल्युकस कालीन इतिहास लिखा उन्हें मैगेस्थनीज के वह विवरण वहां प्राप्त थे। अतः मैगेस्थनीज के यथेष्ट वृतांत का समावेश यूनान की उन इतिहास पुस्तकों में हो गया है। यूनानी लेखकों ने चन्द्रगुप्त का उल्लेख सेन्ड्रोकोटस अथवा ऐन्ड्रोकोटस नाम से किया है।

जैन मान्यता में मौर्यवंश के काल क्रमानुसार चन्द्रगुप्त का राज्यकाल वीर निर्वाण संवत 151 से 162 (ई० पू० 371-360) सिद्ध होता है। किन्तु वर्तमान इतिहासकारों के अनुसार चन्द्रगुप्त का राज्यकाल ई० पू० 322 से ई० पू० 298 निश्चित होता है। उनके निर्णयानुसार चन्द्रगुप्त मौर्य ने ई० पू० 322 में धनानन्द से मगध का साम्राज्य लिया और ई० पू० 305 में सैल्युकस को पराजित कर उसकी कन्या हेलेन के साथ विवाह किया था।

चाणक्य का अर्थशास्त्र भारतीय राजनीति, कूटनीति एवं शासन व्यवस्था का अत्यंत महत्वपूर्ण, सर्वप्राचीन, उपलब्ध एवं ज्ञात आर्ष ग्रन्थ है। कुटिल नीति में पारंगत होने के कारण उन्हें कौटिल्य भी कहा जाता था।

चन्द्रगुप्त ने अमात्य चाणक्य का समुचित आदर करते हुए एवं उनके परामर्श का लाभ लेते हुए ई० पू० 322 से लेकर ई० पू० 298 तक पच्चीस वर्ष पर्यन्त राज्य किया। उचित व्यवस्था की दृष्टि से वे उस विशाल साम्राज्य का संचालन छः माह पाटलिपुत्र में रहकर तथा छः मास उपराजधानी उज्जयिनी में रहकर करते थे।

मैगेस्थनीज के वृतांत, कौटिल्य के अर्थशास्त्र, अशोक एवं सम्प्रति आदि के शिलालेखों तथा जैन एवं जैनेतर भारतीय अनुश्रुतियों से चन्द्रगुप्त एवं चाणक्य द्वारा स्थापित एवं संचालित मौर्य साम्राज्य की उत्तम शासन व्यवस्था के विषय में बहुत कुछ सामग्री प्राप्त हो जाती है। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में भारत के रूप में चक्रवर्ती क्षेत्र की जो परिभाषा दी है लगभग वही सम्पूर्ण क्षेत्र समुद्र पर्यंत चन्द्रगुप्त के आधीन था। सम्पूर्ण क्षेत्र तीन भागों में विभक्त था। सीधे केन्द्रीय शासन के अंतर्गत वाला क्षेत्र विजित कहलाता था और अनेक चक्रों में विभाजित था।

चन्द्रगुप्त मौर्य धार्मिक वृत्ति के व्यक्ति थे और साधुओं का विशेष रूप से आदर करते थे। जिस समय आचार्य भद्रबाहु अपने शिष्यों सहित उज्जयिनी के समीप प्रवास कर रहे थे तब चन्द्रगुप्त उस उपराजधानी से शासन की देख-रेख कर रहे थे। स्वामी भद्रबाहु को निमित्त ज्ञान द्वारा उस क्षेत्र में बारह वर्ष के भीषण दुर्भिक्ष का ज्ञान होने पर तथा संसघ उनके दक्षिण की ओर यात्रा करने पर चन्द्रगुप्त भी राज्य त्याग कर जैन-मुनि दीक्षा लेकर आचार्य भद्रबाहु के संघ में सम्मिलित हो गये थे। ई० पू. 298 में अपने पुत्र बिंदुसार को राज्य देकर वह जैन-मुनि बन गए थे। दक्षिण यात्रा के समय सौराष्ट्र में गिरनार की जिस गुफा में उन्होंने कुछ दिन प्रवास किया था उसे चन्द्रगुफा कहा जाने लगा। दक्षिण में कर्नाटक प्रान्त के हासन जिले में श्रवणबेलगोल नगर के चन्द्रगिरि, उस समय के कटवप्र पर्वत पर, उनके गुरु भद्रबाहु ने समाधि मरणपूर्वक देह त्याग किया था। उनके पश्चात उसी पर्वत पर तपस्या करते हुए, ई. पू. 290 के लगभग चन्द्रगुप्त ने सल्लेखनाव्रत पूर्वक समाधिमरण किया। उनकी स्मृति में वह पर्वत चन्द्रगिरि नाम से प्रसिद्ध हुआ। अत्यंत प्राचीन सिद्धांत ग्रंथ तिलोयपण्णत्ति (चतुर्थ शती ईस्वी के लगभग) में चन्द्रगुप्त को उन मुकुटबद्ध मांडलिक सम्राटों में अंतिम कहा गया है जिन्होंने जिनदीक्षा लेकर अंतिम जीवन जैन मुनि के रूप में व्यतीत किया था।

हरिषेण द्वारा लिखित बृहत कथाकोष (सन् 931 ई.), रत्ननन्दि द्वारा रचित 'भद्रबाहु चरित्र' (लगभग 1450 ई.), कन्नड कृति "मुनि वंशाभ्युदय" (लगभग 1680 ई), कन्नड कृति 'राजावलिकथा' द्वारा भी इसकी पुष्टि होती है कि चन्द्रगुप्त अपने जीवन के अंतिम वर्षों में राज्य त्याग करके जैन मुनि दीक्षा धारण कर आचार्य भद्रबाहु के साथ उनके शिष्य बनकर दक्षिण की ओर चले गये थे। श्रवणबेलगोल में अंकित शिलालेखों क्रमांक 1, 34, 71, 77 एवं 364 में भी चन्द्रगुप्त के स्वामी भद्रबाहु के शिष्य होने की पुष्टि हुई है। श्रीरंगपट्टन के 900 ई. में अंकित लेख में भी वर्णन है कि चन्द्रगिरि शिखर पर स्वामी भद्रबाहु तथा चन्द्रगुप्त के चरण अंकित हैं। चन्द्रगिरि

पर्वत पर निर्मित चन्द्रगुप्त बसदि में शिल्पकार दासोज द्वारा 12वीं शताब्दी में उत्कीर्ण 90 पाषाण चित्र फलकों में से अनेक में में उज्जयिनी से उस समय शासन कार्य देखते हुए सम्राट चन्द्रगुप्त के स्वामी भद्रबाहु के दर्शन के लिए जाने, आचार्य को आहार देने, आचार्य भद्रबाहु को गुरु मान लेने, उनसे अपने द्वारा देखे गये स्वप्नों का फल पूछने जाने, राजपाट त्यागने, आचार्य से दीक्षा लेने, तपस्या करने आदि का चित्रण किया गया है। यह सभी प्रमाण सम्राट चन्द्रगुप्त के जैन मुनि होने एवं उनके आचार्य भद्रबाहु के शिष्य होने की पुष्टि करते हैं। इन्हीं सबके आधार पर उपरोक्त मान्यता ऐतिहासिक सत्य बन गयी है।

हरिषेण के अनुसार चन्द्रगुप्त ही दीक्षा उपरांत विशाखाचार्य नाम से प्रसिद्ध हुए। किंतु यह कथन ठीक प्रतीत नहीं होता। रामचन्द्र आदि परवर्ती कवि उन दोनों को भिन्न व्यक्ति मानते हैं। रामचन्द्र मुमुक्ष के अनुसार भद्रबाहु के अंतिम समय में उनके आदेश पर विशाखाचार्य संघ सहित पाण्ड्य देश आदि की ओर चले जाते हैं और चंद्रगुप्त के अनुरोध पर केवल वे ही अपने गुरु के अंतिम समय में उनकी सेवा-सुश्रुषा करने के लिए वहां ठहर जाते हैं। उनका यह मत ठीक लगता है। चंद्रगुप्त उनके प्रिय शिष्य थे। चन्द्रगुप्त को आचार्य भद्रबाहु के प्रति बहुत आदर एवं स्नेह था। यह कैसे सम्भव हो सकता था कि उनके अंतिम समय में उनके जर्जर शरीर को छोड़कर चंद्रगुप्त अन्यथा चले जाते। अष्टांग निमित्तों में भी श्रुतकेवली भद्रबाहु को गोवर्धनाचार्य द्वारा शिक्षित करने के लिए चुने जाने का उल्लेख तथा अन्य उल्लेख हुए हैं। एक आकाशवाणी के आधार पर कि उनकी निषिधा वहीं (कटवप्र) पर ही बनेगी आचार्य भद्रबाहु ने विशाखनन्दी को संघ का भार सौंप कर वहीं पर समाधि मरणपूर्वक देह त्याग करने का निश्चय किया और विशाखनन्दी (विशाखाचार्य) को आगे जाने का आदेश दिया। चंद्रगुप्त यह कहकर वहां ठहरे रहे "मैं यहीं पर ठहर कर बारह वर्ष तक गुरु की सेवा करता रहूंगा।" भद्रबाहु के सल्लेखना व्रत धारण करने पर चंद्रगुप्त वहीं पर रुके रहे। मुनिचर्या में दृढ़ कराने के विचार से भद्रबाहु ने चंद्रगुप्त को कान्तारचर्या की प्रेरणा दी। आहार के लिए निकलने पर उसके विधिपूर्वक न होने के कारण वे तीन दिन तक निराहार ही वापिस लौटते रहे। चौथे दिन समीपस्थ एक नगर में चर्या पूर्ण होने पर ही आहार ग्रहण कर वे वापिस लौटे। भद्रबाहु उनके आचार की दृढ़ता के प्रति आश्वस्त हुए।

बारह वर्ष का दुर्भिक्ष समाप्त होने पर विशाखाचार्य कटवप्र पर्वत पर गुरु भद्रबाहु के चरणों के दर्शन के लिए पहुंचे। उन सभी मुनियों को सन्देह रहा कि कदाचित अकेला रहने के कारण चन्द्रगुप्त ने पर्वत के कन्दमूल खाकर जीवन निर्वाह किया है। चन्द्रगुप्त के कहने पर साधु संघ समीप के नगर में गया जहां पर श्रावकों ने उन्हें चर्या के अनुकूल आहार कराया। इसके द्वारा चन्द्रगुप्त की मुनिचर्या की पुष्टि हुई। विशाखाचार्य एवं चन्द्रगुप्त दो भिन्न मुनि थे। श्रवणबेलगोल के शिलालेख क्रमांक एक में चन्द्रगुप्त का उल्लेख प्रभाचन्द्र नाम से कैसे हुआ है इसका अभी संतोषजनक समाधान नहीं हुआ है।

ई. पू. 298 में चन्द्रगुप्त के राज्य त्याग करने के पश्चात महापद्मनन्द की पुत्री सुप्रभा से उत्पन्न पुत्र बिन्दुसार मगध के सिंहासन पर बैठा। उसने ई. पू. 273 पर्यंत राज्य किया।

बिन्दुसार के राज्यकाल के आरम्भिक वर्षों में चाणक्य ही अमात्य के रूप में उसका पथ प्रदर्शन करते रहे। परिशिष्ट पर्व से इस तथ्य की पुष्टि होती है। मन्जुश्री मूलकल्प से विदित होता है कि बिन्दुसार अवयस्क अवस्था में सिंहासनारूढ़ हुए थे। अत: शासन की बागडोर मुख्यत: चाणक्य के ही हाथों में रही। चाणक्य उस समय तक यथेष्ट वृद्ध हो चुके थे और अमात्य पद से विरक्त होकर आत्म-कल्याण करने के इच्छुक थे किन्तु आग्रह पर बिन्दुसार को मंत्रणा देने के लिए वह कुछ समय के लिए पद-त्याग करने के लिए रुक गये। युवक बिन्दुसार को वृद्ध चाणक्य के बहु अधिकार तथा प्रभाव सहन नहीं हो पा रहे थे। स्वयं चाणक्य भी युवक सम्राट के असंतोष से अवगत थे। परिशिष्ट पर्व तथा अन्य जैन मान्यताओं के अनुसार ई. पू. 295 के लगभग वे जैन मुनि बन गये। भगवती आराधना आदि अत्यंत प्राचीन जैन ग्रन्थों में मुनि चाणक्य के कठिन तपस्या करते एवं घोर उपसर्ग सहते हुए सल्लेखनापूर्वक देह त्याग करने के उल्लेख मिलते हैं।

मुद्राराक्षस नाटक के टीकाकार ढुंढिराज ने चाणक्य के पिता चणक को नीति-शास्त्र का प्रेणता एवं पुत्र चाणक्य को शुक्र नीति एवं ज्योतिष में पारगंत विद्वान कहा है। बौद्ध ग्रन्थकार पुरुषोत्तम ने अपनी भाषा वृत्ति में इनके चाणक्य नाम को "चणकोऽभिजनोयस्य स चाणक्य" कहकर सिद्ध किया है। हेमचन्द्र एवं पुरुषोत्तम का यह मत कि वर्तमान बुन्देलखण्ड के पन्ना नगर से 40 कि०मी० दक्षिण-पूर्व तथा नागौद से 24 कि० मी० पश्चिम में स्थित वर्तमान नाचना ही विष्णुगुप्त चाणक्य का जन्म स्थान था अधिक ऐतिहासिक महत्व का है। जनरल कनिंघम ने भी नाचना को ही पूर्व का चणक ग्राम माना है।

चाणक्य की बहुमुखी प्रवृत्तियों के कारण विद्वत समाज में उनके अनेक नाम प्रचलित हो गये थे। यादव प्रकाश, पुरुषोत्तम एवं हेमचन्द्र की रचनाओं में उनका उल्लेख विष्णुगुप्त, कौटिल्य, चणकात्मज, चाणक्य, द्रामिण या द्रामिल, अङगुल, वात्स्यायन, मेल्लिनाग, पक्षिलस्वामी तथा वराणाक नामों से हुआ है। इनमें विष्णुगुप्त इनका व्यक्ति नाम है और अन्य नाम विशेषण लगते हैं। चाणक्य के द्रामिण या द्रामिल एवं मेल्लि-नाग नाम द्राविड़त्व के सूचक हो सकते हैं।

प्रकांड विद्वान होने के अतिरिक्त चाणक्य दीर्घकाल तक एक विशाल साम्राज्य के महामंत्री रहे और राजनीति के इसी प्रत्यक्ष एवं प्रायोगिक अनुभव के आधार पर तथा सभी आचार्यों के अर्थशास्त्रों की उत्कृष्टताएं एकत्र कर उन्होंने प्रजा एवं राजा के लाभ एवं पालन के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रंथ 'अर्थशास्त्र' की रचना की। इस प्रसिद्ध ग्रन्थ के विषय में प्राचीन भारतीय साहित्य में अनेक उल्लेख हुए हैं। कवि दन्डी के

अनुसार आचार्य विष्णुगुप्त (चाणक्य) ने मौर्यों के लिए छह सहस्त्र श्लोकों वाले ग्रंथ की रचना की। मूल एवं भाष्य के संभावित मतभेद से उस ग्रंथ को दूर रखने की दृष्टि से चाणक्य ने स्वयं ही सूत्रों की रचना की और उन पर भाष्य लिखा।

जैनेतर साहित्य में चाणक्य के जीवन के पूर्वार्द्ध पर तो सामग्री मिलती है किन्तु उत्तरार्द्ध पर नहीं। किन्तु जैन साहित्य में उनके सम्पूर्ण जीवनवृत्त पर लिखा गया है।

जैन साहित्य के अनुसार पाटलिपुत्र में नंद नामक राजा के बंधु, सुबंध, कवि एवं शकटाल नामक चार मंत्री थे। एक सशक्त म्लेच्छ शत्रु द्वारा आक्रमण किये जाने पर नंद के अनुरोध से शकटाल कोषागार से मुद्राएं देकर शत्रु को बिना युद्ध किये हुए वापिस लौटा देता है किन्तु कोषागार के रिक्त हो जाने के कारण दुखित होने से तथा अन्य व्यक्तियों द्वारा भड़काये जाने पर राजा नन्द शकटाल की ईमानदारी पर अविश्वास कर उसे सपरिवार कारागार में डाल देता है और बहुत साधारण आहार पर वहां उन्हें जीवित रखता है। इस सूक्ष्म आहार के कारण उसके परिवार के सदस्यों की मृत्यु हो जाती है। उसी म्लेच्छ राजा द्वारा पुनः आक्रमण किये जाने पर नंद घबराकर शकटाल को मुक्त कर देता है तथा आक्रमणकारी को फिर वापिस भेजने का आग्रह करता है। शकटाल नन्द की इच्छानुसार इस कार्य को पूरा कर देता है किन्तु उसके अनुरोध करने पर भी मंत्री पद फिर स्वीकार नहीं करता और केवल भोजनशाला का अध्यक्ष होना स्वीकार कर लेता है। चाणक्य के क्रोध एवं हठवादिता के विषय में सुनकर नन्द से अपने पूर्व अपमान का प्रतिकार लेने के लिए वह चाणक्य को भोजनशाला में बुलाकर ऐसा वातावरण तैयार करता है जिससे चाणक्य नन्द पर क्रुद्ध हो जाता है और उसके वंश के नाश करने की प्रतिज्ञा करता है।

कहा जाता है कि नन्द पर आक्रमण करने वाला राजा पर्वतक ही था जिससे चन्द्रगुप्त ने सन्धि कर उसकी सेना की सहायता से अनेक राज्य विजित किये थे।

रामचन्द्र मुमुक्ष ने अपनी रचा पुण्याश्रव कथाकोष में भद्रबाहु तथा चन्द्रगुप्त आदि का वर्णन किया है।

आचार्य हेमचन्द्र के अभिधान चिन्तामणि में चाणक्य के वात्स्यायन, मेल्लिनाग, कुटिल अथवा कौटिल्य, चाणक्य, द्रामिल, पक्षिल स्वामी, विष्णुगुप्त और अङगुल इन आठ नामों का उल्लेख हुआ है। उनके अनुसार चाणक्य का जन्म मोल्ल जनपद में स्थित चणय ग्राम में हुआ था। पिता थे ब्राह्मण चणक और माता का नाम था चणकेश्वरी। उन दोनों को ही जैन मुनियों में अगाध श्रद्धा थी।

हरिषेण की बृहत्कथाकोष के अनुसार चन्द्रगुप्त को विजित मगध देश का सम्राट बना देने के पश्चात चाणक्य ने जैन-मुनि दीक्षा धारण कर ली थी। उल्लेख मिलता है कि मुनिपद धारण कर कुछ समय पश्चात अपने 500 शिष्यों सहित विहार करते हुए उन्होंने दक्षिण भारत में महाक्रौन्चपुर की दक्षिण दिशा में आगे बढ़कर एक गोकुल में

कायोत्सर्ग मुद्रा में बैठकर साधना की। महाकौन्चपुर नरेश सुमित्र का मंत्री सुबन्धु पाटलिपुत्र के नन्दों के पतन के पश्चात् चाणक्य से रुष्ट होकर वहां आ गया था। मुनि चाणक्य के संघ सहित वहां पधारने पर राजा सुमित्र सहित सुबंधु भी उनके दर्शनों को वहां गया। पूर्व वैर के कारण अवसर पाकर सुबंधु ने रात्रि में मुनि चाणक्य के संघ को चारों ओर से घिरवाकर आग लगवा दी जिसमें जल कर उन सबकी मृत्यु हो गई। चाणक्य ने उस अवस्था में सल्लेखनापूर्वक समाधिमरण किया। इस प्रकार लगभग 82 वर्ष की आयु में उनका शरीरांत ई. पू. 293 के लगभग हुआ।

कुछ विद्वानों की धारणा है कि दीक्षित हो जाने के पश्चात चाणक्य ही भद्रबाहु नाम से प्रसिद्ध हुए और राज्यकाल के समय उनमें उत्पन्न हुए आदर के कारण चन्द्रगुप्त ने उनसे ही जिन-दीक्षा ली थी। यह धारणा ठीक नहीं मानी जाती है। यही धारणा ठीक मानी जाती है कि श्रुतकेवली भद्रबाहु अन्य व्यक्ति थे। चाणक्य का दीक्षा उपरांत नाम भद्रबाहु नहीं पड़ा था।

चाणक्य के पश्चात बिन्दुसार ने अमात्य राधागुप्त की सहायता से अनेक वर्षों तक निष्कटंक राज्य किया और दक्षिण में अपने पिता चन्द्रगुप्त की विजय को सुव्यवस्थित शासन द्वारा सुदृढ़ किया। राधागुप्त चाणक्य के ही शिष्य थे। ई. पू. 273 के लगभग बिन्दुसार की मृत्यु के पश्चात उनके पुत्र अशोक उस महान मौर्य साम्राज्य के सिंहासन पर आरुढ़ हुए। धर्म प्रसार के कारण उनकी गणना भारतवर्ष के ही नहीं संसार के सर्वमहान सम्राटों में की जाती है। उनके द्वारा अंकित कराये गये शिलालेखों से उनके तथा उनके पूर्वजों के विषय में ऐतिहासिक महत्व की सामग्री प्राप्त होती है। प्रतीत होता है कि आरम्भिक जीवन में अशोक जैन ही थे। उन्होंने बिहार में गया के निकट बराबर तथा नागार्जुनी पहाड़ियों में जैन धार्मिक कृत्यों के लिए सुदामा, लोमस, विश्व झोंपड़ी, करण चौपार आदि गुफाओं का निर्माण करवाया। उनकी प्रथम पत्नी से कुणाल नामक पुत्र उत्पन्न हुआ था। अपनी अधेड़ आयु में ई. पू. 262 के लगभग कलिंग से हुए युद्ध के समय उन्होंने एक बौद्ध सुंदरी तिष्यरक्षिता से विवाह कर लिया था। प्रतीत होता है कि उसी के प्रभाव के कारण उन्होंने बौद्ध धर्म अंगीकार किया। यह अभी भी प्रश्न चिह्न बना हुआ है कि बौद्ध धर्म स्वीकार कर लेने के पश्चात् वह पूर्णतया बौद्ध हो गये अथवा उनकी आस्था जैन धर्म में भी बनी रही। तिष्यरक्षिता सुंदर कुणाल पर आसक्त थी। सफल न होने पर उसने षडयंत्र द्वारा कुणाल को नेत्रविहीन करवा दिया था। जिसके कारण भेद खुलने पर उसे मृत्युदंड मिला था। लगभग 40 वर्ष तक राज्य करने के पश्चात् सम्राट अशोक की मृत्यु ई. पू. 234 या 232 में हुई। किंवदंती है कि उनकी मृत्यु तक्षशिला में हुई थी। अशोक की मृत्यु के उपरांत उनका नेत्रविहीन पुत्र कुणाल साम्राज्य का उत्तराधिकारी हुआ, किन्तु वस्तुतः पत्नी कंचनमाला से उत्पन्न उनका पुत्र सम्प्रति आरम्भ में पिता के नाम से और कालान्तर में स्वतंत्र रूप से राज्य करने लगा। सम्प्रति ने उज्जयिनी को अपनी प्रधान राजधानी बनाया। अशोक का एक अन्य पौत्र बंधुपालित दशरथ मगध का शासक हुआ। वह सम्भवतया नाम मात्र के

लिए ही सम्प्रति के आधीन था। उस समय से ही मौर्य वंश की दो स्वतंत्र शाखायें उज्जयिनी एवं मगध से आरम्भ हुई। दशरथ की आजीवक सम्प्रदाय के साधुओं में विशेष श्रद्धा थी और उसने उनके लिए बिहार में गया के निकट नागार्जुनी पर्वत पर गोपी नामक गुफा का निर्माण करवाया। आजीवक सम्प्रदाय के प्रवर्तक गोशालक ने भगवान महावीर स्वामी से पृथक होकर उस सम्प्रदाय को आरम्भ किया था। कालान्तर में वह सम्प्रदाय दिगम्बर सम्प्रदाय में ही विलीन हो गया था।

अपने पितामह अशोक के समान सम्प्रति भी प्रजावत्सल तथा शांतिप्रिय सम्राट था। उसके धर्म गुरु थे जैन संघ की मगध शाखा के नेता जैन आचार्य। सम्प्रति के उज्जयिनी का शासक होने के कारण उस शाखा का प्रधान केन्द्र भी वहीं पर बन गया। सम्प्रति ने विभिन्न स्थानों में जैन मंदिर तथा मूर्तियां निर्मित कराये अथवा उनकी प्रतिष्ठा की, अनेक तीर्थों का जीर्णोद्धार कराया, अनेक धार्मिक उत्सवों का आयोजन किया और साम्राज्य भर में अहिंसा धर्म तथा पवित्र जीवन व्यतीत करने के लिए प्रचार करवाया। यही नहीं उसने विदेशों में भी जैन धर्म के प्रचार के लिए प्रचारकों को भेजा। विंसेण्ट स्मिथ के अनुसार उसने अरब एवं ईरान में भी जैन संस्कृति के केन्द्र स्थापित किये थे। राजपूताने में निर्मित कई जैन कलाकृतियां उसके समय की कही जाती हैं। वह भी भारत के एक बड़े भाग का शासक था। अशोक को उससे बहुत स्नेह था। जिसका प्रमाण है अशोक को उसी को उत्तराधिकारी बनाना। कुछ विद्वानों का कथन है कि अशोक की उपाधि देवानांप्रिय थी और सम्प्रति को वह प्रियदर्शन कहता था। अतः जिन शिलालेखों में "देवानां प्रियस्य प्रियदर्शिन राजा" लिखे जाने का उल्लेख है वे सम्भवतया सम्प्रति द्वारा उत्कीर्ण कराये गये थे। उनमें भी विशेषकर वे शिलालेख जिनमें धार्मिक उत्सवों एवं अहिंसा प्रसार के लिए जीव हिंसा निषेध आदि का उल्लेख है। जैन धर्म के प्रसार एवं उन्नयन के लिए सम्प्रति का योगदान सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। लगभग 40 वर्ष तक स्वतंत्र रूप से राज्य करने के पश्चात, जिसमें उसके कुणाल के साथ युवराज पद से शासन कार्य करते हुए लगभग 10 वर्ष का काल सम्मिलित नहीं है, 60 वर्ष की आयु में ई. पू. 190 के लगभग सम्प्रति की मृत्यु हो गयी।

सम्प्रति के पश्चात उज्जयिनी में उसका पुत्र शालिशुक सम्राट हुआ। कहा जाता है कि उसने भी जैन धर्म का दूर-दूर तक प्रचार किया। उसके अल्पकालीन राज्य के पश्चात वृषसेन, पुष्पधर्मन आदि कुछ अन्य राजा हुए और उज्जयिनी में 158 वर्ष के उपरांत ई. पू. 164 में मौर्य वंश का अंत हो गया।

उधर मगध में सम्राट दशरथ की शाखा में उनके पश्चात देववर्मन, सतधनुष, बृहद्रथ आदि शासक हुए। अंतिम नरेश बृहद्रथ की उसके ब्राह्मण मंत्री पुष्यमित्र शुंग ने धोखे से हत्या करके राज्य सिंहासन पर अपना अधिकार कर लिया और इस प्रकार मगध में ई. पू. 184 में अपनी स्थापना के 137 या 133 वर्ष पश्चात मौर्य वंश का अंत हुआ।

५

अद्वितीय गोम्मटेश्वर मूर्ति

निर्माण इतिहास

विश्व प्रसिद्ध गोम्मटेश्वर मूर्ति का निर्माण गंगवंशीय नरेश राचमल्ल चतुर्थ के सेनापति एवं अमात्य वीर चामुन्डराय द्वारा हुआ। इसका उल्लेख मूर्ति की बाजू में बने पाषाण सर्प-विवरों के लेख तथा अन्य स्थलों पर किया गया है। मूर्ति के पैर के पास दाईं ओर के पाषाण सर्प-विवर के 10 वीं शताब्दी के लेख, क्रम संख्या 272, में उल्लेख है कि गोम्मटेश्वर मूर्ति का निर्माण चामुन्डराय द्वारा हुआ। इसी लेख के नीचे अन्य लेख, क्रम संख्या 273, में भी, जो तमिल भाषा की ग्रन्थ एवं वत्तेलुत्तु लिपि में 10 वीं शती का है, उल्लेख है कि मूर्ति का निर्माण चामुन्डराय द्वारा हुआ। मूर्ति के पैर के पास बाईं ओर के पाषाण विवर पर 10 वीं शताब्दी के लेख, क्रम संख्या 276, में भी अंकित है कि मूर्ति का निर्माण चामुन्डराय द्वारा हुआ। यह लेख मराठी भाषा में नागरी लिपि में उत्कीर्ण है। विंध्यगिरि पर्वत पर सुत्तालय के प्रवेश द्वार के बाईं ओर के पाषाण पर बोप्पन पंडित द्वारा अंकित 12 वीं शताब्दी के विस्तृत लेख, क्रम संख्या 336, में उल्लेख है कि पोदनपुर में बाहुबली की भरत द्वारा निर्मित 525 धनुष ऊंची मूर्ति के दर्शन सम्भव न होने के कारण गंगनरेश राचमल्ल के अमात्य चामुन्डराय ने बाहुबली की मूर्ति का निर्माण कराने का संकल्प किया और यह मूर्ति निर्मित करवाई। राचमल्ल चतुर्थ ने सन् 974 से 984 ईस्वी तक गंगवाड़ी में राज्य किया था।

कहा जाता है कि चामुन्डराय की माता काललादेवी ने जैनाचार्य अजितसेन से आदि पुराण से यह वर्णन सुनकर कि उत्तर भारत में तक्षशिला के समीप पोदनपुर में सम्राट भरत द्वारा निर्मित भगवान बाहुबली की पन्ने की विशाल मूर्ति है साहसी एवं सामर्थ्यवान पुत्र चामुन्डराय तथा पुत्रवधु अजिता देवी के सम्मुख उस मूर्ति के दर्शन की उत्कट इच्छा व्यक्त की। उन्होंने यह भी व्यक्त किया कि जब तक वे उस मूर्ति के दर्शन नहीं कर लेंगी दूध ग्रहण नहीं करेंगी।

पोदनपुर की विशाल मूर्ति के दर्शन के लिए चामुन्डराय अपने गुरु नेमिचन्द्र चक्रवर्ती एवं माता व पत्नी आदि के साथ यात्रा के लिए भक्तिभाव से निकल पड़े। कई दिन की यात्रा के पश्चात वे राजधानी तलकाडु से चलकर कटवप्र (श्रवणबेलगोल के चन्द्रगिरि पर्वत) पर पहुंचे। वहां एक रात्रि को बाइसवें तीर्थंकर नेमिनाथ की यक्षी

तथा उस क्षेत्र की शासन देवी कूष्मांडिनी देवी ने स्वप्न में आकर उन्हें बताया कि कुक्कुट सर्पों द्वारा मार्ग एवं मूर्ति आच्छादित होने के कारण उसके दर्शन सम्भव नहीं हैं, वहां की यात्रा निरर्थक ही रहेगी, वहां तक पहुंच पाना भी संभव नहीं हो सकेगा। किन्तु जिस पहाड़ी के तल पर चामुन्डराय विश्राम कर रहे हैं यदि उसके शिखर से वह सामने की बड़ी पहाड़ी विंध्यगिरि के शिखर पर प्रातःकाल में भक्तिभाव से सोने के तीर छोड़ें तो वैसी ही मूर्ति के दर्शन उस पहाड़ी पर भी होंगे। वैसा ही स्वप्न माता एवं गुरु नेमिचन्द्र को भी हुआ। हर्ष के कारण उनके रात्री के शेष प्रहर कटने कठिन हो गए। तीनों के मन में विचित्र उल्लास एवं हल्कापन था। उस दैवी स्वप्न से वह आश्वस्त हो चुके थे। प्रातः होते ही वीर चामुन्डराय ने स्नान कर भक्तिभाव से विधिपूर्वक सामने की पहाड़ी पर तीर छोड़ा। वह चमत्कृत हुए कि पत्थर की परतें टूट कर गिरीं और मूर्ति का मस्तक भाग स्पष्ट हो गया। चन्द्रगिरि पर्वत की वह चोटी जहां से चामुन्डराय ने तीर छोड़ा था 'चामुन्डराय बट्टाम' के नाम से प्रसिद्ध है। इस मान्यता में कितना भी सत्य हो अथवा कल्पना का अतिरेक किन्तु यह प्रसंग इस बात को अवश्य स्पष्ट करता है कि चामुन्डराय एवं उनकी माता के हृदय में बाहुबली की एक विशाल एवं अत्यंत सुन्दर मूर्ति निर्माण करवाने की बलवती इच्छा थी।

मन के पुण्य भावों को मूर्त रूप देने के लिए चामुन्डराय को राज्य के प्रधान शिल्पी अरिष्टनेमि से अधिक योग्य और कोई व्यक्ति नहीं जंचा। उन्होंने शिल्पी को अपने माता के संकल्प को बताया एवं विंध्यगिरि का वह शिखर भाग दिखा दिया जहां तीर द्वारा मूर्ति का मस्तक प्रकट हुआ था। उन्होंने शिल्पी को स्पष्ट किया कि जैसा उन्होंने पोदनपुर की बाहुबली की मूर्ति के विषय में सुना है वह मूर्ति उसी के अनुरूप सुन्दर एवं भव्य निर्मित होनी है। कुशल अरिष्टनेमि ने विंध्यगिरि पर्वत की ऊंचाई को मन ही मन नापा और मूर्ति के सम्भावित आकार तथा आकृति को हृदय पटल पर अंकित कर लिया। दीर्घ समय में बनने वाली उस मूर्ति के लिए पारिश्रमिक की राशि क्या मिलेगी इस लोभ से किन्तु शिल्पी मुक्त न रह सका। वह उसे ऐसा सुयोग दिखाई दिया जिससे वह पीढ़ियों तक अपनी सम्पन्नता को बनाए रख सकता था। शिल्पी को दुविधा में पड़े देखकर चामुन्डराय का मन एक बार को तो निराश हो उठा किन्तु शिल्पी द्वारा पारिश्रमिक की चर्चा चलाए जाने पर उन्होंने सन्तोष की सांस ली। शिल्पी ने व्यक्त किया कि मूर्ति के निर्माण में शिलाखंड से जितना पाषाण उतरेगा तथा मूर्ति की भव्यता को उकेरने में छेनियों से जितने शिल्प कण और चूर्ण निकलेगा उसके बराबर भार का स्वर्ण वह ले लेगा। चामुन्डराय ने सहर्ष ही उस अतीव पुण्य कार्य के लिए उतना स्वर्ण देना स्वीकार कर लिया।

शिल्पी, उसके अधीनस्थ कर्मचारियों तथा शिल्पियों ने मनोयोग से विंध्यगिरि की सबसे ऊंची चोटी पर उपयुक्त शिला को छांटकर मूर्ति निर्माण कार्य आरम्भ कर दिया। चामुन्डराय पहाड़ी पर बैठकर जिस स्थान से पारिश्रमिक, दान आदि बांटते थे वह स्थान उसके कारण "त्यागद ब्रह्मदेव" स्तंभ नाम से प्रसिद्ध है। इसके उत्तरी आधार पर

अंकित लेख के अनुसार इसका निर्माण चामुण्डराय द्वारा ही हुआ था। जैन धर्म की उदार संस्कृति ने कर्नाटक में प्रचलित ब्रह्मदेव की उपासना को अपनत्व ही नहीं दिया अपितु उसे जिन-शासन की रक्षा के दायित्व का देवता बनाकर स्तम्भ शीर्ष पर भी आसन दिया है। जिस जैन संस्कृति का प्रचार आचार्य भद्रबाहु द्वारा दक्षिण में आरम्भ हुआ था, उसके लगभग 1200 वर्ष पश्चात वह चामुण्डराय के औदार्य द्वारा और अधिक प्रशंसनीय एवं स्तुत्य बनी।

कर्नाटक में प्रायः प्रत्येक बड़ी जैन बसदि (मन्दिर) के सामने मान स्तंभ स्थापित है जिसमें घोड़े पर सवार ब्रह्मदेव की मूर्ति निर्मित है। उनके दायें हाथ में फल उनकी कृपा भावना का प्रतीक है तथा बाएं हाथ का चाबुक धर्म से विमुख होने वाले व्यक्तियों के लिए दण्ड देने का प्रतीक है। उनके पैरों की खड़ाऊं उनकी मन्दिरों के प्रति पवित्रता की भावना को सूचित करती है। वह सभी मन्दिर जिनके सामने ब्रह्मदेव की ऐसी मूर्तियां स्थापित हैं श्रावकों को सदैव इस कर्तव्य का बोध कराते रहते हैं कि आस्था, पूजा के प्रतीक मन्दिरों की रक्षा उन्हें ब्रह्मदेव के समान ही करनी है।

पारिश्रमिक की स्वर्ण की पहले खेप लेकर उल्लासित मन शिल्पी अरिष्टनेमि माता के पास अपने ग्राम पहुंचा। परिश्रम से अर्जित उस स्वर्णराशि को वह स्नेहमयी माता के चरणों में समर्पित कर देने के लिए विशेष प्रसन्न था। माता के मुख से अपनी उपलब्धि पर आशीष लेने के लिए वह उत्सुक था। कहा जाता है कि जैसे ही उसने दोनों हाथों से स्वर्ण उठाकर माता के सम्मुख रखना चाहा उसके हाथ जड़ हो गए और स्वर्ण उनसे अलग न हो सका। उससे शिल्पी आतंकित हुआ और साथ में माता भी। ममता की मारी माता समाधान के लिए जैनाचार्य के पास दौड़ी गयी और आकर जो कुछ उसने अरिष्टनेमि को सम्बोधित कर कहा वह इस प्रकार था "दो पुत्रों के भावों के अन्तर को समझो पुत्र। चामुण्डराय प्रस्तुत कर रहा है उदाहरण मातृ भक्ति का, धर्म प्रभावना का, त्याग का। माता की इच्छा पूर्ति हेतु भगवान बाहुबली की मूर्ति के निर्माण के लिए वह धन को तृणवत समझ रहा है। उसके प्रति त्याग का भाव रख रहा है और उसके विपरीत तुम्हारा उदाहरण है लोभ का, अधिक से अधिक स्वर्ण व धन संचय कर लेने का।" शिल्पी की माता ने यह भी व्यक्त किया कि कला को उत्कर्ष मिलता है त्याग से एवं समर्पित निष्ठा से, लोभ से नहीं। उसके पति को गंगराज्य के राज्यशिल्पी का जो सम्मान मिला था वह पूर्वजों द्वारा अर्जित कला-साधना का ही प्रतिफल था। उनके रक्त में अपने पूर्वजों की कला विरासत में आ गयी थी और अरिष्टनेमि को भी उसी विरासत का वरदान मिला है, वह मात्र उसका ही स्वअर्जित कौशल नहीं है। उसके पिता धन के लोभ से विमुक्त रहे। कला को नये से नये आयाम देना, सुन्दर से सुन्दर रूपों में शिल्प को प्रस्तुत करना ही उनके जीवन का उद्देश्य बन गया था। कला की सेवा ही उनका तीर्थ बन गयी थी। जो भी पारिश्रमिक मिल जाता उसी में वह सन्तोष करते थे। कला के स्वामी होकर भी उन्होंने उसे धन उपार्जित करने का लक्ष्य नहीं

बनाया था। चतुर माता ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि मूर्ति को रूप उसका पुत्र ही दे रहा है और इस कारण वह भी उतना ही महत्वपूर्ण है जितना धन व्यय करने वाला उसका निर्माता चामुन्डराय। किन्तु क्या जितना गौरव माता काललादेवी को अपने पुत्र पर होगा उसके त्याग एवं धर्म भाव के कारण उसका शतांश गौरव भी वह अपने पुत्र पर कर सकेगी, जिसका उद्देश्य है स्वर्ण प्राप्ति के लिए ही इस पवित्र मूर्ति को रूप देना। माता का कलाकार पुत्र को लोभ से विमुक्त करने के लिए अंतिम उपालम्भ था "स्वर्ण ने नहीं यथार्थ में तुम्हारे मन के लोभ तथा विकार ने मन एवं हाथों को जड़ कर दिया है, स्वर्ण का मोह तुम्हारे हृदय से हाथों में उतर आया है और उससे स्वर्ण भी तुम्हारे हाथों से छुट नहीं पा रहा है।" माता की शुद्ध अंतरात्मा से निकले कर्त्तव्य उदबोधन से अरिष्टनेमि को कर्त्तव्य बोध हो गया। स्नेह की फटकार से उसका लोभ दूर होकर मन निर्मल हो गया। उसने आदर से माता के चरणों में सर रख दिया और आंखों से झरते आंसुओं ने मन को हल्का कर दिया। उसका मन मुक्त हुआ लोभ से और हाथ मुक्त हुए स्वर्ण से।

उपरोक्त घटना ने किन्तु शिल्पी का आत्म-विश्वास विचलित कर दिया। वह विंध्यगिरि पर मूर्ति पर कार्य करने गया तो छेनी-हथौड़ी को हाथ लगाने की इच्छा ही नहीं हुई। घर लौटा तो खोया-खोया हुआ। रात्रि को निद्रा में दिन की घटना उसके अवचेतन मन पर हावी रही, घुटन उसकी सोते-सोते भी बढ़ती रही। सोते में अनायास ही वह चिल्ला उठा "अम्मा"। माता ने भी भय की वह पुकार सुनी तो घबरा उठी। ममता से पुत्र का स्पर्श किया, माथे को सहलाया और सान्त्वना देकर उसे सुलाने में सफल हुई। एक शिशु जैसी कोमलता, अबोधता उस समय मूर्तिकार के चेहरे पर व्याप्त थी।

सवेरा हुआ तो माता पुत्र अरिष्टनेमि को लेकर आचार्य नेमिचन्द्र के प्रवचन में पहुंची। उनके प्रवचन को मूर्तिकार ने अपने ऊपर घटित करते हुए एक नया ही अर्थ लगाया। स्वर्ण की लालसा से तो वह विमुक्त हो ही चुका था निस्वार्थ कला-सेवा का निश्चय उसका और दृढ़ हुआ। कार्य के प्रति एकाग्रता का मूल मंत्र उसने और लिया। महामात्य चामुण्डराय ने उसे स्वर्ण देना भी चाहा तो उसने मन से अस्वीकार कर दिया।

पवित्र मन ने उसके शिल्प को दिव्य आभा से मण्डित कर दिया। कोई दैवी शक्ति अब उसके हाथों में आ गयी थी और उसकी छेनी तथा हथौड़े से निर्मित होते जा रहे थे अंग-प्रत्यंग अत्यन्त सुन्दर एवं आनुपातिक। मूर्ति का निर्माण पूर्ण हुआ। अरिष्टनेमि का परिश्रम एवं चामुण्डराय की श्रद्धा मूर्ति में एकाकार हो गये।

मूर्ति सौन्दर्य—श्रवणबेलगोल में विंध्यगिरि पर्वत पर उत्तर की ओर मुख किये कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़ी इस गोम्मटेश्वर मूर्ति का पूर्ण सौन्दर्य वर्णन कठिन है। कठोर ग्रेनाइट पाषाण को मूर्तिकार ने कैसे बारीकी से छील-छील कर अंग-अंग को अत्यन्त सुन्दर बनाकर उसमें मूर्तिकला का श्रेष्ठ समाविष्ट कर दिया है वह वास्तव में

आश्चर्यचकित कर देता है। विशाल गोल मस्तक और उस पर बालों के गोल छल्ले, ध्यानमग्न अर्द्ध निमीलित नेत्र, उठी हुई नासिका, सौम्यस्मित ओष्ठ, नीचे तक भरे हुए गोल कपोल, छिद्रयुक्त दीर्घ कर्ण, उठी हुई चिबुक, 26 फीट चौड़ा उभरा हुआ विशाल वक्ष, पतला कटि प्रदेश, सीधे लटकते हुए सुदृढ़ विशाल बाहु, पीछे से अत्यधिक गोल नितम्ब, भीतर की ओर उकेरी हुई नालीदार रीढ़, सुदृढ़ एवं अडिग चरण और विशाल आकार ने निःसन्देह इसे विश्व की अप्रतिम मूर्ति बना दिया है। इसे देखते ही इसकी दिव्यता, भव्यता, उत्कृष्ट कला एवं स्मित का जादुई प्रभाव प्रत्येक दर्शक के मन पर छाने लगता है।

मुख पर व्याप्त दिव्य स्मित के अंकन में मूर्तिकार की कोमल एवं पवित्र परिकल्पना एवं उसके मूर्ति कौशल की चरम श्रेष्ठता के दर्शन होते हैं। मस्तक, मुख, विस्तृत वक्षस्थल, उभरे हुए स्कंध तथा आजानु बलिष्ठ बाहु तो अतीव सुन्दर हैं ही, कठोर पाषाण में हाथों की अंगुलियों तथा नखों को भी जिस बारीकी से उकेरा गया है वह सब निस्संदेह आश्चर्य चकित कर देता है। प्रतिमा की ऊंचाई एवं स्थापत्य पहाड़ी की बनावट को ध्यान में रखते हुए ही मूर्तिकार द्वारा निश्चित किए गए प्रतीत होते हैं।

शिल्पी ने केवल बाहुबली की मूर्ति ही नहीं उत्कीर्ण की है वरन उनके कामदेव जैसे रूप तथा मनोहर निर्विकार दिगम्बर, वीतराग एवं प्रसन्न-मुख स्वरूप में साक्षात बाहुबली को ही प्रस्तुत कर दिया है। मूर्ति के जो लक्षण प्रतिष्ठासार में उल्लेखित हैं उनके अनुरूप सांगोपांग, श्मश्रुरहित, सम-चतुरस्त्र, बाल्य-वृद्धत्वहीन, नासाग्रदृष्टि एवं अन्य शास्त्रोक्त गुण इस मूर्ति में उपलब्ध हैं। मूर्ति के बाएं हाथ की निर्देशिका अंगुली दाहिने हाथ से किंचित छोटी रखने में शिल्पी का कोई उद्देश्य प्रतीत होता है। वह भूल से छोड़ा गया दोष नहीं है।

मूर्ति के दोनों ओर पैर से जंघा तक पाषाण के सर्प-विवर बने हुए हैं। उन में से सर्प निकलते हुए दिखाए गए हैं। जंघा से ऊपर मूर्ति को कोई आश्रय प्राप्त नहीं है। इन विवरों में से निकलती हुई सुन्दर पत्रांकित लताएं पैरों और हाथों से लिपटती हुई स्कंध से कुछ ही नीचे तक अंकित की गई हैं। यह लताए उस घोर तपस्या की अवस्था को प्रकट करती हैं जिसमें बाहुबली शरीर की सुख-दुःख की अनुभूति से मुक्त हो चुके थे। लताओं के शरीर पर चढ़ने से मूर्ति के प्राकृतिक स्वरूप में कहीं कोई अन्तर नहीं आया है। मूर्तिकार ने जैन साधु के वीतराग एवं पवित्र दिगम्बरत्व का पूर्ण निर्वाह इस मूर्ति में किया है।

मूर्ति के दोनों ओर, मूर्ति से तनिक आगे, चंवर धारण किए यक्ष एवं यक्षिणी की लगभग 6-6 फीट ऊंची कलापूर्ण एवं विशेष अलंकृत मूर्तियां निर्मित हैं। दाईं ओर की मूर्ति यक्ष की तथा बाईं ओर की यक्षिणी की है। इनके एक हाथ में चंवर तथा दूसरे में कोई फल है। मूर्ति के बाईं ओर ललित सरोवर नाम से पाषाण का छोटा सा गोल कुन्ड बना हुआ है। इसका ललित सरोवर नाम सर्प-विवर पर अंकित है। मूर्ति के अभिषेक

का जल अथवा दूध इसी में एकत्रित होता है। इस कुण्ड के भर जाने पर शेष तरल एक ढकी हुई नाली से होता हुआ मूर्ति के सामने एक कुंए में एकत्रित हो जाता है और वहां से गुल्लिकायज्जी की मूर्ति के समीप प्रवेश-द्वार के बाहर चट्टान के नीचे बनी सुरंग में पहुंच जाता है। इस मूर्ति के चरण जिस पादपीठ पर हैं वह विकसित कमल रूप में है। उस पर एक पैमाना 3 फीट 4 इंच का बना है। सम्भवतया मूर्ति के निर्माण में उसका उपयोग किया गया है।

इस मूर्ति की ऊंचाई का अनुमान सर्वप्रथम मि० बुचानन द्वारा तथा उसके पश्चात सर आर्थर वेलेजली द्वारा लगाया गया था। बुचानन के अनुसार इसकी ऊंचाई 70 फीट 3 इंच तथा वेलेजली के अनुसार 60 फीट 3 इंच थी। सन 1820 में एक कवि शान्तराज पंडित उपनाम कवि चक्रवर्ती द्वारा ताड़-पत्र पर रचित 16 पद वाले एक संस्कृत काव्य "सरसजन चिंतामणि" के अंतिम पद में उल्लेख है कि महामस्तकाभिषेक के अवसर पर मचान बनने के समय उसने अपने संरक्षक मैसूर के महाराजा कृष्णराज वोडेयार तृतीय की आज्ञा से मूर्ति की पैमाइश की एवं मूर्ति का मस्तकाभिषेक स्वयं महाराजा द्वारा किया गया। उसने हस्त एवं अंगुलियों के नाप से विभिन्न अंगों की पैमाइश की। उसके अनुसार मूर्ति की ऊंचाई 54 फीट 3 इंच आई जो ठीक नहीं थी।

मूर्ति का एक और नाप मैसूर के तत्कालीन मुख्य आयुक्त मि० बाउरिंग के आदेश पर 1 जनवरी, 1865 को लिया गया। पैमाइश अमलदार ने की। अपनी पुस्तक "ईस्टर्न एक्सपीरियंस" में उन्होंने लिखा है कि इसका नाप लेने के लिए एक विशेष ऊंचा मचान बनवाया गया और इसकी वास्तविक ऊंचाई 57 फीट आई। सन् 1871 में मूर्ति के महामस्तकाभिषेक के समय जो मचान बनाया गया उसका उपयोग करते हुए मैसूर राज्य के सार्वजनिक निर्माण विभाग के एक अधिकारी ने मूर्ति के विभिन्न अंगों की पैमाइश की। मूर्ति की ऊंचाई 56 फीट 6 इंच आई। कुछ कारणों से सभी अंगों की विशेषकर हाथ तथा पैर की सम्पूर्ण लम्बाई न नापी जा सकी। विभिन्न अंगों की पैमाइश का ब्योरा 'इन्डियन एन्टीक्वेरी' भाग दो में पृष्ठ 129 पर किया गया है। विभिन्न अंगों की नाप निम्न प्रकार है :—

	फीट	इंच	
चरण से कर्ण के अधोभाग तक	50	0	56 फीट 6 इंच
कर्ण के अधोभाग से मस्तक तक (लगभग)	6	6	
चरण की लम्बाई	9	0	
चरण के अग्रभाग की चौड़ाई	4	6	
चरण का अंगुष्ठ	2	9	
पादपृष्ठ की ऊपर की गोलाई	6	4	
जंघा की अर्द्ध गोलाई	10	0	

	फीट	इंच
नितम्ब से कर्ण तक	24	6
पृष्ठ अस्थि के अधोभाव से कर्ण तक	20	0
नाभी के नीचे ऊपर की चौड़ाई	13	0
कटि की चौड़ाई	10	0
कटि एवं टेहुनी से कर्ण तक	17	0
बाहुमूल से कर्ण तक	7	0
वक्षस्थल की चौड़ाई	26	0
ग्रीवा के अधोभाव से कर्ण तक	2	6
तर्जनी की लम्बाई	3	6
मध्यमा की लम्बाई	5	3
अनामिका की लम्बाई	4	7
कनिष्ठिका की लम्बाई	2	8

स्वर्गीय श्री नरसिंहाचार ने, जो मैसूर के पुरातत्व विभाग के निदेशक थे, सन् 1923 में इसकी ऊंचाई को 57 फीट माना था।

मूर्तियों का महत्व कहीं इनकी विशालता से है तो कहीं सौन्दर्य से और कहीं अलौकिक वैभव से। किन्तु इस मूर्ति में तो यह तीनों ही अपनी विशिष्टता में समाविष्ट हो गये हैं।

यद्यपि अफगानिस्तान में बामियान घाटी में बुद्ध की मूर्तियां 120 से 175 फीट तक ऊंची हैं और भारत में ही मध्यप्रदेश में पश्चिम निवाड़ जिले में सतपुड़ा पर्वतमाला में बड़वानी से 8 कि० मी० दूर चूलगिरि पर्वत पर भगवान ऋषभनाथ की 84 फीट ऊंची मूर्ति उत्कीर्ण है और मिश्र में 4000 वर्ष प्राचीन रेमेसिस द्वितीय की मूर्ति गोम्मटेश्वर मूर्ति के बराबर ही ऊंची है किन्तु उन मूर्तियों में गोम्मटेश्वर मूर्ति जैसे सौन्दर्य का अभाव है। वह मूर्तियां पीछे से निराधार भी नहीं हैं। उनकी पीठ को उसी प्रस्तर शिला का आधार मिला हुआ है। पीठ से बिना आधार होने तथा अपूर्व सौन्दर्य के कारण इस प्रकार यह मूर्ति विश्व की एक मात्र सबसे ऊंची मूर्ति मानी जाती है।

मूर्ति के मुख पर व्याप्त विशिष्ट मुस्कान से प्रतीत होता है कि क्रोध, मान, माया, लोभ आदि पर विजय प्राप्त करने के पश्चात बाहुबली सांसारिक वस्तुओं की निस्सारता पर मुस्करा रहे हैं अथवा संसार के भौतिक सुख-दुःखों से ऊपर उठ जाने के कारण उनके मन का आनन्दमय संतोष मुख पर उभर आया है। इस मूर्ति के एकदम सीधे खड़े रहने से शिल्पी ने बाहुबली के मन एवं इन्द्रियों पर पूर्ण नियंत्रण को दर्शाया है।

कन्नड़ के अनेक कवियों ने इस सुन्दर मूर्ति को अपने काव्यों में अनेक प्रकार

से प्रशंसा की है। मूर्ति का काव्यात्मक विवरण 1180 ई० के लगभग कवि बोप्पण द्वारा रचित एक लघु कन्नड़ काव्य में किया गया है। यह काव्य शिलालेख क्रम संख्या 336 में विन्ध्यगिरि पर सुत्तालय के प्रवेश द्वार के बांयी ओर एक पाषाण शिला पर उत्कीर्ण है। इस शिलालेख को बारहवीं शताब्दी में कयदमय्य के दीवान ने नयकीर्ति सिद्धांत चक्रवर्ती की प्रेरणा पर उत्कीर्ण कराया था। इस काव्य में कवि बोप्पण पंडित ने मूर्ति के कला सौन्दर्य पर मुग्ध होकर कहा है :

अतितुंगाकृतियादोडागदद रोल्सौन्दर्यमौन्नत्यमुं
नुतसौन्दर्यमुमागे मत्ततिशयंतानागदौन्नत्यमुं
नुतसौन्दर्यमुमूर्जितातिशयमुं तन्नल्लि निन्दिर्द्दुवें
क्षितिसम्पूज्यमो गोम्टेश्वरजिनश्री रुपमात्मोपमं ॥

अर्थात जब मूर्ति आकार में बहुत ऊंची एवं विशाल होती है तब उसमें प्रायः सौन्दर्य का अभाव रहता है। यदि विशाल भी हुई और उसमें सौन्दर्य बोध भी हो तो उसमें दैवी प्रभाव का अभाव खटकता है। लेकिन यहां तीनों के समुच्चय से ससार द्वारा पूजित गोम्मटेश्वर की छटा अपूर्व हो गई है।

इस अभिलेख में इस गोम्मटेश्वर मूर्ति को दक्षिण का कुक्कुटेश्वर भी कहा गया है। इसी में यह भी उल्लेख है कि मूर्ति के ऊपर भूल से भी चिड़िया नहीं उड़ती तथा इसकी तेजोमय दिव्यता इससे प्रस्फुटित होती रहती है।

यह मूर्ति इतनी ऊंचाई पर निर्मित है तथा स्वयं इतनी ऊंची है कि विन्ध्यगिरि के चारों और 25 कि० मी० दूर से दिखायी देती है। जैसे-जैसे वाहन पहाड़ी के निकट आता जाता है मूर्ति के प्रति आदर भाव उदीप्त होने लगता है। जाते समय भी बार-बार इसको मुड़कर देखने की इच्छा बनी रहती है।

भारत के प्रथम राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद ने अपनी आत्मकथा में इस मूर्ति के विषय में लिखा है "मूर्ति ऐसी सुन्दर है कि चाहे आप मीलों दूर से देखिये चाहे नजदीक आकर उसके सभी अंग ऐसे अनुपात से बनाए मालूम होंगे कि कहीं कुछ भी कमी मूर्ति में नजर नहीं आयेगी। प्रत्येक अंग, पैर की अंगुलियों से लेकर नाक, कान तक अपने-अपने स्थान पर ठीक अनुपात से बनाए दिखाई पड़ते हैं।"

प्रथम प्रधानमंत्री स्व० जवाहरलाल नेहरू ने इस मूर्ति के दर्शन कर यह व्यक्त किया था कि मैं आज यहां आया और इस आश्चर्यजनक मूर्ति को देखा और प्रसन्न हुआ।

भूतपूर्व मैसूर नरेश स्व० कृष्णराज वोडेयार ने कहा था "जिस प्रकार भारतवर्ष बाहुबली के बन्धु भरत के साम्राज्य के रूप में विद्यमान है उसी प्रकार मैसूर की भूमि गोम्मटेश्वर के आध्यात्मिक साम्राज्य की प्रतीक रूप है।"

कहा जाता है कि सन् 1779 में जब सर आर्थर वेलेजली (बाद में भारत के

गवेंसर-जनरल) ने मैसूर की राजधानी श्रीरंगपट्टम पर मेरा आंखों का तब वहां जाते हुए उस मूर्ति की भव्यता, विशालता एवं कला को देखकर आश्चर्यचकित हो गया था। वह इसी दुविधा में रहा कि मूर्ति पर्वत का ही एक भाग है अथवा उसको अलग बनाकर वहां स्थापित किया गया है।

फर्गुसन, स्मिथ, बर्जेस, जिम्मर आदि अनेक पाश्चात्य इतिहासज्ञों व पुरा विद्वानों तथा डा० आनन्दकुमार स्वामी, शेषगिरि राव आदि कला विशेषज्ञों ने भी इस मूर्ति की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। हेनरिख जिम्मर ने तो लिखा है "आकृति एवं अंग-प्रत्यंग की संरचना की दृष्टि से यद्यपि यह प्रतिमा मानवीय है तथापि अधर लटकती हिमशिला की भांति अमानवीय मानवोत्तर है और इस प्रकार जन्म-मरण रूप संसार से, दैहिक चिन्ताओं से, वैयक्तिक नियति, इच्छाओं, पीड़ाओं एवं घटनाओं से सफलतया असंपृक्त तथा पूर्णतया अन्तर्मुखी चेतना की निर्मल अभिव्यक्ति है···किसी अभौतिक, अलौकिक पदार्थ से निर्मित ज्योति-स्तंभ की भांति वह सर्वथा स्थिर, अचल और चरणों में नमित एवं सोत्साह पूजनोत्सव में लीन भक्त-समूह के प्रति सर्वथा निरपेक्ष, पूर्णतया उदासीन खड्गासीन है।"

मूर्ति प्रतिष्ठा

गोम्मटेश्वर मूर्ति के निर्माण एवं प्रष्ठिापना की तिथि पर विद्वानों में कुछ मतभेद रहा है। यद्यपि निर्माण के समय के कई शिलालेख विन्ध्यगिरि पर अंकित हैं किन्तु उनमें से किसी में भी निर्माण वर्ष एवं प्रतिष्ठापना वर्ष अथवा तिथि का उल्लेख नहीं हुआ है जिससे कि तिथि का ऐतिहासिक प्रमाण मूल रूप में मिल जाता। मूर्ति निर्माण के पश्चात् के शिलालेखों में भी तिथि का उल्लेख नहीं हुआ है। तिथि का एकमात्र उल्लेख अभी तक उपलब्ध कवि दोड्डय द्वारा 1550 ई० में उनके द्वारा रचित "भुजबली चरित" के 64 वें पद्य में निम्न प्रकार से किया गया है :

> कल्क्यब्दे षट्शताब्दी विनुतविभव संवत्सरे मासि चैत्रे,
> पंचम्यां शुक्लपक्षे दिनमणि दिवसे कुम्भ लग्ने सुयोगे।
> सौभाग्ये मस्तनाम्नि प्रकटित-भगणे सुप्रशस्तां चकार,
> श्री चामुण्ड राजो बेलगुल नगरे गोम्मटेश प्रतिष्ठाम्॥

अर्थात् चैत्र शुक्ला पंचमी रविवार, कुम्भलग्न, सौभाग्य योग, मृगशिरा नक्षत्र में जब संवत्सर था और काली (काल्कि) संवत् 600 था श्रीमद् चामुण्डराय ने बेलगोल नगर में गोम्मटेश की प्रतिष्ठा सम्पन्न कराई थी।

उपरोक्त में किसी भी प्रचलित अथवा प्रसिद्ध संवत् अर्थात महावीर निर्वाण, विक्रम संवत या शक संवत का उल्लेख न होने के कारण और विभव संवत्सर एवं काल्कि संवत के अनिश्चित श्रेणी के होने के कारण विद्वानों में उपरोक्त तिथि गणना के विषय में मतभेद उत्पन्न हुआ है। अब यह मान्य है कि महावीर निर्वाण (ई० पू० 527) का

जैन सहस्राब्द प्रथम कल्कि के 42 वर्षीय शासन के अंत के साथ ही समाप्त हुआ था। यदि कल्कि सम्वत का प्रारम्भ 473 ई० में उसकी मृत्यु से माना जाये तो प्रतिष्ठा वर्ष 1073 ई० होता है और यदि 431 ई० में उसके राज्य आरम्भ होने के समय से माना जाये तो 1031 ई० होता है। किन्तु ये दोनों ही तिथियां स्वयं चामुण्डराय, गंग नरेश मारसिंह तथा राचमल्ल चतुर्थ, आचार्य अजितसेन एवं नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती के काल से मेल नहीं खाती हैं। इस कारण उस काल में मूर्ति का चामुण्डराय द्वारा निर्मित होना अथवा उसकी प्रतिष्ठा होना अमान्य है। इसी कारण तिथि निर्धारण में यद्यपि विद्वानों ने कवि दोड्डय द्वारा दी गई अन्य सूचना को तो आधार बनाया है किन्तु कल्कि संवत की उपेक्षा की है।

डा० नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य तथा श्री एम० गोविन्द पै ने मूर्ति का प्रतिष्ठा वर्ष 981 ई० माना है। चामुण्डराय द्वारा 978 ई० में रचित त्रिशष्ठीशलाका पुरुष चरित्र में यद्यपि उनकी अपनी उपलब्धियों का वर्णन है किन्तु इस मूर्ति के निर्माण कराने का उन्होंने उसमें कहीं वर्णन नहीं किया है। इस कारण यह मूर्ति 978 ई० के पश्चात ही निर्मित तथा प्रतिष्ठित होनी चाहिए। चामुण्डराय का निधन 990 ई० के लगभग हुआ प्रतीत होता है। इस कारण इस मूर्ति का प्रतिष्ठा वर्ष 978 ई० और 990 ई० के मध्य होना चाहिए। कवि दोड्डय के मतानुसार कल्कि का राज्यारम्भ महावीर निर्वाण संवत 1000 में, अर्थात इसमें से 662 घटाने पर 338 ई० में हुआ था और 42 वर्ष पर्यन्त राज्य करने के कारण उसकी मृत्यु पर उसके संवत का आरम्भ 380 ई० में हुआ। अतएव कल्कि संवत 600 का अर्थ 980 ई० हुआ और संवत परिवर्तन चैत्र 1 से होने के कारण प्रतिष्ठा तिथि चैत्र शुक्ल 5 (कल्कि संवत 601) अर्थात 981 ई० हुआ। इस प्रकार श्रवणबेलगोल में बाहुबली की इस विशाल मूर्ति की प्रतिष्ठापना तिथि चैत्र शुक्ल 5 रविवार, मृगाशिरा नक्षत्र, कुम्भ लग्न, सौभाग्य योग, संवत्सर विभव तदनुसार 13 मार्च, सन् 981 निश्चित होती है। उसी को अधिक युक्तिसंगत मानकर 1981 ई० में इस मूर्ति के 1000 वर्ष पूर्ण होने पर उस वर्ष की फरवरी में भव्य सहस्राब्दि समारोह आयोजित किया गया।

मूर्ति की प्रतिष्ठा चामुण्डराय के गुरु नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती द्वारा सम्पन्न हुई थी। वह स्नेह से चामुण्डराय को गोम्मट कहा करते थे। चामुण्डराय ने उनसे निवेदन किया कि जैन सिद्धांतों को समझने के लिए वह सिद्धांत विषयों का सार इस प्रकार लिख दें कि विषय संक्षेप में समझ में आ जाये। नेमिचन्द्र ने इसके लिए षटखंडागम के छहों खंडों का सार पंचसंग्रह नामक प्राकृत भाषा के ग्रन्थ में लिखकर उस प्रसिद्ध ग्रन्थ का नाम चामुण्डराय के गोम्मट नाम के कारण 'गोम्मटसार' प्रचलित कर दिया।

उन्होंने अपने इस ग्रंथ के विषय में स्पष्ट लिखा है कि उन्होंने सिद्धांत सागर का मंथन करके अपना यह गोम्मट संग्रह सूत्र उन राय गोम्मट अथवा गोम्मटराय के हित के लिए रचा है जिनके गुरु अजितसेन आचार्य थे और जिन्होंने गोम्मटगिरि (चन्द्रगिरि)

शिखर पर गोम्मट-जिन (नेमिनाथ तीर्थंकर) की प्रतिमा प्रतिष्ठित की थी तथा विशाल दक्षिण कुक्कुट-जिन (बाहुबली मूर्ति) का निर्माण कराया था। आचार्य नेमिचन्द्र ने यद्यपि चामुण्डराय का उल्लेख गोम्मट या गोम्मटराय नाम से किया है, उनके द्वारा निर्मित चामुण्डराय बसदि के कारण उसे गोम्मटगिरि कहा है तथा उसमें प्रतिष्ठापित भगवान नेमिनाथ की प्रतिमा को गोम्मट जिन कहा है, किन्तु विन्ध्यगिरि पर उनके द्वारा निर्मित विशाल बाहुबली मूर्ति का दक्षिण कुक्कुट-जिन नाम से ही उल्लेख किया है। कवि रन्न ने भी अजितनाथ पुराण में मूर्ति का कुक्कुट-जिन नाम से उल्लेख किया है। प्रतीत होता है कि प्रतिष्ठा के समय आचार्य नेमिचन्द्र ने इस मूर्ति को दक्षिण कुक्कुट-जिन अथवा कुक्कुट-जिन का ही नाम दिया था किन्तु पचास-सौ वर्ष के पश्चात चामुण्डराय अथवा गोम्मटराय की प्रसिद्धि बढ़ने के कारण अथवा उनके लिए लिखे गये गोम्मटसार की प्रसिद्धि बढ़ने पर इस मूर्ति का नाम भी गोम्मट एवं गोम्मटेश्वर प्रसिद्ध होता गया। कालान्तर में तो गोम्मटराय की प्रसिद्धि के कारण श्रवणबेलगोल भी काफी समय तक गोम्मटपुर, गोम्मटतीर्थ, गोम्मटदेव का नगर कहलाता रहा।

एक यह भी मत है कि अप्रतिम सुंदर बाहुबली के प्रथम कामदेव होने के कारण उन्हें गोम्मट कहा जाता था। कामदेव सरीखे सुंदर व्यक्ति के लिए ही गोम्मट विशेषण का प्रयोग किया जाता था। चामुण्डराय के सुन्दर होने के कारण ही आचार्य नेमिचन्द्र उन्हें गोम्मटराय कहा करते थे। अनेक शिलालेखों तथा साहित्यिक कृतियों में श्रवणबेल-गोल की बाहुबली की मूर्ति को गोम्मटेश, गोम्मटेश्वर, गोम्मटनाथ, गोम्मटजिन, गोम्मट स्वामी, गोम्मटदेव नाम दिये गये हैं। इस नाम का प्रचलन फिर इतना बढ़ा कि दक्षिण में अनेक स्थानों पर बाहुबली मूर्तियां स्थापित किये जाने पर उनका नाम गोम्मट रूप में प्रसिद्ध हुआ जैसे कारकल, वेणूर तथा श्रवणगिरि आदि की परवर्ती काल में स्थापित विशाल मूर्तियों के नाम के साथ गोम्मट शब्द सम्बद्ध हुआ।

स्व० डा० ऐ. एन. उपाध्ये के अनुसार गोम्मट शब्द मूलतः प्राकृत अथवा संस्कृत भाषा का नहीं वरन् देशज है जो थोड़े-थोड़े अंतर को लिए हुए कन्नड़, मराठी, कोंकणी व तेलगू भाषा में पाया जाता है और जिसका प्रयोग सुन्दर, सुदर्शन, उत्तम, श्रेष्ठ आदि के लिए होता है। उनके अनुसार गोम्मटराय चामुन्डराय का घरेलू नाम रहा होगा। ऐसा प्रतीत होता है कि एक ही ग्राम में जन्म लेने या पड़ोसी अथवा निकट सम्बंधी रहने के कारण गुरु नेमिचन्द्र चामुन्डराय को उनके घरेलू गोम्मट नाम से ही पुकारते थे और यद्यपि प्रतिष्ठा के समय उन्होंने मूर्ति का नाम कुक्कुट-जिन रखा किन्तु कालान्तर में चामुण्डराय (गोम्मटराय) की प्रसिद्धि बढ़ने के कारण मूर्ति का नाम भी गोम्मटेश्वर रूप में प्रचलित हुआ।

मूर्ति पर की गयी चमकदार पालिश एक सहस्र वर्ष से इसकी वर्षा, धूप, ताप, शीत एवं आंधी से रक्षा करती आ रही है। एक सहस्र वर्ष प्राचीन होने पर भी लगता

है कि मूर्ति का निर्माण कुछ ही वर्ष पूर्व हुआ है। पुरातत्व विशेषज्ञों के अनुसार मूर्ति के जीवन को दीर्घ अवधि तक भी कोई आशंका नहीं है।

जैन मूर्तियों का अभिषेक विशेष पुण्य एवं महत्व की बात समझा जाता है। मूर्ति का निर्माण पूर्ण होने के पश्चात चामुन्डराय के हृदय में उस मूर्ति का धूमधाम से अभिषेक कराने की इच्छा बलवती हुई। कलशों द्वारा मस्तक से अभिषेक करने के लिए ऊंचा मचान बनवाया गया। साधन सम्पन्न चामुण्डराय के लिए ऐसा सब कुछ करना तथा एक विशाल आयोजन करना कुछ कठिन न था। ऐसी विशाल एवं सुन्दर मूर्ति के निर्माण तथा अभिषेक के लिए आयोजित भव्य समारोह से यदि चामुण्डराय के मन में भी उस समय किंचित अभिमान भावना जागृत हो गई हो तो आश्चर्य नहीं। चामुन्डराय ने दूध के अनेकों कलश मूर्ति के मस्तक पर चढ़ाए किन्तु लगता था कि उनमें उदित अभिमान भावना ने उस सब तरल को कहीं कीलित कर दिया था। कुछ भी बह कर नाभि के नीचे नहीं पहुंच पा रहा था, पद-प्रक्षालन नहीं हो रहा था।

एक बुढ़िया जो प्रतिदिन मूर्ति का निर्माण देखती थी उसे नमस्कार करती रहती थी। एक छोटी गुल्लिका (श्वेत गुल्लकेय फल के काष्ठ के खोल) में दूध भर कर प्रतिदिन वह वहां तक आती किन्तु बात न बनने के कारण निराश लौट जाती। अभिषेक विफल होते देख निराश एवं दुखी हृदय चामुण्डराय ने गुरु नेमिचन्द्र से परामर्श किया। गुरु उस क्षीणकाय बुढ़िया को गुल्लिका में कुछ लिए हुए देखकर आशावान हुए। उन्होंने सुझाव दिया कि वृद्धा से अभिषेक कराया जाये। वृद्धा ने अपनी गुल्लिका में भरे दूध को जब अभिषेक के लिए मूर्ति के मस्तक पर उंडेला तो सब के आश्चर्य की सीमा न रही। सभी अवरुद्ध दूध नाभि से नीचे बहकर पद-प्रक्षालन करने लगा। अभिषेक की विधि पूर्ण हुई, वह सफल हुआ। चामुन्डराय की प्रसन्नता की सीमा न रही। उनके मन में उदित किंचित अभिमान का अंश भी शेष न रहा। उनको प्रतीत हुआ कि वृद्धा के रूप में मानो शासनदेवी ही स्वयं प्रकट होकर उनको यह बोध कराने आई थी कि भक्ति एवं श्रद्धा में अभिमान को स्थान कहां। अभिमान सहित चढ़ाए गए अनेकों कलशों की अपेक्षा श्रद्धा एवं विनम्र भाव से चढ़ाया गया थोड़ा-सा भी दूध अधिक महत्वपूर्ण है। इस घटना को अमर बनाए रखने के लिए वृद्धा के प्रति आदर स्वरूप चामुण्डराय ने आंगन के बाहर, गोम्मेटेश्वर की मूर्ति के ठीक सामने उसकी गुल्लिकायजी नाम से मूर्ति स्थापित करवा दी। कहा जाता है कि वृद्धा के रूप में उस क्षेत्र की शासनदेवी कूष्मांडिनी देवी ही प्रकट हुई थी।

मूर्ति के सामने के मंडप में नौ कलापूर्ण छतें हैं जिनमें से आठ छतों पर अष्ट दिक्पालों की सुन्दर मूर्तियां हैं। बीच की छत में अभिषेक के लिए पूर्ण कुम्भ धारण किए हुए द्रविड़ शैली की सुन्दर मूर्ति बनी है। मन्डप के ऊपर चूने की बनी कूष्मांडिनी देवी, पद्मावती देवी, इन्द्र, सरस्वती एवं लक्ष्मी की मूर्तियां हैं। मण्डप के स्तम्भों पर शिलालेख एवं नृत्यरत सुन्दरियों के चित्र उत्कीर्ण हैं। मध्य की छत में उत्कीर्ण बारहवीं शताब्दी के लेख क्रमांक 322 से ज्ञात होता है कि इस मन्डप का निर्माण बारहवीं शताब्दी के

आरम्भिक वर्षों में किन्हीं बलदेव नामक मंत्री द्वारा कराया गया था। बारहवीं शताब्दी के लेख क्रम संख्या 373 के अनुसार सेनापति भरतमय्य (भरतेश्वर दण्डनायक) ने इस मन्डप के कठघरे का निर्माण कराया था। मूर्ति के दोनों ओर प्रदक्षिणालय तथा चारों ओर परकोटा है। परकोटे का निर्माण होयसल नरेश विष्णुवर्धन के सेनापति एवं अमात्य गंगराज ने शक संवत 1039 (सन् 1117) के लगभग कराया था इसका उल्लेख मूर्ति के पद के पास उत्कीर्ण शिलालेख क्रम संख्या 274 एवं 277 में किया गया है। श्रवणबेलगोल से लगभग पांच किलोमीटर दूर ग्राम सागेहल्लि के उत्तर-पश्चिम में एक खेत के पास उत्कीर्ण शिलालेख क्रम संख्या 547 में गंगराज की प्रशस्ति उत्कीर्ण है। ऐचिराज एवं पेचिकब्बे का पुत्र गंगराज अत्यंत पराक्रमी तथा धार्मिक वृत्ति वाला व्यक्ति था और विष्णुवर्धन के राज्य का कार्य संचालन अत्यंत कुशलता से करता था। उसने युद्धों में नरसिंहवर्मन तथा अन्य चोल सामन्तों आदि को परास्त कर उनको युद्ध-भूमि से भागने पर विवश किया था। विष्णुवर्धन से उपहार में मिले गोविन्दवाडी ग्राम को उसने गोम्मटेश्वर मूर्ति की पूजार्थ तथा व्यवस्था के लिए समर्पित कर दिया था। जैन धर्म परायण गंगराज शुभचन्द्र सिद्धांतदेव का शिष्य था। यह उल्लेखनीय है कि द्वार-समुद्र राज्य (हेलेबिडु) के प्रतापी शासक विष्णुवर्धन (राज्यकाल 1111-1141 ई.) पूर्व में जैन धर्मावलम्बी थे और उनका नाम था बिट्टिगदेव। कालांतर में रामानुजाचार्य के प्रभाव से बिट्टिगदेव ने शैव धर्म अंगीकार कर अपना नाम विष्णुवर्धन धारण कर लिया था। उनकी जैन पत्नी शान्तला देवी अंत तक जैन धर्मावलम्बी बनी रहीं। वह एक निपुण नृत्यांगना तथा कलाप्रेमी एवं धर्म परायण महिला थीं। हेलेबिडु की प्रसिद्ध पार्श्वनाथ बसदि व उस से संबद्ध नवरंग तथा आदिनाथ बसदि व शान्तिनाथ बसदि का निर्माण शान्तलादेवी ने ही विष्णुवर्धन के शैव धर्म अंगीकार करने से पूर्व कराया था। पार्श्वनाथ बसदि के काले व चिकने पाषाण से निर्मित अत्यंत कलात्मक एवं अलंकृत 14 स्तंभ समस्त भारत में प्रसिद्ध हैं तथा उत्कृष्ट शिल्प का बहुत ही सुन्दर उदाहरण हैं। बजाने पर इनमें से कुछ स्तंभों से मधुर ध्वनि उत्पन्न होती है।

प्रदक्षिणालय में मंडपों के भीतर दोनों ओर तथा गोम्मटेश्वर मूर्ति के पीछे 43 जिन मूर्तियां प्रतिष्ठित हैं जिनका निर्माण एवं प्रतिष्ठा भिन्न-भिन्न व्यक्तियों ने भिन्न-भिन्न अवसरों पर करवाया है। इनमें से अनेक मूर्तियां प्राचीन तथा बहुत कलात्मक हैं। परकोटे की दीवारों में भी अनेक जैन मूर्तियां निर्मित हैं।

निर्माता चामुन्डराय:—इस अद्वितीय मूर्ति के निर्माण के कारण चामुन्डराय का नाम सदैव के लिए प्रसिद्ध हो गया है। इनका जन्म पिता महाबलय्य और माता कालला देवी के यहां ब्रह्मक्षत्रीय वंश में हुआ था। शिलालेख क्रम संख्या 388 में, जो त्यागद् ब्रह्मदेव स्तम्भ पर उत्कीर्ण हैं, उनके उस वंश में उत्पन्न होने का उल्लेख किया गया है। वह गंग नरेश मारसिंह (राज्यकाल सन् 961-974) तथा राचमल्ल चतुर्थ (राज्यकाल 974-984 ई.) के अमात्य एवं सेनापति रहे। वह सम्भवतया मारसिंह के

पूर्वक मरूलदेव तथा राचमल्ल के उत्तराधिकारी राक्कसगंग के राज्य-मंत्री एवं सेनापति भी रहे। मृत्यु के समय मारसिंह ने उनको अपने स्वामी तथा भानजे राष्ट्रकूट इन्द्र चतुर्थ की रक्षा का भार सौंपा था। उन्होंने राजादित्य राच नामक महाबली तथा गोविन्दराज आदि को वीरतापूर्वक करारी पराजय दी थी। शत्रु उनकी वीरता से भय खाने लगे थे।

उनके पितामह और पिता दोनों को ही गंगवंशीय नरेशों के यहां समुचित आदर प्राप्त था। उनकी धर्मपत्नी का नाम था अजिता देवी और पुत्र का जिनदेवन। चामुण्डराय का अधिकांश जीवन गंगों की राजधानी तलकाडु में व्यतीत हुआ। वे कुशल सेनापति तथा मंत्री थे। उन्होंने युद्धों में शौर्य दिखलाकर एवं शत्रुओं को परास्त कर अनेक उपाधियां अर्जित की थीं। उनका उल्लेख नेमिचन्द्र कृत गोम्मटसार जीवकाण्ड की मन्द प्रबोधिनी टीका की उत्थानिका तथा अन्य कृतियों में किया गया है।

रोडग के युद्ध में वज्जलदेव को पराजित करने पर उन्हें "समर धुरंधर" उपाधि, गोनूर के युद्ध में नोलम्बों को पराजित करने पर "वीर मार्तण्ड", उच्छंगि के दुर्ग में राजादित्य को त्रस्त करने पर "रणरंगसिंह", बागेयूर के दुर्ग में त्रिभुवन वीर को समाप्त करने एवं गोविन्दर को उस दुर्ग में प्रविष्ट कराने के लिए "वैरीकुलकालदण्ड" तथा अन्य युद्धों में विजय प्राप्त करने के लिए "भुजविक्रम", "भट्टमारि", "प्रतिपक्ष-राक्षस", "नोलम्बकुलान्तक", समरकेसरी", "सुभटचूड़ामणि", "समर परशुराम" आदि उपाधियां प्राप्त हुई थीं।

उन्होंने अपने कौशल एवं पराक्रम से नोलंबों, चालुक्यों एवं वज्जलों को बार-बार परास्त कर सदैव जैन धर्मावलम्बी गंग नरेशों की रक्षा की तथा उनके स्वामी राष्ट्रकूट सम्राटों का भी संरक्षण किया। उन्होंने ऐसे समय में गंगवंश की सहायता की जब उनका यश सूर्य अस्तोनमुख हो रहा था।

सुदर्शन होने के कारण उनके अन्य उपनाम थे गोम्मट तथा गोम्मटराय। आदर से उन्हें अण्ण (भाई) राय भी कहा जाता था। वह अत्यन्त धार्मिक वृत्ति के सदाचारी व्यक्ति थे। वह जिनेन्द्र भगवान, अपने इष्ट जिन तीर्थंकर नेमिनाथ, भगवान बाहुबली, कुलगुरु अजितसेनाचार्य तथा विद्या गुरु आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती के परम भक्त थे। अपने सदाचारी एवं धार्मिक जीवन के कारण उन्हें "सम्यकत्वरत्नाकर", "शौचाभरण", "सत्ययुधिष्ठिर", "देवराज", "गुणकाव", "गुणरत्न भूषण" जैसी उपाधियां भी मिली हुई थी।

तलवार के धनी चामुण्डराय की ज्ञानोपार्जन में भी विशेष रुचि थी। वह सिद्धान्त के अच्छे ज्ञाता, कला मर्मज्ञ, विद्वानों एवं कलाकारों के प्रश्रयदाता तथा जैन धर्म प्रभावक थे। कन्नड के प्रसिद्ध कवि रन्न के वह आद्य प्रश्रयदाता थे जिसे उन्होंने कवि के साथ-साथ एक कुशल सेनानी भी बना दिया था। बाद में महाकवि रन्न के आश्रयदाता रहे चालुक्य नरेश तैल द्वितीय और उनके उत्तराधिकारी। रन्न की प्रसिद्ध

कृति है "गदा युद्ध" जिसमें भीम एवं दुर्योधन के मध्य हुए मल्लयुद्ध का वर्णन है। उनकी दूसरी प्रसिद्ध रचना है "अजित पुराण"। एक अन्य प्रसिद्ध कवि नागवर्मा के भी चामुण्डराय आश्रयदाता थे। कहा जाता है कि यह दोनों ही कवि आचार्य अजितसेन के शिष्य थे। अगाध ज्ञानी गुरु नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती से वे धर्म ज्ञान प्राप्त करते थे। स्वभाव की कोमलता तथा निराभिमानता उनके अन्य विशेष गुण थे। कहा जाता है कि एक दिन गुरु नेमिचन्द्र जब कठिन कर्म सिद्धान्त ग्रन्थ धवला का अध्ययन कर रहे थे तब चामुण्डराय के वहां पहुंचने पर उन्होंने उसको बन्द कर एक ओर रख दिया। ऐसा देखकर चामुण्डराय में जिज्ञासा का होना स्वाभाविक था। गुरु ने उत्तर दिया कि ग्रन्थ के अधिक कठिन विषय के कारण ही उन्होंने यह सोचकर कि वह अभी चामुण्डराय की समझ में नहीं आएगा ग्रन्थ को उनके रहते बन्द करके रख दिया है। इससे प्रेरित होकर उन्होंने गुरु नेमिचन्द्र से संक्षिप्त ग्रन्थ लिखने की, जिसमें सार रूप में सब समाविष्ट हो जाये, प्रार्थना की थी। धैर्य एवं अध्ययन के कारण चामुण्डराय ने यथेष्ट शास्त्रज्ञान अर्जित किया। कन्नड, संस्कृत एवं प्राकृत भाषाओं के वे अच्छे विद्वान एवं कवि बन गये। उनके द्वारा रचित अभी तक ज्ञात पुस्तकों के नाम हैं :

1. वीर मार्तण्डी—यह गोम्मटसार की कन्नड भाषा में अभी तक अनुपलब्ध टीका है।

2. चरित्रसार

3. त्रिशष्ठी लक्षण पुराण (त्रिशष्ठीशलाका पुरुष चरित्र) यह जैन धर्म में वर्णित 63 महापुरुषों की (24 तीर्थंकरों सहित) जीवन गाथा है। इसकी रचना उन्होंने 978 ई० में की थी। इसके आरम्भिक एवं अंतिम परिच्छेदों में उन्होंने अपने विषय में भी लिखा है। यह कन्नड गद्य की अभी तक उपलब्ध सबसे प्रथम रचना मानी जाती है।

चामुण्डराय ने अनेक जैन मंदिरों, प्रतिमाओं तथा धार्मिक कलाकृतियों का निर्माण, जीर्णोद्धार एवं प्रतिष्ठा कराई थी। चन्द्रगिरि पर उन्होंने चामुण्डराय बसदि का निर्माण करा कर उसमें इन्द्र नीलमणि की अपने इष्ट जिन तीर्थंकर नेमिनाथ की प्रतिमा स्थापित करवाई। स्थापत्य की दृष्टि से चामुण्डराय बसदि द्रविड़ शैली में श्रवणबेलगोल में सबसे अधिक कलात्मक मंदिर माना जाता है। विंध्यगिरि पर्वत पर उत्तुंग गोम्मटेश्वर मूर्ति के सम्मुख उन्होंने त्यागद् ब्रह्मदेव नामक सुन्दर स्तम्भ तथा गुल्लिकायजी की मूर्ति को स्थापित करवाया। कहा जाता है कि त्यागद् ब्रह्मदेव स्तम्भ के नीचे बैठकर ही वह दानादि करते थे।

वह अपनी माता काललादेवी के परम भक्त थे तथा उनकी इच्छा पर ही उनके द्वारा विश्व प्रसिद्ध गोम्मटेश्वर मूर्ति का निर्माण सम्भव हुआ। काललादेवी जिनदेव की परमभक्त, धर्मपरायण महिला थीं। उनकी पत्नि अजितादेवी भी पतिपरायण तथा अत्यन्त धार्मिक वृत्ति की महिला थीं। उनका पुत्र जिनदेवन अथवा जिनदेवण भी

जिनदेव का भक्त था तथा धार्मिक व्यक्ति था। भव्य चामुण्डराय बसदि की ऊपरी मंजिल का निर्माण उसी के द्वारा कराया माना जाता है। वह भी आचार्य अजितसेन का बहुत सम्मान करता था। आचार्य अजितसेन अपने समय के प्रसिद्ध जैन आचार्य थे और राज्यवंश, मंत्रीगण, सेनापति तथा प्रजा द्वारा भली भांति सम्मानित थे।

धर्मपरायण एवं वीर चामुण्डराय का निधन राचमल्लगंग के शासनकाल में 990 ई० के लगभग हुआ प्रतीत होता है।

६

श्रवणबेलगोल एवं उसके अंचल के शिलालेख

श्रवणबेलगोल एवं उसके अंचल में अभी तक 573+27 कुल 600 शिलालेख ज्ञात हुए हैं। 27 शिलालेख निकट विगत में ही ज्ञात हुए हैं। इन शिलालेखों के कारण श्रवणबेलगोल का तथा जैन धर्म के दक्षिण में प्रसार का, विशेषकर अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी एवं उनके विशाल संघ सहित चन्द्रगुप्त मौर्य के दक्षिण में पधारने, तपस्या करने आदि का प्राचीन इतिहास तो मिलता ही है इसके अतिरिक्त यह शिलालेख वहां के स्थापत्य, निर्माण, निर्माताओं, राज-परिवारों, धर्मपरायण व्यक्तियों, धार्मिक क्रियाओं, दानशीलता, श्रवणबेलगोल की यात्राओं आदि पर भी यथेष्ट प्रकाश डालते हैं।

मैसूर राज्य में शिलालेखों से सम्बन्धित खोज एवं उनके संकलन के कार्य का आरम्भिक श्रेय एक अंग्रेज विद्वान मि. बी. एल. राइस को प्राप्त होता है। जिन्हें सन 1880 में मैसूर राज्य के पुरातत्व विभाग का अंशकालिक निदेशक नियुक्त किया गया था। उन्होंने अपने बाईस वर्ष के सेवाकाल में सन् 1906 तक उस समय तक मैसूर राज्य में सम्मिलित आठ जिलों तथा कुर्ग से जो उस समय एक स्वतंत्र रियासत थी, 8869 शिलालेखों का संकलन किया। इन शिलालेखों को उन्होंने लिप्यन्तरण एवं अंग्रेजी में अनुवाद सहित एपिग्राफिया कर्नाटिका नामक पुस्तक के बारह भागों में प्रकाशित करवाया। भाग दो में केवल श्रवणबेलगोल एवं उसके अंचल के शिलालेखों का ही संकलन है। सन् 1906 में श्री राइस के सेवा निवृत होने पर श्री रामानुजापुरम नरसिंहाचार्य (1860-1936) उस पद पर आरूढ़ हुए। अपने सोलह वर्ष के सेवाकाल में उन्होंने 5000 और शिलालेखों की खोज की। उनमें से महत्वपूर्ण शिलालेखों को उन्होंने राज्य के पुरातत्व विभाग की वार्षिक रिपोर्टों में प्रकाशित करवाया। मि. राइस ने एपिग्राफिया कर्नाटिका के दूसरे भाग में, जिसका प्रकाशन सन् 1889 में हुआ था, श्रवणबेलगोल में उस समय तक प्राप्त केवल 144 शिलालेखों का ही संकलन किया था। पुरातत्व के धुरंधर विद्वान श्री नरसिंहाचार्य ने अथक परिश्रम करके जब सन् 1923 में इसका परिवर्द्धित संस्करण प्रकाशित किया तब उसमें 500 शिलालेख संकलित थे। एपिग्राफिया कर्नाटिका भाग दो का सन् 1973 में अन्य परिवर्द्धित संस्करण प्रकाशित होने पर उसमें तब तक प्राप्त 573 शिलालेखों का संकलन

किया गया है । कन्नड विद्या संस्थान, मैसूर विश्वविद्यालय, मानस गंगोत्री, मैसूर ने इस परिवर्द्धित संस्करण का प्रकाशन कर पुरातत्व प्रेमियों एवं शोधकर्ताओं पर विशेष उपकार किया है । इन 573 शिलालेखों में केवल पाषाण पर अंकित लेख ही सम्मिलित हैं । कागज पर लिखी सनदें अथवा काष्ठ पर उत्कीर्ण लेख शिलालेखों के अंतर्गत न आने के कारण उनमें नहीं दिए गए हैं ।

573 शिलालेखों में से 271 चन्द्रगिरि पर, 172 विंध्यगिरि पर, 80 श्रवणबेलगोल नगर में तथा 50 समीपस्थ ग्रामों में उत्कीर्ण हैं । समीपस्थ ग्रामों में उत्कीर्ण 50 लेखों का विवरण इस प्रकार है : बस्तिहल्लि 1, बेक्का 4, बोम्मेणहल्लि 2, बलया 2, हलेबेल्गोल 1, हालुमत्तिगत्ता 2, हिन्दलहल्लि 1, हिरेबेल्टी 1, होसहल्लि 3, जिननाथपुर 16, जिण्णेहल्लि 2, कब्बालू 1, कान्तराजपुर 1, कन्थिरायापुर 2, कुम्बेणहल्लि 1, मट्टेकाले 1, परम 1, रागिबोम्मणहल्लि 1, साणेहल्लि 4, सुन्दहल्लि 1, बद्दरहल्ली 2 ।

इन 573 शिलालेखों में 1 लेख छठीं शताब्दी का, 54 लेख सातवीं शताब्दी के, 20 लेख आठवीं शताब्दी के, तथा 10 लेख नौवीं शताब्दी के केवल चन्द्रगिरि पर ही उत्कीर्ण हैं । दसवीं शताब्दी तथा उसके पश्चात् 19वीं शताब्दी तक के शेष लेख चन्द्रगिरि के साथ-साथ विंध्यगिरि, श्रवणबेलगोल एवं समीपस्थ ग्रामों में भी मिलते हैं ।

इन 573 लेखों में से 100 लेख मुनियों, आर्यिकाओं और श्रावक-श्राविकाओं के समाधिमरण से, 40 लेख योद्धाओं की स्तुति, आचार्यों की प्रशस्ति अथवा कुछ विशेष स्थानों के उल्लेख से, 160 लेख संघों एवं यात्रियों की स्मृति से (जिनमें 107 लेख दक्षिण से आए हुए तथा 53 लेख उत्तर भारत से आए हुए संघों एवं यात्रियों के सम्बन्ध में हैं), 100 लेख मंदिरों के निर्माण, मूर्ति प्रतिष्ठा, दानशाला, सरोवर, उद्यान आदि के निर्माण से तथा 100 लेख दान तथा दातारों से सम्बन्धित हैं, शेष 73 लेख अन्य विषयों पर हैं ।

प्राचीन तमिल और कन्नड, मलयालम, तेलगु, मराठी भाषाओं के यह लेख अधिकतर तमिल की प्राचीन लिपि ग्रन्थ-तमिल, कन्नड लिपि, मलयालम लिपि और नागरी लिपि में हैं । संस्कृत एवं मराठी भाषा के लेख कन्नड लिपि में उत्कीर्ण हैं । कन्नड, मलयालम, तमिल व तेलगु लिपि के लेखों के अतिरिक्त 36 लेख देवनागरी लिपि में हैं । 17 लेख मुन्डी लिपि में तथा कुछ लेख हिमाचल के पहाड़ी क्षेत्रों की टीकरी लिपि में भी उत्कीर्ण हैं । प्राचीन होने के कारण बहुत से शिलालेखों के अक्षर घिस गए हैं अथवा मिट गए हैं । कुछ लेखों को अज्ञानतावश मूल स्थान से उठाकर अन्यत्र जड़ दिया गया है जिससे उनका सन्दर्भ निकालना कठिन हो गया है कि वह शिलालेख वस्तुतः किस स्थान के प्रति हैं । शिलालेखों में अक्षर घिस जाने के कारण कहीं-कहीं पर स्थानों एवं साधुओं व आचार्यों का नाम अस्पष्ट हो गया है । इन स्थानों

अथवा महापुरुषों का अन्यत्र भी उल्लेख होने के कारण सन्दर्भ जोड़कर उनके नाम पूरे पढ़े जा सके हैं, अथवा पूरे किए जा सके हैं। इन शिलालेखों द्वारा तत्वर्ती काल अथवा पूर्वकाल के दक्षिण क्षेत्र के जैन धर्मावलम्बी तथा जैन धर्म से प्रभावित नरेशों, अमात्यों, सेनापतियों, श्रेष्ठियों आदि के विषय में तथा विन्ध्यगिरि पर अमात्य चामुण्डराय द्वारा निर्मित एक ही शिलाखण्ड से 57 फीट ऊंची अद्वितीय मूर्ति के उत्कीर्ण कराने तथा विन्ध्यगिरि एवं चन्द्रगिरि पर अनेक जैन बसदियों, स्तम्भों आदि के निर्माण के विषय में ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त हुई है। इनसे यह भी ज्ञात होता है कि किस राजा या सेनापति के काल में कौन से जैन आचार्य थे और कौन सा नरेश, अमात्य अथवा श्रेष्ठी किन जैन आचार्य अथवा साधु का शिष्य था।

विविध भाषाओं एवं लिपियों में उत्कीर्ण इन शिलालेखों से तथा उनके विषय से यह भी स्पष्ट होता है कि पूर्व काल से ही श्रवणबेलगोल समस्त भारत का पवित्र तीर्थस्थल रहा है तथा यातायात के साधनों के अभाव में भी इस दूरस्थ तीर्थ के प्रति उत्तर भारत तक के धर्मी बन्धुओं की श्रद्धा रही है और यात्रा के कष्ट उठाकर भी वह निरन्तर ही वहां गोम्मटेश्वर बाहुबली की मूर्ति के दर्शन के लिए आते रहे हैं। इन शिलालेखों से यह भी स्पष्ट होता है कि जैन संस्कृति अब की भांति पूर्व में भी भारत व्यापी थी तथा जैन धर्म अनेक नरेशों द्वारा सम्मानित था। ऐतिहासिक महत्व होने के अतिरिक्त इन शिलालेखों द्वारा पूर्व काल में जैन साधुओं के धार्मिक कृत्यों जैसे सल्लेखना व्रत अथवा समाधिमरण, व्रत, उपवास, तप, ध्यान आदि के भी यथेष्ट उल्लेख मिलते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि मोक्ष मार्ग पर अग्रसर होने के लिए जैन साधु कितना अधिक शारीरिक परिषह झेलते थे तथा आत्मचिन्तन में लीन रहते थे। साधुओं तथा श्रावकों के सल्लेखना व्रत धारण करने अर्थात् समाधिमरण पूर्वक देह त्याग करने सम्बन्धी अनेक उल्लेख इन शिलालेखों में मिलते हैं। धर्म भावना को अन्तरंग में सुरक्षित रखते हुए संयम एवं साधनापूर्वक शरीर त्याग करने को ही समाधिमरण कहा गया है।

इन शिलालेखों में अनेक शिलालेख बहुत महत्वपूर्ण हैं और उनमें भी सर्वाधिक महत्वपूर्ण है सबसे प्राचीन छठी शताब्दी का चन्द्रगिरि पर पार्श्वनाथ बसदि के दक्षिण की ओर वाली शिला पर पूर्व कन्नड़ लिपि में उत्कीर्ण लेख क्रमांक 1। यह गोम्मटेश्वर मूर्ति की प्रतिष्ठा से लगभग 400 वर्ष पूर्व उत्कीर्ण किया हुआ है। इसमें उल्लेख है कि त्रिकालदर्शी भद्रबाहु स्वामी को अष्टांग निमित्त ज्ञान द्वारा यह विदित होने पर कि उज्जयिनि तथा उत्तरांचल में 12 वर्ष का दुर्भिक्ष पड़ने वाला है वह अपने संघ को उत्तरापथ से दक्षिण की ओर ले गए और क्रम-क्रम से जनपद, नगर, ग्राम पार करते हुए "कटवप्र" अर्थात् चन्द्रगिरि पर पहुंचे। अपना अन्त समय निकट जानकर उन्होंने अपने संघ को अन्यत्र चले जाने का निर्देश दिया और वहां पर उनके साथ केवल एक शिष्य प्रभाचन्द्र (इतिहास नाम सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य) ही रह गए, भद्रबाहु स्वामी को वहां समाधिमरण हुआ एवं उनके पश्चात् 700 अन्य साधुओं को भी वहां से

समाधिमरण हुआ। लेख में सरस काव्य में घटनाओं व दृश्यों का सजीव चित्रण हुआ है।

सन् 1163 में उत्कीर्ण लेख क्रमांक 71 में भद्रबाहु को अंतिम श्रुतकेवली एवं चन्द्रगुप्त को उनका शिष्य कहा गया है। यह लेख चन्द्रगिरि पर दक्षिणी महानवमी मंडप पर उत्कीर्ण है। 1129 में उत्कीर्ण लेख क्रमांक 77 में जो पार्श्वनाथ बसदि के एक स्तम्भ पर अंकित है लिखा है कि स्वामी भद्रबाहु का शिष्य बनने के कारण चन्द्रगुप्त की इतनी पुण्य महिमा हुई कि वन देवताओं ने भी बहुत समय तक उनकी सेवा की। लगभग 650 ई० में पार्श्वनाथ बसदि के दक्षिण में अंकित शिलालेख क्रमांक 34 में उल्लेख है कि जो जैन धर्म मुनि भद्रबाहु एवं चन्द्रगुप्त के तेज से भारी समृद्धि को प्राप्त हुआ था उसके किंचित क्षीण हो जाने पर शांतिसेन मुनि ने उसे पुनरर्स्थापित किया। नागरी लिपि के 11वीं शताब्दी के शिलालेख क्रमांक 251 में जो चन्द्रगिरि पर भद्रबाहु गुफा में शिला पर उत्कीर्ण है उल्लेख है कि जिनचन्द्र स्वामी ने भद्रबाहु स्वामी के चरणों को नमस्कार किया (श्री भद्रबाहु स्वामिय पादमं जिनचन्द्र प्रणमतां)। चन्द्रगिरि पर्वत के शिखर पर भी चरण-चिह्न अंकित हैं। चरणों के नीचे 13वीं शताब्दी में उत्कीर्ण लेख क्रमांक 254 में उल्लेख है कि यह चरण भद्रबाहु स्वामी के हैं (भद्रबाहु भलि स्वामिय पाद)। उल्लेखनीय है कि कर्नाटक राज्य में प्रसिद्ध ऐतिहासिक स्थान श्रीरंगपट्टन के 900 ई० में उत्कीर्ण एक लेख में जो श्रवणबेलगोल से सम्बन्धित है उल्लेख है कि कलबप्पू शिखर (चन्द्रगिरि) पर महामुनि भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त के चरण चिह्न बने हैं। 1432 ई० के विस्तृत लेख क्रमांक 364 में जो विंध्यगिरि पर निर्मित सिद्धर बसदि के बाएं स्तम्भ पर श्रुतमुनि की स्मृति में अंकित है उल्लेख है कि चन्द्रगुप्त श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी के शिष्य थे।

जैन इतिहास की दृष्टि से यह शिलालेख बहुत महत्वपूर्ण हैं। यह सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य के जैन धर्मावलम्बी होने, स्वामी भद्रबाहु के उस समय के विशालतम साम्राज्य में प्रतिष्ठा प्राप्त करने तथा उत्तर मध्य भारत में जैन धर्म की व्यापकता एवं दक्षिण में जैन धर्म प्रसार के विषय में ऐतिहासिक साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। इन शिलालेखों से संशलिष्ट है जैन संस्कृति की सार्वभौमिकता के संवाहक तथा उस समय के महान धर्मगुरु एवं आचार्य भद्रबाहु तथा महान प्रतापी चन्द्रगुप्त मौर्य का गौरवमय इतिहास। इस कड़ी में परोक्ष रूप से जुड़ जाता है राज्य संगठन एवं संचालन, दण्ड विधान, कूटनीति एवं अर्थ-व्यवस्था के महान आचार्य चाणक्य का जीवन वृत्त एवं कृतित्व भी जो वस्तुतः चन्द्रगुप्त मौर्य के साम्राज्य के निर्माता थे।

शिलालेख क्रमांक 1 में भगवान महावीर के प्रमुख गणधर गौतम से लेकर अनेक आचार्यों के नाम दिए गए हैं जिनमें सम्मिलित हैं लोहार्य, जम्बू, विष्णुदेव, अपराजित, गोवर्धन, भद्रबाहु, विशाख प्रोस्थिल, कृत्तिकार्य, जयनाम, सिद्धार्थ, धृतिषेण, एवं बुधिला। दिसम्बर 1124 में वसया ग्राम में उत्कीर्ण लेख क्रमांक 569 में भी

गौतम गणधर एवं उनके पश्चात् हुए अनेक आचार्यों व प्रमुख साधुओं के नाम दिए गए हैं। चिक्कगिरि पर सिद्धर बसदि के दाईं ओर के स्तम्भ पर 1398 में अंकित शिलालेख क्रमांक 360 आचार्य परम्परा के नामों की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण है। इसमें भगवान महावीर के ग्यारह गणधरों, सप्तगणों—पूर्वज्ञ, वादी, अवधिज्ञा, विपरययज्ञ, वैक्रियिक, शिक्षक एवं केवलज्ञानी, कुछ केवलियों, 5 श्रुतकेवलियों—विष्णु, अपराजित, नन्दिमित्र, गुरु गोवर्धन एवं भद्रबाहु तथा अनेक आचार्यों एवं साधुओं के नामों का उल्लेख किया गया है। अनेक शिलालेखों में जैन साधुओं की विद्वता एवं गुणों की महती प्रशंसा की गई है। अनेक लेखों में कुन्द-कुन्द स्वामी के अगाध ज्ञान की भूरि प्रशंसा की गई है, तथा उनकी शिष्य परम्परा का उल्लेख किया गया है। पार्श्वनाथ बसदि के एक स्तम्भ पर अंकित 1129 ई० के लेख क्रमांक 77 में उल्लेख है कि पाटलिपुत्र, मालव, सिन्धु एवं ठक्क प्रदेश तथा विदिशा एवं कांचीपुर में अपने शास्त्रार्थ ज्ञान की दुन्दुभि बजाकर आचार्य समन्तभद्र कर्णाटक में पधारे। इसी लेख में जो जैन मुनि मल्लिषेण की नैषध्या रूप में अंकित है उल्लेख है कि मुनि महेश्वर ने शास्त्रार्थ में 70 बार प्रतिवादियों पर विजय प्राप्त की। सिद्धर बसदि के दाईं ओर के स्तम्भ पर अंकित उपरोक्त लेख क्रमांक 360 में उल्लेख है कि पंडिताचार्य चारुकीर्ति का यश इतना प्रशस्त था कि चार्वाकों को अपना अभिमान, सांख्य को अपनी उपाधियां, भट्ट को अपने सब साधन, एवं कणाद को अपना हठ छोड़ना पड़ा। दक्षिण वाले महानवमी मंडप के एक स्तम्भ पर 1163 ई० में अंकित लेख क्रमांक 70 में उल्लेख है कि 12वीं शताब्दी में महामण्डलाचार्य देवकीर्ति पंडित ने चार्वाकों, बौद्धों, नैयायिकों, कापालिकों एवं वैशेषिकों को शास्त्रार्थ में परास्त किया।

12वीं शती में अंकित कत्तले बसदि के लेख क्रमांक 79 में आचार्य गोपनन्दि की शास्त्रार्थ प्रतिभा के विषय में वर्णन किया गया है। अन्य मतों के विद्वानों की अपेक्षा में उन्हें मुनि पुंगव कहा गया है। शिलालेख का भावार्थ है कि उस प्रखर विद्वान के सम्मुख, जो मत्त गज के समान है, जैमिनी सुगत, अक्षपाद, लोकायत एवं सांख्य जैसे विरोधी हाथी भी आतंकित हो गए, परास्त हो गए, लज्जा से मुंह बचाकर भाग गए आदि। इसी लेख में उनके विद्वान साथी प्रभाचन्द्र का, जो धार के राजा भोज के समकालीन थे, एवं अन्य जैन साधुओं की विद्वत्ता का उल्लेख किया गया है।

प्रचुर सिद्धान्त ज्ञान एवं विशेष तर्क शक्ति पर आधारित जैन साधुओं की शास्त्रार्थ श्रेष्ठता ही 11वीं से 14वीं शताब्दी के मध्य पनपे प्रबल धार्मिक विरोध से उनकी रक्षा कर सकी। कहा जाता है कि उनके तप एवं ध्यान के प्रभाव से सिद्धि रूप में अलौकिक चमत्कार भी उत्पन्न हो जाते थे। विस्तृत शिलालेख क्रमांक 360 में यह भी वर्णित है कि चारुकीर्ति पंडित ने मृतप्रायः राजा बल्लाल को रोग वियुक्त किया था। 1432 ई० के एक अन्य विस्तृत शिलालेख क्रमांक 364 में जो सिद्धर बसदि के बाएं स्तम्भ पर उत्कीर्ण है, कहा गया है कि उनके शरीर को छूकर जो वायु प्रवाहित होती थी वह रोगों को शान्त कर देती थी। किन्तु यह उल्लेखनीय है कि जैन साधकों

तथा साधुओं ने धर्म प्रचार तथा अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए कभी भी चमत्कार अथवा मंत्र-तंत्र को साधन नहीं बनाया। यह दूसरी बात है कि उनके तप एवं ध्यान के कारण अलौकिक चमत्कार घटित हो जाते थे जिनसे राजा तथा प्रजा प्रभावित होते थे।

शिलालेखों में अनेक महिलाओं का उल्लेख भी हुआ है जो राजवंश, सेनापतियों, मंत्रियों तथा श्रेष्ठियों के परिवारों से सम्बन्धित थीं। इनमें उनके द्वारा किए गए निर्माण कार्य, धार्मिक कृत्यों, समाधिमरण आदि का वर्णन है। इनमें होयसल नरेश विष्णुवर्धन की पत्नी शान्तला रानी, पोयसल सेठ की माता माचिकब्बे, नेमिसेठ की माता शांतिकब्बे, गंगराज की माता पोचब्बे (अथवा पोचिकब्बे) एवं उनकी पत्नी लक्ष्मी, चंद्रमौलि मंत्री की माता अक्कब्बे, गंगायी, नागदेव की पुत्री कमला देवी के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

श्रवणबेलगोल के शिलालेखों में उत्कीर्ण कर्ताओं ने शूरवीर, रणकुशल एवं रणबांकुरे वीरों को तथा दानवीरों को अनेक उपाधियों से विभूषित कर उनके प्रति अपने हृदय का आदर प्रदर्शित किया है। अनेक शूरवीरों को तो एक साथ कई-कई उपाधियों से विभूषित किया गया है।

अनेक शिलालेखों में उन करों के नाम भी दिए गए हैं जिन्हें श्रवणबेलगोल की तीर्थरक्षा, मंदिरों के जीर्णोद्धार, प्रहरियों व कर्मचारियों के वेतन भुगतान तथा तीर्थ-व्यवस्था आदि के लिए लगाया गया था।

कुछ लेखों में जैन बसदियों आदि की व्यवस्था के लिए दिए गए दान का भी उल्लेख किया गया है। इनमें विशेष रूप से उल्लेखित हुए हैं परम, सेवानेरू, बेक्का, कग्गेरी, गोविन्दवाडी, बाम्मेयहल्लि तथा मट्टेकाले ग्राम।

अनेक शिलालेखों में व्यापारियों द्वारा स्वेच्छा से अथवा मिलकर इकरार द्वारा जिनालयों की व्यवस्था के लिए वार्षिक राशि देने का उल्लेख हुआ है। इनमें से 1288 ई० के लगभग अंकित शिलालेख क्रमांक 459, जो नगर जिनालय के अन्दर के द्वार के उत्तर में पाषाण पर अंकित है, विशेष महत्वपूर्ण तथा रोचक है। इसके अनुसार बेलगोल एवं जिननाथपुर के जौहरियों ने मिलकर जल को साक्षी कर यह इकरार किया था कि वे अपने व्यापार में नगरवासियों तथा अन्य व्यक्तियों से प्राप्त राशि का एक प्रतिशत प्रतिवर्ष नगर जिनालय की व्यवस्था के लिए दान करते रहेंगे और जो व्यक्ति यह राशि दान नहीं करेगा वह धर्म से विश्वासघात करने वाला समझा जायेगा तथा अभिशाप रूप में उसके सन्तान नहीं होगी।

श्रवणबेलगोल के इन शिलालेखों में दक्षिण के अनेक राजवंशों राष्ट्रकूट वंश, गंग वंश, कल्याण के चालुक्य वंश, द्वारसमुद्र के होयसल वंश, विजयनगर के राजवंश, मैसूर नगर के वोडेयार राजवंश, चंगाल्व वंश, नुग्गेहल्लि के तिरूमल नायक, कदम्ब वंश

के नरेश कदम्ब, नोलम्ब एवं पल्लव वंश, चोलवंश, निडुगलवंश आदि के नरेशों तथा उनके अमात्यों, सेनापतियों एवं श्रेष्ठियों के सम्बन्ध में अनेक उल्लेख मिलते हैं जिनसे उनके जैन धर्म प्रेम, पराक्रम, साहस शौर्य, समरकुशलता, विद्वत्ता, दानशीलता आदि पर यथेष्ट सामग्री उपलब्ध होती है।

होयसल वंश से सम्बन्धित शिलालेखों की संख्या इस प्रकार के शिलालेखों में सबसे अधिक है। विष्णुवर्धन के काल के सन 1113 से 1141 के मध्य उत्कीर्ण 10 लेख, जिन पर समय अंकित नहीं है उसके समय के 8 लेख, नरसिंह प्रथम के काल के सन् 1159 एवं 1163 में उत्कीर्ण 3 लेख, जिन पर समय अंकित नहीं है उसके काल के ऐसे 2 लेख, बल्लाल द्वितीय के काल के सन् 1173, 1181 एवं 1195 में उत्कीर्ण 5 लेख, तथा जिन पर काल अंकित नहीं है उसके समय के ऐसे 3 लेख, नरसिंह देव द्वितीय के काल के सन् 1220 से 1235 के मध्य उत्कीर्ण 9 लेख, तथा 12 वीं शती में उत्कीर्ण 23 तथा 13 वीं शती में उत्कीर्ण 4 अन्य लेख यहां मिलते हैं। राष्ट्रकूट वंश के नरेशों, कम्बय्य एवं इन्द्र चतुर्थ के आठवीं तथा दसवीं शताब्दी के 2 लेख, गंगवंश के सत्यवाक्य परमानदि, राचमल्ल द्वितीय, एरेयंग द्वितीय तथा मारसिंह द्वितीय आदि के नौवीं एवं दसवीं शताब्दी के 10 लेख, विजयनगर साम्राज्य के शासकों बुक्काराय प्रथम, हरिहर द्वितीय, देवराय प्रथम तथा देवराय द्वितीय के 6 लेख, मैसूर के वोडेयर राजवंश के चामराज सप्तम, दोड्डदेवराज, चिक्कदेवराज, दोड्डकृष्णराज प्रथम तथा कृष्णराज तृतीय के 6 लेख, चंगल्व वंश के चंगल्व महादेव का सन् 1509 का 1 लेख, नुग्गेहल्लि के तिरुमल नायक का सोलहवीं शती का 1 लेख, कदम्ब वंश के कदम्ब राजा का नौवीं शताब्दी का 1 लेख, नोलम्ब एवं पल्लववंश के नरेश नोलम्ब का 11 वीं शती का 1 लेख, शंकर नायक (पल्लव) के 13 वीं शती के 2 लेख, चोलवंश के चोल परमानदि का 10वीं शती का 1 लेख, तथा 12 वीं शताब्दी के 3 लेख तथा निडुगल वंश के इरुंगोल के 12 वीं शताब्दी के 2 लेख यहां उत्कीर्ण हैं।

उपरोक्त शिलालेखों के अतिरिक्त सैकड़ों ऐसे शिलालेख भी हैं जिनमें उपरोक्त वर्णित वंशों के साथ-साथ अन्यान्य अनेक वंशों के नरेशों, मंत्रियों, सेनापतियों आदि के नामों, कृतत्व आदि का उल्लेख हुआ है। इन शिलालेखों में गंगवंश, राष्ट्रकूट वंश, चालुक्य वंश, होयसल वंश, विजयनगर के शासकों तथा मैसूर के वोडेयर वंश का अन्य राजवंशों की अपेक्षा अधिक उल्लेख हुआ है। इस परिच्छेद के आगे के पृष्ठों में इन शिलालेखों के संक्षिप्त वर्णन के साथ-साथ परिचय की दृष्टि से दक्षिण में जैन धर्म की तत्कालीन स्थिति, उसके विकास, राज्याश्रय, प्रसार तथा कलात्मक एवं जैन साहित्य निर्माण संबंधी विवरण भी दिया है।

1. गंग वंश :—

श्रवणबेलगोल क्षेत्र के विकास में गंगवंश के नरेशों एवं उनके अमात्यों, सेनापति आदि का विशेष योगदान रहा है। गंगवंश का यहां प्राप्त सबसे आरम्भिक लेख क्रमांक

140 है जो चन्द्रप्रभु बसदि के समीप एक पाषाण पर उत्कीर्ण है। इसमें अंकित है "शिलाकार की बसदि।" श्री नरसिंहाचार के अनुसार यह चन्द्रप्रभु बसदि के लिए ही इंगित करना है और इस कारण इसका निर्माण काल लगभग 800 ई. होना चाहिए। शिलालेख क्रमांक 544 जो कब्बालु ग्राम में उपलब्ध है निश्चित ही गंगनरेश सत्य वाक्य पेरमानदि के काल का है। यह शिलालेख नौवीं शताब्दी के अक्षरों में है और इसमें सम्भवतया नरेश राचमल्ल द्वितीय का उल्लेख किया गया है। इस प्रकार यह शिलालेख सन् 884-85 के मध्य उत्कीर्ण हुआ लगता है। यह शिलालेख सत्यवाक्य पेरमानदि के राज्य में पन्द्रहवें वर्ष में अंकित किया गया प्रतीत होता है। शिलालेख क्रमांक 171 में जो दसवीं शती के अक्षरों में है और चन्द्रगिरि पर अंकित है बद्दे गा एवं कोनेय वंश के मध्य हुए एक दुर्द्धर्ष युद्ध में वीर बोयिगा की मृत्यु का उल्लेख है। बद्दे गा को ही राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष तृतीय माना जाता है। शिलालेख क्रमांक 186 में गंगराज्य और ऐरेगंग के महामात्य गुरीपाल का उल्लेख किया गया है। यह शिलालेख 10 वीं शताब्दी का है जिस समय बुतुगा प्रथम का पुत्र ऐरेगंग गंग शासक था। नागवर्मा जिसके पुत्र का इस शिलालेख में उल्लेख है गुरीपाल का जामाता था।

शिलालेख 64 का कुछ भाग नष्ट हो गया है। उसमें मारसिंह द्वितीय की उपलब्धियों की प्रशंसा की गई है। मारसिंह द्वितीय ने उन युद्धों में भाग लिया था जो उसके स्वामी राष्ट्रकूट नरेश कृष्णराय तृतीय एवं गुर्जरों के मध्य लड़े गये थे। उसके कारण उसे गुर्जरों का अधिराज भी कहा जाने लगा था। इस शिलालेख में उल्लेख है कि मारसिंह ने शत्रुओं को परास्त किया एवं युवराज इन्द्रराज चतुर्थ को सिंहासन पर बैठाया (बंकापुर में)।

अब यह भली प्रकार विदित है कि कृष्णराय तृतीय की मृत्यु के पश्चात उसके बहनोई तथा गंगवंशीय अधीनस्थ शासक मारसिंह द्वितीय ने चालुक्य तेल द्वितीय द्वारा कर्क द्वितीय को युद्ध में समाप्त करने के उपरांत राष्ट्रकूट वंश को सत्ता में लाने का असफल प्रयास किया था। यद्यपि वह इन्द्रराज चतुर्थ को बंकापुर के सिंहासन पर बैठाने में सफल रहा किन्तु उसका स्थायी फल न निकल पाया।

गंगकाल के एक यशस्वी पुरुष वीर चामुण्डराय रहे हैं जो मारसिंह द्वितीय एवं राचमल्ल चतुर्थ के मंत्री रहे। उनके विषय में विशेष सामग्री उनके द्वारा रचित चामुण्डराय पुराण से प्राप्त होती है। त्यागद ब्रह्मदेव स्तम्भ पर अंकित शिलालेख क्रमांक 388 से ज्ञात होता है कि वह ब्रह्म क्षत्रिय गोत्र में उत्पन्न हुए थे। इस शिलालेख में उनके वीरोचित गुणों का यथेष्ट वर्णन किया गया है। इसमें यह भी उल्लेख है कि उन्होंने इन्द्रराज चतुर्थ की ओर से अपने स्वामी मारसिंह द्वितीय के साथ वाज्वल एवं रणसिंहराज तथा नोलम्बों से युद्ध किया था। शिलालेखों क्रमांक 272, 273 एवं 276 में अंकित है कि गोम्मटेश्वर मूर्ति का निर्माण चामुण्डराय द्वारा हुआ। विंध्यगिरि के विस्तृत शिलालेख क्रमांक 336 में, जिसमें कवि बोप्पण द्वारा गोम्मटेश्वर मूर्ति की प्रशंसा में रचित सरस कन्नड़ काव्य उत्कीर्ण है, कहा गया है कि वीर चामुण्डराय को यह

ज्ञात होने पर कि पोदनपुर में भरत द्वारा निर्मित बाहुबली की 525 धनुष ऊंची मूर्ति के दर्शन उसके मार्ग के कुक्कुट सर्पों द्वारा आच्छादित होने के कारण असम्भव हैं उन्होंने बाहुबली की वैसी ही एक मूर्ति बनवाने का निश्चय किया एवं विन्ध्यगिरि की इस मूर्ति का निर्माण करवाया।

शिलालेख क्रमांक 151 में जो चामुण्डराय बसदि के बाहरी द्वार के दोनों ओर अंकित है लिखा है "चामुण्डराय माडिसिद"। इसके अनुसार इसे स्वयं चामुण्डराय ने निर्मित करवाया था। शिलालेख क्रमांक 150 में जो चन्द्रगिरि पर चामुण्डराय बसदि की ऊपरी मंजिल में प्रतिष्ठित भगवान पार्श्वनाथ की मूर्ति पर अंकित है उल्लेख है कि चामुण्डराय के पुत्र जिनदेवन मुनि अजितसेन के भक्त थे और उन्होंने बेलगोला में एक बसदि का निर्माण कराया।

ईसा की दूसरी शती में दक्षिण भारत में स्थापित होने वाले नवीन वंशों में गंगवंश तीसरा था। दक्षिण के सभी वंशों में यह वंश यद्यपि सबसे अधिक स्थायी रहा किन्तु एक के अनन्तर एक उदय होने वाली प्रमुख राज्य शक्तियों पल्लव, कदम्ब, चालुक्य, राष्ट्रकूट आदि का यह गंगवंश प्रबल प्रतिद्वंदी बना रहा। वर्तमान कर्नाटक का कुछ भाग तथा कावेरी नदी की पूरी घाटी इस राज्य के अन्तर्गत थी। दक्षिणापथ में यह गंगवाडि राज्य नाम से उदित होकर पश्चिमी गंगवंश के नाम से प्रसिद्ध हुआ। अनुश्रुति के अनुसार प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के इक्ष्वाकु वंश में उत्पन्न राजा हरिश्चन्द्र के पुत्र भरत की पत्नि विजय महादेवी से गंगदत्त अथवा गंगेय का जन्म हुआ था। उसी के नाम पर यह गंगवंश कहलाया। गंगेय का एक वंशज विष्णुगुप्त अहिच्छत्र का नरेश एवं तीर्थंकर नेमिनाथ का उपासक था। उसके वंशज श्रीदत्त के वंश में अहिच्छत्र के राजा कम्प का पुत्र हुआ था पद्मनाभ। उज्जयिनी के शासक महीपाल द्वारा आक्रमण होने पर सुरक्षा की दृष्टि से पद्मनाभ ने अपने दोनों बालक पुत्रों दड़िग एवं माधव को राज्यचिह्नों सहित अहिच्छत्र से बाहर भेज दिया था। प्रवास में ही यह बालक युवा हुए और भ्रमण करते हुए दक्षिण भारत के कर्नाटक प्रदेश के पेरूर नामक स्थान में पहुंचे। वहां प्रमुख जैन आचार्य सिंहनन्दि ने अपने दर्शनों के लिए आये इन दोनों युवकों का स्वागत किया। मत्तगयन्द उनका राज्यचिह्न निश्चित किया। आचार्य ने उन्हें यह चेतावनी दी कि यदि वह राज्य स्थापित करने का अपना संकल्प पूर्ण नहीं करेंगे, जैन शासन की अवज्ञा करेंगे, पर स्त्री से गमन करेंगे, मांस अथवा मदिरा का सेवन करेंगे, दुर्जनों की संगति में रहेंगे, निर्धनों की सहायता नहीं करेंगे और युद्ध से कायरतापूर्वक भागेंगे तो यह उनके वंश के लिए उचित नहीं रहेगा। एक महान जैनाचार्य का सदाचार, क्षत्रिय एवं शासक धर्म, एवं धर्म पालन के लिए कैसा अपूर्व उद्बोधन था। इससे ज्ञात होता है कि उस काल में जैनाचार्य सदाचरण एवं धार्मिक वृत्ति पर बल देने के अतिरिक्त पुरुषार्थ का भी कैसा सशक्त प्रचार करते थे तथा धर्म की रक्षा एवं प्रसार के लिए सदाचारी एवं वीर शासकों का होना भी आवश्यक मानते थे। उनकी दृष्टि में अहिंसा धर्म कायरों का धर्म नहीं था।

कहा जाता है कि उनसे प्रसन्न होकर देवी पद्मावती से वरदान पाकर उनको आशीर्वाद दिया और शक्ति की प्रतीक एक तलवार भेंट की। माधव ने इस तलवार से एक पाषाण स्तम्भ पर आघात किया और वह दो टुकड़े होकर गिर पड़ा। आचार्य सिंहनन्दि ने इसको शुभ संकेत माना एवं फूलों की पत्तियों का एक मुकुट बनवाकर भाइयों के सिर पर रखकर उन्हें एक राज्य स्थापित करने का आशीर्वाद दिया और अपनी मयूरपिच्छी उन्हें राज्य ध्वज के रूप में प्रदान की। आचार्य का आशीर्वाद एवं निर्देश पाकर वह दोनों राजकुमार उत्साह के साथ राज्य निर्माण में संलग्न हो गए। उन्होंने बाण मंडल को विजित करके गंगवाडि 96000 नामक राज्य की नींव रखी एवं कुवलाल (कोलार) को अपनी राजधानी बनाया। राजप्रासाद मानकुंड में भी रहा जो बन्नापास (जिला बंगलौर) में स्थित है। सातवीं शताब्दी के पश्चात राजप्रासाद बना मान्यपुर (बंगलौर जिले) में।

श्रवणबेलगोल के निकट साणेहल्लि ग्राम में उत्कीर्ण शिलालेख क्रमांक 547 में आचार्य सिंहनन्दि को गंगराज्य का निर्माता कहा गया है। पार्श्वनाथ बसदि के एक स्तम्भ पर उत्कीर्ण शिलालेख में भी इसी प्रकार का उल्लेख है। पूर्व मैसूर राज्य के कल्लूरगुड्ड के सिद्धेश्वर मंदिर से प्राप्त 1122 ई० के एक शिलालेख द्वारा भी इसकी पुष्टि हुई है।

मि० बी० एल० राइस के विचार के अनुसार आचार्य सिंहनन्दि द्वारा दड्डिग एवं माधव को गंगवाडि में राज्य स्थापित करने का आदेश देते समय कर्णाटक में जैन मतावलम्बियों की अच्छी बड़ी संख्या रही होगी।

ऐसा प्रतीत होता है कि दड्डिग की मृत्यु तो राज्य विकास के लिए किये गये प्रयत्नों के मध्य ही हो गयी थी। इस कारण गंगवंश का वास्तविक प्रथम नरेश और गंगवाडि राज्य का प्रथम स्वामी माधव कोंगुणिवर्म प्रथम हुआ जिसने 189 से 250 ई. तक राज्य किया। गंगकाल के अभिलेखों में उसके जैन धर्मप्रेम एवं वीरता की प्रशंसा की गयी है। उसने मन्डलि नामक स्थान में काष्ठ का एक भव्य जिनालय तथा जैनपीठ बनवाया। उसके पश्चात उसका पुत्र किरिय माधव द्वितीय शासक हुआ। उसके तीन पुत्र थे हरिवर्मन, आर्यवर्मन एवं कृष्णवर्मन। सिंहासनारूढ़ होने पर हरिवर्मन ने कालांतर में कुवलाल के स्थान पर तालवनपुर अर्थात तलकाडु को राजधानी बनाया। उसने अपने भाई आर्यवर्मन को पेरूर विषय का शासक बनाया जिससे गंगवंश की पेरूरशाखा प्रारम्भ हुई। दूसरे भाई कृष्णवर्मन को कैवार विषय का शासक बनाया और उससे कैवार शाखा आरम्भ हुई। हरिवर्मन ने राज्य को समृद्ध किया। उसके पुत्र विष्णुगोप की जैन धर्म में आस्था नहीं थी तथा वह नारायण का विशेष भक्त रहा। उसके शासक पुत्र पृथ्वीगंग की शीघ्र ही मृत्यु हो गई। उसका पुत्र तंदगल माधव अथवा माधव तृतीय एक महान शासक था। वह त्रियम्बक एवं जिनेन्द्र देव में समान रूप से भक्ति रखता था। उसका शासनकाल लगभग 355 ई० से लेकर 400 ई० तक रहा। उसने पटमोल

में जैन मंदिर के निर्माण के लिए भूमि दान किया था तदनंतर [illegible] का पुत्र हुआ अविनीत कोंगुणी महाराजाधिराज। इस जैन धर्म भक्त, पराक्रमी एवं धर्मात्मा नरेश ने लगभग 400 से 482 ई० पर्यन्त राज्य किया। उसके गुरु थे विजयकीर्ति। उसने अपने पुत्र दुर्विनीत कोंगुणी को सम्भवतया व्याकरण के प्रसिद्ध विद्वान आचार्य देवनन्दि पूज्यपाद (464-524 ई०) द्वारा शिक्षा दिलाई थी। वह राजधानी तलकाडु की मुख्य जैन बसदि के प्रधान भी थे। अत्यधिक बुद्धिमान होने और स्वभाव गम्भीरता के कारण उन्हें जिनेन्द्रबुद्धि भी कहा जाता था। आचार्य देवनन्दि पूज्यपाद के अतिरिक्त उस समय तक गंगवंश के शासनकाल में वीरदेव, उच्चारणाचार्य, वप्पदेव, शिववर्मन, यशोभद्र, प्रभाचन्द्र, श्रीदत्त एवं परमेष्ठि आदि विद्वान जैनाचार्य हो चुके थे। उसने जैन धर्म के प्रसार एवं विकास के लिए अनेक कार्य किए।

दुर्विनीत कोंगुणी (482-522 ई०) गंगवंश का एक अत्यन्त प्रतापी, महत्वाकांक्षी, वीर, विद्वान तथा साहित्य रसिक नरेश था। उसके द्वारा कोंगली नामक स्थान में चेन्न पार्श्वनाथ बसदि निर्मित हुई थी। अपने पराक्रम और विजयों द्वारा उसने पूर्व और पश्चिम दोनों दिशाओं में साम्राज्य विस्तार किया। अपने समय में वह दक्षिणापथ का सबसे अधिक शक्तिशाली नरेश था। उसने पल्लवों, कदम्बों तथा बाणों से युद्ध कर उन्हें पराजित किया था। वह स्वयं विद्वान था एवं विद्वानों का आदर करता था। भारवि उसका दरबारी कवि था। उसने स्वयं बृहत्कथा का संस्कृत रूपान्तरण किया था।

दुर्विनीत के दो पुत्रों में प्रथम पोलवीर ने और उसके उपरांत मुष्कर ने राज्य किया। 550 ई० के लगभग मुष्कर ने बेलारी के निकट मुष्कर बसदि नामक जिनालय का निर्माण कराया। मुष्कर का पुत्र हुआ श्रीविक्रम जिसके समय में पेरूर और कैवार शाखाओं का अंत हुआ और कोलाल पर फिर से तलकाडु शाखा का अधिकार हुआ। श्रीविक्रम के पश्चात उसका ज्येष्ठ पुत्र भूवलय श्रीविक्रम सिंहासन पर बैठा। भूविक्रम का उत्तराधिकारी उसका छोटा भाई शिवमार प्रथम हुआ। उसे राज्य वृद्धावस्था में मिला था। परम जैन भक्त शिवमार प्रथम ने 670 ई में कई जैन मंदिरों का निर्माण कराया। उसके उपरांत उसके पुत्र राचमल्ल एरेगंग का राज्य अल्पकाल तक ही रहा प्रतीत होता है। उसके पश्चात शिवमार प्रथम का पौत्र श्रीपुरुष 726 से 776 ई० तक शासक रहा।

गंगनरेश श्रीपुरुष मुत्तरस के 50 वर्ष के दीर्घ शासनकाल में गंग राज्य समृद्धि की चरम सीमा पर पहुंचा। पल्लव, पाण्ड्य एवं बाण आदि नरेशों को उसने युद्धों में पराजित किया। युद्ध में पराजित होकर पल्लव नरेश की मृत्यु हुई और पल्लव राज्य श्रीपुरुष के अधिकार में आ गया। पल्लव नरेश को परास्त करने पर उसने "परमाडि" उपाधि धारण की थी। उसका राज्य "श्री राज्य" कहलाया। श्रीपुरुष योग्य, नीति परायण एवं धर्मात्मा शासक था। पांड्य नरेश राजसिंह के पुत्र के साथ अपनी पुत्री का विवाह करके उसने मैत्री स्थापित की। उसके फलस्वरूप पिछले दशकों

से पाण्ड्य राज्य में जैनों पर जो अत्याचार हो रहे थे उनका अब अंत हुआ और उसके साथ ही जैनों की तमिल साहित्यिक प्रवृत्तियों का पुनरुत्थान हुआ। इस अवधि में तमिल भाषा के कई सर्वश्रेष्ठ जैन ग्रन्थों की रचना हुई। बिक बल्लालपुर आदि कई स्थानों के जैन मंदिरों का जीर्णोद्धार भी उस काल में हुआ। उसके शासनकाल में हुए कुछ प्रसिद्ध जैनाचार्यों का नाम है प्रभाचन्द्र, विमलचन्द्र, परवादिमल्ल, पुष्पसेन, अनंतकीर्ति प्रथम, बृहद, अनंतवीर्य, विद्यानन्दि आदि। इन विद्वान जैन मुनियों ने कर्णाटक में जैन साहित्य एवं संस्कृति को बहुत समृद्ध किया। आचार्य विद्यानन्दि ने श्रीपुर के पार्श्वनाथ जिनालय में श्रीपुर पार्श्वनाथ स्तोत्र की रचना की थी।

लगभग पचास वर्ष तक राज्य करने के पश्चात धर्मानुरागी श्रीपुरुष ने अपने पुत्र शिवमार द्वितीय सैगोत को 776 ई० में सिंहासन देकर जैन गुरुओं के निकट उदासीन श्रावक के रूप में धर्म-साधन में शेष जीवन व्यतीय किया। उसकी मृत्यु सम्भवतया 788 ई० के लगभग हुई।

श्रीपुरुष के शिवमार द्वितीय सैगोत, दुग्गमार ऐयरप्प और विजयादित्य नामक तीन पुत्र थे। राष्ट्रकूट नरेश ध्रुव ने सिंहासन पर बैठने के उपरांत 784 ई० में शिवमार पर आक्रमण कर उसको बंदी बना लिया था। उसका अधिकांश जीवन राष्ट्रकूटों के बंदीगृह में ही बीता। 784 से 788 ई० तक ध्रुव का पुत्र कम्भ गंगवाडि का राज्य देखता रहा। उसके पश्चात शिवमार का पुत्र युवराज मारसिंह अपने पिता की ओर से अपने चाचा दुग्गमार ऐयरप्प की सहायता से राज्य करता रहा। जब 794 ई० में राष्ट्रकूट गोविंद तृतीय ने राज्य प्राप्त किया तब उसने शिवमार को मुक्त कर दिया। इसके उपरांत वीर शिवमार ने बल्लभेन्द्र, राष्ट्रकूट, चालुक्य एवं हैहयों के मित्रसंघ को पराजित किया एवं अन्य युद्धों में भी भाग लिया। राष्ट्रकूटों ने इसे फिर से कारागार में डाल दिया। जहां से वह 810 ई० के लगभग मुक्त हुआ।

उसके पुत्र युवराज मारसिंह और छोटे भाई दुग्गमार की मृत्यु सम्भवतया उसके जीवनकाल में ही हो जाने के कारण 815 ई० में शिवमार की मृत्यु होने पर उसका दूसरा भाई विजयादित्य सिंहासनारूढ़ हुआ। उसकी मृत्यु शीघ्र हो जाने के कारण उसका पुत्र राचमल्ल सत्यवाक्य प्रथम गंग शासक हुआ। उसका राज्यकाल 815 ई. से 830 ई. तक रहा। उसके साथ ही साथ शिवमार के पुत्र डिगडिगा ने भी राज्य के कुछ भाग पर अधिकार कर लिया जिसके कारण गंग शासन फिर एक बार दो शाखाओं में विभक्त हो गया। डिगडिगा ने पृथ्वीपति (प्रथम) की उपाधि धारण कर राज्य किया था।

शिवमार के कारावास में रहने के समय उसके पुत्र मारसिंह येरेयप्प ने गंगराज्य का प्रतिनिधित्व किया। पराक्रमी शिवमार एक कुशल योद्धा था। युद्ध भूमि में शत्रुओं के सम्मुख वीरता दिखाने के कारण उसे भीमकोप कहा जाने लगा था। वह कुशाग्र बुद्धि वाला विद्वान था तथा विद्वानों का प्रशंसक एवं सांस्कृतिक रूचियों वाला व्यक्ति था। उसने कुम्भवाड में, जहां उसे कारावास में रखा गया था, जैन मंदिर का निर्माण कराया

था। उसने श्रवणबेलगोल में चन्द्रगिरि पर्वत पर शिवमार बसदि (चन्द्रप्रभु बसदि) का निर्माण किया था जिसका उल्लेख वहां के शिलालेख क्रमांक 140 में हुआ है। उसने अन्य स्थानों पर भी जैन मन्दिर बनवाये। अभिलेखों में उसे जैन धर्म का महान संरक्षक एवं भक्त कहा गया है। उसने ब्राह्मण मन्दिरों एवं संस्थाओं को भी उदारतापूर्वक दान दिया था। अभिलेखों से यह भी ज्ञात होता है कि वह सुन्दर व्यक्तित्व वाला पुरुष था। उसके पुत्र मारसिंह के दानपत्र में उसे एक विद्वान व्यक्ति, संस्कृति तथा काव्य का अनन्य प्रेमी तथा तर्क, दर्शन, व्याकरण एवं अन्य विद्याओं में अच्छा जानकार तथा नाट्यशाला में कुशल कहा गया है। उसके द्वारा कन्नड़ में रचित 'गज शतक' को एक सुन्दर साहित्यिक कृति माना गया है। उसने "सेतुबंधन" नामक काव्य की भी रचना की थी। वह हाथियों को वश में करने में कुशल होने के अतिरिक्त एक प्रसिद्ध धनुर्धर तथा घुड़सवार एवं घोड़ों का पारखी भी था। वह स्वयं, उसका पुत्र मारसिंह तथा भतीजा सत्यवाक्य स्वामी विद्यानन्दि के भक्त थे।

युवराज मारसिंह ने सेनानायक श्रीविजय को राजधानी मान्यपुर में 719 ई. में "श्रीविजय" नामक सुंदर जैन मंदिर निर्माण कराने के लिए यथेष्ट दान दिया था। स्वयं मारसिंह एवं उसके चाचा दुग्गमार ऐयरप्प ने अंजनेय नामक सुंदर मंदिर बनवाया। शिवमार के प्रांतीय शासक विट्टिरस एवं विजय शक्तिरस ने उसी काल में जैन मंदिरों का निर्माण कराया और उनके लिए दान दिया।

राचमल्ल सत्यवाक्य प्रथम भी जैन धर्म का अनुयायी एवं भक्त था। गंग शासन की उपरोक्त दूसरी शाखा में पृथ्वीपति प्रथम अपराजित बहुत पराक्रमी शासक रहा। उसके गुरु जैनाचार्य अरिष्टनेमि थे। उनका उल्लेख शिलालेख क्रमांक 67 में हुआ है। उसके समाधिमरण पूर्वक देहत्याग के समय पृथ्वीपति और उसकी रानी कम्पिला कटवप्र (चन्द्रगिरि) पर्वत पर उपस्थित थे। वह भी जैन धर्म का संरक्षक था। पृथ्वीपति का पुत्र था मारसिंह और उसका पुत्र हुआ पृथ्वीपति द्वितीय हस्तिमल जिसका पुत्र हुआ नन्नियगंग। ये राष्ट्रकूट कृष्ण के सामंत हो गए थे। इनके पश्चात गंगवंश की यह दूसरी शाखा समाप्त हो गयी।

मूल शाखा मे राचमल्ल सत्यवाक्य प्रथम ने गंगवंश के गौरव एवं समृद्धि को फिर से स्थापित किया। उसने बाणनरेश को पराजित किया और पल्लवों, नौलम्बों तथा राष्ट्रकूटों के साथ पारिवारिक सम्बन्ध स्थापित किए। उसने उत्तरी अर्काट के चित्तूर तालुके के वल्लभलई पर्वत पर गुफाओं का निर्माण कराया और उनमें जिन प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित कराईं।

राचमल्ल के पश्चात ऐरेगग नीतिमार्ग प्रथम गद्दी पर बैठा। नीतिमार्ग ने 853 से 870 ई. तक राज्य किया। उसके समाधिमरण के पश्चात उसका दूसरा पुत्र राचमल्ल सत्यवाक्य द्वितीय राजा हुआ जिसका शासनकाल 870 से 907 ई. तक रहा। उसने 887 ई. में पेन्नेकडंग में अपने द्वारा बनाए हुए सत्यवाक्य जिनालय के लिए बारह ग्राम भेंट किए थे। राचमल्ल के कोई संतान न थी। अतः उसके छोटे भाई बुतुग का पुत्र

ऐरेयप्प ऐरेयगंग युवराज बनकर 907 ई. में राचमल्ल की मृत्यु हो जाने पर सिंहासन का अधिकारी हुआ। उसने मुडहल्लि और तोरमबु के जिनालयों को दान दिया था। उसके पुत्र इरिवबेडेंग नरसिंह सत्यवाक्य की थोड़े ही समय तक राज्य करने के पश्चात 920 ई. के लगभग मृत्यु हो गयी थी। उसके गुरु थे विमलचन्द्राचार्य। उसके दो पुत्रों राचमल्ल सत्यवाक्य तृतीय एवं बुतुगगंग गंगेय द्वितीय में से प्रथम ने 920 से 938 ई. तक राज्य किया। राष्ट्रकूट कृष्ण तृतीय द्वारा किये गये आक्रमण में राचमल्ल की युद्ध में ही मृत्यु हो गई और राष्ट्रकूटों ने गंगेय को सिंहासन पर बैठाया। उसने 938 से 953 ई. तक राज्य किया। पराक्रमी गंगेय ने अनेक युद्धों में विजय प्राप्त की। वह एक यशस्वी शासक था। जैन धर्म का परम भक्त गंगेय शास्त्रार्थ में निपुण था। उसने जैन मंदिरों एवं गुरुओं को विविध रूप में दान दिए। कनकसेन वादिराज उसके गुरु थे। उसके परिवार के अन्य सदस्य भी जैन धर्म के भक्त थे। गंगेय के पश्चात उसकी पत्नी रेवा से उत्पन्न पुत्र मरुलदेव शासक हुआ जिसका राज्यकाल 953-961 ई. पर्यन्त रहा। उसके अभिलेखों में उसे "जिनपद भ्रमर" कहा गया है। उसकी बहन सोमिदेवी का विवाह राष्ट्रकूट तृतीय के पुत्र से हुआ था जिससे चौगान के प्रसिद्ध खिलाड़ी इन्द्रराज चतुर्थ का जन्म हुआ था।

मरुल के पश्चात उसका सौतेला भाई मारसिंह पल्लवमल्ल नोलम्बकुलान्तक गुत्तियगंग (राज्यकाल 961-973 ई.) शासक हुआ। वह गंग वंश का अंतिम महान नरेश था जिसका राज्य बहुत विस्तृत था। मारसिंह की अन्य उपाधियां थीं "गंग कन्दर्प" "गंग विद्याधर" 'गग चूड़ामणि" आदि। शिलालेख क्रमांक 64 से जो श्रवणबेलगोल में चन्द्रगिरि पर कूगे ब्रह्मदेव स्तम्भ पर इस नरेश की प्रशस्ति रूप में उत्कीर्ण है विदित होता है कि उसने अनेक युद्धों में शक्तिशाली नरेशों को परास्त किया था। इसी शिलालेख में उल्लेख है कि मारसिंह ने जैन धर्म का प्रचार किया, अनेक स्थानों में सुंदर जिनालय एवं मान स्तम्भ निर्मित कराए, मृत्यु से एक वर्ष पूर्व 973 में उसने राज्य कार्य छोड़कर उदासीन श्रावक के रूप में जीवन बिताना आरम्भ कर दिया तथा तीन दिन के सल्लेखना व्रत द्वारा अपने गुरु अजितसेन भट्टारक के सान्निध्य में 974 ई. में बंकापुर में समाधिमरण किया। कुड्डलूर के दानपत्र में भी उसे जिनेन्द्र भक्त एवं साहित्य, व्याकरण एवं दर्शन का विद्वान बताया गया है। उसके श्रुतगुरु थे जैनाचार्य मुंजार्य वादिघंगल भट्ट जो ब्राह्मण श्रीधर के विद्वान पुत्र थे। उस समय के विद्वान कवियों नागवर्म एवं केशिराज ने भी मारसिंह की विद्वत्ता की प्रशंसा की है। वह अंत समय तक राष्ट्रकूटों का सहायक रहा।

977 ई. में मारसिंह का छोटा भाई राचमल्ल सत्यवाक्य चतुर्थ गंग शासक हुआ। उसका राज्यकाल 984 ई. तक सात वर्ष पर्यन्त रहा। राचमल्ल चतुर्थ अपने वीर एवं धर्मात्मा मंत्री चामुण्डराय के कारण ही उल्लेखनीय हुआ है। विश्व प्रसिद्ध गोम्मटेश्वर मूर्ति के निर्माता इस महान सेनानी, वीर योद्धा एवं स्वामी भक्त, विद्वान तथा जैन धर्म

प्रभावक चामुण्डराय का परिचय पूर्व में दिया गया है। श्रवणबेलगोल के अनेक शिलालेखों में वीर चामुण्डराय का उल्लेख हुआ है। 985 ई. में राचमल्ल के छोटे भाई गोविंद का पुत्र राक्कस गंग शासक हुआ। वह निस्संतान था। उसके गुरु थे आचार्य हेमसेन के शिष्य श्री विजयदेव। कन्नड कादम्बरी और छन्दाम्बुधि ग्रन्थों के रचियता सुप्रसिद्ध जैन कवि नागवर्म को राक्कस के दरबार में यथोचित सम्मान प्राप्त था। राक्कस ने राजधानी तलकाडु तथा अन्य स्थानों में जैन मंदिर बनवाये। वह सम्भवतया 1024 ई. तक जीवित रहा किन्तु वस्तुत: 1004 ई. के लगभग ही चोलों ने आक्रमण करके गंगवाडि राज्य का अंत कर राजधानी तलकाडु पर अधिकार कर लिया था और गंग राज्य को अपने साम्राज्य का अंग बना लिया था। मूलवंश एवं राज्य उसके पश्चात एक छोटे से उपराज्य के रूप में चलता रहा। प्रतीत होता है कि राक्कस के पश्चात सम्भवतया नीतिमार्ग तृतीय राचमल्ल शासक हुआ। उसके पश्चात राक्कस गंग द्वितीय राजा हुआ। उसके गुरु आचार्य अनन्तवीर सिद्धांत देव थे। उसकी पुत्री का विवाह चालुक्य सोमेश्वर से हुआ था। उसका उत्तराधिकारी एवं छोटा भाई कलिगंग भी जैन धर्मानुयायी था। सम्भवतया उसी ने 1116 में मैसूर प्रदेश से चोलों को बाहर निकालकर वहां होयसल नरेश विष्णुवर्धन का साम्राज्य स्थापित किया था। उसका प्रधान सामंत भुजबलगंग परमादि वर्म्मदेव आचार्य मुनिचन्द्र का शिष्य था और उसका पुत्र नन्नियगंग आचार्य प्रभाचन्द्र सिद्धान्तदेव का शिष्य था।

चोलों एवं होयसलों के उपराज्य के रूप में गंग नरेश तथा अन्य गंग सामंत विजयनगर काल तक चलते रहे। गगवश का अंतिम शासक उम्मथूर का गंग राजा रहा प्रतीत होता है। अपने अत काल तक भी गंग नरेश व सामंत श्रवणबेलगोल के प्रति श्रद्धा रखते रहे तथा जैन संस्कृति की रक्षा करते रहे। श्रवणबेलगोल की व्यवस्था एवं विकास में तो गंगवंश का सर्वाधिक योगदान रहा है। दक्षिण भारत में गंगवंश का राज्य सबसे अधिक समय तक रहा। उसकी नेक शाखाएँ भी हुई। गंग वंश में उत्पन्न अनेक व्यक्ति स्वयं गंग राज्य के तथा अन्य दक्षिणी राज्य वंशों के सामंत-सरदार रहे और इस वंश का कुल धर्म एवं बहुधा राजधर्म भी जैन धर्म ही रहा। आरम्भ से अंत तक यह वंश जैनधर्म, साहित्य तथा संस्कृति का संरक्षण एवं पोषण करता रहा। इस काल में अनेक जैनाचार्य एवं साधु राजवंश के व्यक्तियों, सामंतों आदि द्वारा पूजित एवं सम्मानित रहे। जैनाचार्यों ने इस काल में कन्नड, तामिल, संस्कृत प्राकृत इत्यादि विभिन्न भाषाओं में विविध एवं विपुल साहित्य की रचना की। उन्होंने लौकिक शिक्षा को भी अपनी शिक्षा का एक मुख्य अंग बनाया जिससे कि गंग नरेशों का राज्य कार्य में पथ प्रदर्शन होता रहा तथा वह सदाचार पूर्वक राज्य कार्य एवं जनहित कार्य करते रहे। उनकी आध्यात्मिक एवं लौकिक शिक्षाओं ने जनता के नैतिक स्तर को उन्नत बनाए रखा। गंग काल में शिल्प एवं स्थापत्य की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण कार्य हुआ। अनेक सुंदर जैन बसदियां जैसे लक्ष्मेश्वर की राय राचमल्ल बसदि, गंग परमादि चैत्यालय, गंग कन्दर्प चैत्यालय, तलकाडु और मान्यवर की श्रीविजय बसदि, सत्यवाक्य

जिनालय तथा श्रवणबेलगोल की शिवमारन बसदि आदि इसी काल में निर्मित हुए। गंगों के शासनकाल में जैन धर्म की दक्षिण में यथेष्ट उन्नति हुई। केवल कुछ गंग नरेशों के अतिरिक्त अन्य सभी गंग नरेशों ने कई शताब्दियों तक जैन धर्म को राज्य संरक्षण दिया।

गंगों के द्वारा निर्मित अनेक भवन उनकी राजधानी तलकाडु के ध्वस्त होने के कारण नष्ट हो गए हैं किन्तु उनके काल में ग्रेनाइट पाषाण से निर्मित अनेक स्तम्भ अभी भी विद्यमान हैं। 974 ई. में मारसिंह के सम्मान में निर्मित ब्रह्मदेव स्तंभ तथा चामुंडराय द्वारा निर्मित त्यागद ब्रह्मदेव स्तंभ नक्काशी किए हुए स्तंभों के सुंदर उदाहरण हैं।

गंगकाल में जैन धर्म के संरक्षक गंग नरेशों, सामंतों आदि द्वारा निर्मित जैन बसदियों, स्तंभों आदि को कर्नाटक में आरम्भिक जैन निर्माण तथा स्थापत्य का सुन्दर उदाहरण कहा जा सकता है।

जैन बसदिया मंडप अथवा सभा कक्ष के रूप में निर्मित की गई। मुख्य बसदि संरचना अधिकांश ऊंचे द्वारों और उसके चारों ओर स्तंभों वाले बरामदे सहित की गई है। गंगों ने एक के अनंतर एक तीन कोठरियों का निर्माण भी तीर्थंकर मूर्तियों की स्थापना के लिए किया। उनकी इस निर्माण शैली का उनके पश्चात भी दक्षिण में चालुक्य एवं कदम्ब राजवंशों ने अनुसरण किया।

बुद्ध एवं जैन शैलियों में समवशरण, गुम्बद एवं बरामदा निर्माण गंग तथा उनके अनन्तर होयसल काल में शिल्प के आधार अंग थे। कर्नाटक में विमान श्रेणी के आरम्भिक मंदिरों का निर्माण विहारों की शैली पर किया गया। फर्गूयूसन के अनुसार उस काल के निर्माताओं की भारतीय शिल्प को अनुपम देन है गुम्बद तथा बरामदा निर्माण, स्तम्भों पर गुम्बद निर्माण आदि। इन गुम्बदों के नीचे अतरंग गोल गहरावदार छत में उनके मध्य में लटकते टिकले को बारीकी से काट-काटकर निर्माण करना उस काल की एक प्रमुख विशेषता रही जिसका अनुसरण आने वाली शताब्दियों में राजस्थान एवं गुजरात में प्रचुरता से किया गया। इनको इतनी बारीकी एवं सुन्दर कटाई के साथ बनाया गया कि यह केवल पाषाण खंड न लगकर ऐसा प्रतीत होते हैं मानो शुभ्र ओस पिन्ड हों।

स्तम्भ तथा विशाल आकार की जैन मूर्तियों का निर्माण भी गंगकाल की विशेष देन रही। मानस्तम्भों एवं ब्रह्मदेव स्तम्भों के निर्माण में गंग काल के शिल्पी बहुत कुशल थे। मानस्तम्भ के शीर्ष भाग में एक चौकी की रचना की गई जिसमें तीर्थंकर मूर्तियों को स्थापित किया गया, अथवा चौकी की जैन मूर्तियों सहित रचना की गई (ब्रह्मदेव स्तम्भों के शीर्ष भाग में बैठे हुए ब्रह्मदेव को निर्मित किया गया)। स्तम्भ की लाट को घंटियों जैसे फूलों तथा लताओं से अलंकृत किया गया।

2. राष्ट्रकूट वंश

राष्ट्रकूटों से संबंधित केवल दो ही शिलालेख क्रमांक 38 एवं 163 यहां उपलब्ध होते हैं, जिनमें क्रमशः नरेश कम्बयय तथा इन्द्रराज चतुर्थ का उल्लेख हुआ है। शिलालेख 38 का कुछ भाग नष्ट हो गया है। आठवीं शती के इस लेख में श्रीवल्लभ महाराज के पुत्र रणावलोक कम्बयय के शासन का वर्णन करते हुए किसी भूमि के दान का उल्लेख किया गया है। राष्ट्रकूट नरेश ध्रुव ने गंगवाडि को विजित करके गंग नरेश शिवमार को बन्दीगृह में डाल दिया था तथा अपने पुत्र कम्बयय को जो उस समय युवराज था गंगवाडी का राज्यपाल बनाकर भेज दिया था।

शिलालेख क्रमांक 163 राष्ट्रकूट युवराज इन्द्रराज चतुर्थ के काल का है जो गन्धवारण बसदि के सम्मुख एक स्तम्भ पर उत्कीर्ण है। इसमें उसके चौगान (पोलो) खेल में निपुण होने का रोचक वर्णन किया गया है। इसमें उल्लेख है कि वीरों में वीर इन्द्रराज कन्दुक (गेंद) का खेल खेलता है क्योंकि इस क्रीड़ा में श्रीवृद्धि, विजय, विद्यावृद्धि, वीरता, यश आदि सभी बातें है। संसार में इन्द्रराज ही ऐसा व्यक्ति है जो सभी प्रकार की कन्दुक कला (चौगान) में दक्ष है। वह अत्यंत गतिशील तथा स्फूर्तिवान खिलाड़ी है तथा खेल के लिए आवश्यक गति क्रियाओं सुकर, दुष्कर, विषम एवं विषम दुष्कर तथा मण्डल माले, त्रि-मंडल, यामक मंडल अर्द्ध चन्द्र, सर्वतोभद्र, उच्चावला तथा चक्रव्यूह में पारंगत है। चौगान के खेल में इतना अधिक निपुण होने के कारण वह अत्यंत प्रसिद्ध हो गया है। इस शिलालेख से ज्ञात होता है कि दसवीं शताब्दी तक चौगान (पोलो) का खेल राजघरानों के मध्य पर्याप्त प्रचलित हो चुका था। यह उल्लेखनीय है कि गंग मारसिंह द्वितीय ने इन्द्रराज को राष्ट्रकूट सिंहासन पर बैठाने के लिए अथक किन्तु असफल प्रयास किया। यद्यपि वह इन्द्रराज को बंकापुर में सिंहासनारूढ़ कराने में तो सफल हो गया किन्तु उससे अधिक उपलब्धि उसको न हो सकी थी। मारसिंह की मृत्यु 975 ई. में बंकापुर में तथा इन्द्रराज चतुर्थ की श्रवणबेलगोल में 5 मार्च, 982 को धार्मिक जीवन व्यतीत करते हुए हुई।

राष्ट्रकूट वंश का जैन धर्म के संरक्षण में विशेष योगदान रहा है। 8वीं शती ई० में वातापी के चालुक्यों के पश्चात् दक्षिण भारतीय साम्राज्य का उत्तराधिकार राष्ट्रकूट वंश को प्राप्त हुआ। ये राष्ट्रकूट दक्षिणापथ के प्राचीन रट्ठिकों (राष्ट्रिकों) के वंशज थे तथा अपने आपको चन्द्रवंशीय क्षत्रिय कहते थे। इन राष्ट्रकूटों की एक शाखा लट्टलूर (पूर्व निजाम रियासत के बीदर जिले में एक स्थान) में स्थापित थी। कतिपय लेखों में इसी कारण उन्हें लट्टलूरपुरावराधीश्वर कहा गया है। 625 ई० के लगभग लट्टलूर के राष्ट्रकूट बरार प्रदेश के एलिचपुर (एलौरा) में आ बसे थे। यहीं से इस शाखा का अभ्युदय हुआ। इस शाखा का प्रथम ज्ञात राजा दन्तिवर्मन था। उसके उत्तराधिकारी हुए क्रमशः इन्द्र प्रथम, गोविन्द प्रथम एवं कर्क। ये सब वातापी के चालुक्यों के करद सामन्त थे। चालुक्यों की गिरती दशा देखकर महत्वाकांक्षी इन्द्र ने चालुक्य

बढ़ाना आरम्भ कर दिया था। उसके पश्चात् उसका पुत्र दन्तिदुर्ग खड्गावलोक वैरमेघ उत्तराधिकारी हुआ। 742 ई० के लगभग उसने एलौरा पर अधिकार किया और उसे राजधानी बनाया। एलौरा उस समय जैन, शैव, वैष्णव एवं बौद्ध चारों ही धर्मों और संस्कृतियों का केन्द्र था। 757 ई० में उसने वातापी चालुक्य नरेश कीर्तिवर्मन को पूर्णतया पराजित करके महाराजाधिराज परमेश्वर, परम भट्टारक, पृथ्वीवल्लभ, खड्गावलोक, वैरमेघ आदि उपाधियां धारण कीं और अपने आपको सम्राट घोषित कर दिया। उसने युद्धों में अनेक नरेशों को परास्त किया तथा वह लगभग सम्पूर्ण दक्षिणापथ का सम्राट बन गया। उसी समय में प्रसिद्ध जैन आचार्य वीरसेन हुए जिन्होंने ऐलौरा के समीप वाटग्रामपुर में निर्मित गुहा मंदिर में तथा ऐलौरा में निर्मित चामरलेनी गुफा में साधना एवं साहित्य रचना की थी। 752 ई. में दन्तिदुर्ग की निस्संतान मृत्यु होने पर उसका चाचा कृष्णराज प्रथम अकालवर्ष शुभतुंग सिंहासन पर बैठा। उसका राज्यकाल 757 से 773 ई. तक रहा। उसी ने 758 ई. में ऐलौरा का विश्व प्रसिद्ध गुहा मंदिर "कैलाश मंदिर" पर्वत में से काट कर बनवाना आरम्भ किया था जो लगभग 150 वर्ष में पूर्ण हुआ। उसके निकट ही जैन गुफा समूह के प्रसिद्ध गुहा मंदिर, इन्द्र सभा, जगन्नाथ सभा आदि भी उसी समय के लगभग बनने आरम्भ हुए। इन जैन गुहा मंदिरों का निर्माण 10वीं शताब्दी के आरम्भ तक चलता रहा। इनके निर्माण का श्रेय इन्हीं राष्ट्रकूट वंशी तथा ऐलवंशी नरेशों को प्राप्त है। कृष्णराज ने जैनाचार्य परिवादिमल्ल को सम्मानित किया था। कृष्णराज के उपरान्त उसका ज्येष्ठ पुत्र गोविंद द्वितीय प्रभूतवर्ष विक्रमावलोक शासक हुआ जिसका राज्यकाल 773 से 779 ई. पर्यन्त रहा। वह अयोग्य तथा दुराचारी था। अपने भाई ध्रुव से हुए एक युद्ध में सम्भवतया गोविंद की मृत्यु हो गई और 779 ई. में ध्रुव सिंहासन पर बैठा। उसने अपने भाई गोविंद द्वितीय के सहायकों को कुचलने की नीति अपनाई। उसने गंग नरेश शिवमार द्वितीय को बंदी बनाया तथा अन्य नरेशों को भी युद्ध में पराजित कर राष्ट्रकूट साम्राज्य के यश में बहुत वृद्धि की। उसकी रानी शीलभट्टारिका एक अच्छी कवियित्री तथा जैन धर्म की भक्त थी। उत्तरापथ की विजय यात्रा से वापिस लौटते समय ध्रुव सम्भवतया कन्नौज से अपभ्रंश भाषा के जैन महाकवि स्वयंभू को अपने साथ सपरिवार लिवा लाया था। स्वयंभू ने रामायण, हरिवंश आदि अनेक ग्रंथों की रचना इसी नरेश की राजधानी में की। उस काल में जैनाचार्य वीरसेन स्वामी, विद्यानन्दि, परवादिमल्ल एवं गुरु कुमारसेन प्रसिद्ध जैनाचार्य हुए हैं। इसकी राजधानी के निकट ही वाटनगर (वाटग्रामपुर) में पंचस्तूपान्वयी उक्त स्वामी वीरसेन का सुप्रसिद्ध जैन केन्द्र था, जिसमें विशाल शिष्य समुदाय शिक्षा पाता था। उसी काल (780 ई.) में उन महान जैनाचार्य ने अपने महान ग्रंथ धवल को पूर्ण किया और उसके पश्चात् जयधवला का एक तिहाई भाग लिखा तथा महाधवल की रूपरेखा तैयार की। उन्होंने अकेले ही लगभग एक लाख श्लोक प्रमाण ग्रंथ रचना की थी। उसी समय (783 ई.) में आचार्य जिनसेन ने हरिवंश पुराण की रचना की।

ध्रुव का उत्तराधिकारी हुआ उसका पुत्र गोविंद तृतीय जगत्तुंग। उसका राज्य-काल 793 ई. से 814 ई. तक रहा। गोविंद ने गंग शिवमार को मुक्त कर दिया किन्तु शिवमार द्वारा फिर विद्रोह किए जाने पर 799 ई. में उसने उसको फिर से बंदी बना लिया। उसने प्राचीन राजधानी को ऐलौरा और मयूरखंडी से हटाया। नवीन एवं विशाल नगरी मान्यखेट को बसाकर वह राजधानी वहां पर ले आया। वह उस वंश के अत्यन्त शक्तिमान नरेशों में से एक था। उसकी मृत्यु 813-814 ई. के लगभग हो गई। वह जैन धर्म के प्रति अत्यन्त सहिष्णु तथा उदार था। विद्यानन्दि, अनन्त-कीर्ति, अनन्तवीर्य, त्रिभुवन, स्वयंभू आदि प्रसिद्ध जैन विद्वान साधुओं का उसने सम्मान किया। उसके शासन काल में जैन धर्म भली प्रकार विकसित हुआ।

814 ई. में जब गोविंद तृतीय का पुत्र अमोघवर्ष नृपतुंग सिंहासन पर बैठा तो उसकी आयु केवल 9 या 10 वर्ष की थी। इस कारण उसका चाचा कर्कराज उसका अभिभावक एवं संरक्षक बना। आरम्भ में तो साम्राज्य में स्थान-स्थान पर विद्रोह हुए किन्तु कर्क की वीरता, बुद्धिमत्ता, तत्परता एवं स्वामिभक्ति के कारण 821 ई. तक स्थिति नियंत्रण में आ गई। उसी वर्ष अमोघवर्ष का विधिवत राज्याभिषेक नई राजधानी मान्यखेट में हुआ। अमोघवर्ष ने अपनी पुत्री चन्द्रबेलब्बे का विवाह गंग राजकुमार भूतग से करके गंगों को अपना स्थायी मित्र एवं स्वामिभक्त सामंत बना लिया। जैन धर्मानुयायी अमोघवर्ष उस समय के संसार के चार महान सम्राटों में से एक प्रतापी सम्राट माना जाता था। तीन अन्य प्रतापी सम्राट थे, चीन का सम्राट, बगदाद का खलीफा तथा रूम (कुस्तुंतुनिया) का सम्राट। दिग्गज विद्वान आचार्य जिनसेन उसके राजगुरु एवं धर्मगुरु थे। जिनसेन ने अपने गुरु वीरसेन द्वारा अधूरे छोड़े गए जयधवल को पूर्ण किया। संस्कृत के प्रसिद्ध आदिपुराण के रचनाकार वही थे। आदि-पुराण में चक्रवर्ती भरत की दिग्विजय का वर्णन बहुत विस्तार से किया गया है। इसी में वर्णन के आधार पर कि पोदनपुर में बाहुबली की ऊंची प्रतिमा स्थापित है, चामुण्डराय की माता ने स्वयं नेमिचन्द्र चक्रवर्ती से यह ज्ञात कर वैसी ही सुन्दर मूर्ति निर्मित कराने की इच्छा अपने पुत्र चामुण्डराय से व्यक्त की थी। अमोघवर्ष के अनुरोध पर जिनसेन स्वामी राजधानी मान्यखेट में ही आकर निवास करने लगे थे। जहां उन्होंने पार्श्वाभ्युदय नामक सुप्रसिद्ध महाकाव्य की रचना की तथा महापुराण की रचना आरम्भ की। उनका निधन 850 ई. के लगभग हुआ। उनके पट्टशिष्य आचार्य गुणभद्र ने महापुराण को संक्षेप में पूर्ण कर अन्य ग्रंथों की भी रचना की। उनके अतिरिक्त महावीराचार्य तथा पाल्यकीर्ति प्रभृति जैनाचार्यों को भी उस समय राज्य सम्मान प्राप्त था जिन्होंने अनेक ग्रंथों की रचना की। अमोघवर्ष स्वयं भी विद्वान था और उसने संस्कृत में "प्रश्नोत्तर रत्नावली" नामक नीति ग्रंथ एवं कन्नड भाषा में "कवि राजमार्ग" नामक महत्वपूर्ण छंद एवं अलंकार शास्त्र रचे थे। उसका प्रधान सेनापति वीर बंकेयरस भी जैन था। उसके राज्यकाल में जैन धर्म को राष्ट्रधर्म का रूप प्राप्त हो गया था।

लगभग 60 वर्ष पर्यन्त राज्य करने के पश्चात् 875-876 ई. के लगभग शासन का कार्य पुत्र कृष्ण द्वितीय को सौंप कर अमोघवर्ष एक विरक्त आदर्श श्रावक की भांति रहने लगा था। उसका निधन 880 ई. के लगभग हुआ। कृष्ण द्वितीय का राज्यकाल 878 से लेकर 914 ई. तक रहा। वह भी जैन धर्मानुयायी रहा। उसके गुरु थे आचार्य जिनसेन के मुख्य शिष्य गुणभद्राचार्य। उसी के आश्रय में महाकवि गुणवर्मा ने प्रसिद्ध "हरिवंश पुराण" की रचना की। महाकवि हरिचन्द्र भी सम्भवतया उसके आश्रय में रहे। उसके पुत्र जगत्तुंग की उसके जीवनकाल में ही मृत्यु हो गई। अतएव उसका उत्तराधिकारी उसका पौत्र इन्द्र तृतीय (914-22 ई.) हुआ। जिनेन्द्र देव का भक्त इन्द्र महादानी था। उसने भगवान शांतिनाथ का पाषाण निर्मित सुन्दर पादपीठ बनवाया। उसके पश्चात् उसका पुत्र अमोघवर्ष द्वितीय (922-925 ई.) राष्ट्रकूट नरेश हुआ। ज्ञात होता है कि उसके छोटे भाई गोविंद चतुर्थ ने उसकी हत्या कर दी थी।

गोविंद चतुर्थ 925 से 936 ई. तक शासक रहा। वह एक अयोग्य शासक रहा। उसका चाचा अमोघवर्ष तृतीय उसे सिंहासन से उतारकर शासक हुआ। उसने केवल 936 से 939 ई. तक ही राज्य किया। उसका पुत्र युवराज कृष्ण तृतीय राष्ट्रकूटवंश के अंतिम नरेशों में बहुत शक्तिशाली हुआ है। अपने बहनोई गंग नरेश भुतुग की सहायता से लल्लेह को पराजित करके वह सिंहासन पर बैठा। कृष्ण एक वीर योद्धा तथा उदार एवं धर्मात्मा शासक हुआ है। वह भी जैन धर्म का संरक्षक एवं विद्वानों का आश्रयदाता रहा। जैनाचार्य वादिगल उसके गुरु थे। उसका प्रधानमंत्री भरत जैन धर्मानुयायी था और अपभ्रंश के महाकवि पुष्पदंत को उसका आश्रय प्राप्त था। उसी की प्रेरणा पर कवि ने अपने प्रसिद्ध "महापुराण" की रचना की थी। कृष्ण की मृत्यु के पश्चात् उसका छोटा भाई खेट्टिग नित्यवर्ष (967-72 ई.) सिंहासन पर बैठा। गंगनरेश मारसिंह और उसके वीर सेनापति चामुण्डराय उसके प्रधान सहायक थे। मालवा के सियकहर्ष परमानदि द्वारा हुए युद्ध में सम्भवतया खेट्टिग की मृत्यु हो गयी। गंग मारसिंह के ससैन्य सहायतार्थ पहुंचने पर मालव सेना वापिस लौट गयी और खेट्टिग का पुत्र कर्क द्वितीय (972-973 ई.) शासक हुआ। चालुक्य सरदार तैलप ने 973 ई. में मान्यखेट पर आक्रमण करके सम्भवतया युद्ध में कर्क का अंत कर दिया था।

राष्ट्रकूट वंश का अंतिम नरेश इन्द्रराज चतुर्थ हुआ जो कृष्ण तृतीय का पोता तथा गंगनरेश मारसिंह का भानजा था। इसी इन्द्रराज चतुर्थ का उल्लेख उपरोक्त शिलालेख क्रमांक 163 में हुआ है। उसके मामा मारसिंह ने उसे पूर्वजों का राज्य दिलवाने में भरसक सहायता की तथा एक बार तो बंकापुर में उसका राज्याभिषेक भी कर दिया था। दोनों ने वीरतापूर्वक अनेक युद्ध किए किन्तु उनको स्थायी सफलता न मिल सकी। 975 ई० में मारसिंह की सल्लेखनापूर्वक मृत्यु हो जाने पर इन्द्रराज भी निरुत्साहित हो गया। वह श्रवणबेलगोल चला गया। हेमावती के तथा चन्द्रगिरि के

उपरोक्त शिलालेख क्रमांक 163 से ज्ञात होता है कि जैन मुनि होने के पश्चात 982 ई० में उसने सल्लेखना व्रत द्वारा समाधिमरण किया। उसकी मृत्यु के साथ ही राष्ट्रकूट वंश एवं साम्राज्य का भी अंत हो गया।

राष्ट्रकूट वंश का राज्यकाल लगभग 250 वर्ष पर्यन्त रहा। अनेक नरेश, उनके परिवार, अधीनस्थ राजा, सामंत सरदार तथा व्यापारी उस काल में जैन धर्म के अनुयायी रहे। लगभग दो-तिहाई जनता भी जैन धर्मावलम्बी थी। राज्य में अनेक जैन विद्यापीठ लौकिक एवं आध्यात्मिक शिक्षा के लिए स्थापित थे, जहां जैन विद्वानों ने साहित्य को समृद्ध किया। वाटनगर, मान्यखेट, कोप्पण जैसे प्रसिद्ध जैन ज्ञान-केन्द्रों में आचार्य वीरसेन, अकलंक, स्वयंभू, जिनसेन, गुणसेन, गुणभद्र, महावीराचार्य, विद्यानन्दि परवादिमल्ल, अनन्तकीर्ति, देवसेन, पोन्न, पुष्पदंत आदि ने विपुल साहित्य रचना की एवं जैन अध्यात्म का शिक्षण दिया एवं प्रसार किया। पम्प जिसका आश्रयदाता राष्ट्रकूट नरेश का अधीनस्थ चालुक्य राजकुमार अरिकेसरी था, कन्नड का सर्वमहान एवं सर्वप्रथम कवि माना जाता है। उसके पूर्वज वेंगी से आकर कर्णाटक के मध्य भाग में बस गए थे। उसके पिता अभिराम देवराम ब्राह्मण थे किन्तु पम्प ने जैन धर्म अंगीकार कर लिया था। उसका परिवार एवं वंश जैन ही रहे। पम्प का जन्म 902 ई० में हुआ था। राजकुमार अरिकेसरी के साथ उसने विजयन्तिपुर (बनवासी) सहित, जो प्राचीन कदम्ब नरेशों का केन्द्र था, सम्पूर्ण कर्णाटक का भ्रमण किया। जब अरिकेसरी सिंहासन पर बैठा तब पम्प उसका परामर्शदाता एवं सैनिक अधिकारी बन गया। वह कवि तथा योद्धा दोनों ही था। 941 ई० में रचित आदिपुराण उसकी प्रथम कृति थी जिसमें उसने मिश्रित चम्पू शैली में प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ के जीवन एवं निर्वाण उपायों के विषय में वर्णन किया है। शांति रस से परिपूर्ण यह एक बहुत सशक्त रचना है जो धर्म भाव एवं आत्मोन्नति के लिए लिखी गई है। इसमें जैन धर्म के अंगों का भी विवेचन है तथा भरत-बाहुबली का भी वर्णन है। लेखन शैली के लिए कन्नड भाषा में यह एक आदर्श ग्रन्थ बन गया है। भविष्य के रचनाकारों के लिए भी यह एक सुन्दर उदाहरण है। उसके पश्चात उसने अपनी प्रसिद्ध कृति 'विक्रमार्जुन विजय' की रचना की जो पम्प भरत के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें उसने अर्जुन को नायक बनाकर महाभारत की कथा को कहा है। वस्तुतः इसमें उसने अपने मित्र एवं आश्रयदाता अरिकेसरी को अर्जुन के रूप में मानकर उसकी प्रशंसा की है। उसने गर्व से लिखा है कि प्रथम कृति को उसने तीन माह में तथा दूसरी को छः माह में पूर्ण किया। सर्वगुण सम्पन्न वह एक संयत व्यक्तित्व वाला व्यक्ति था। ब्राह्मण एवं जैन संस्कृति का उसमें अपूर्व संगम हुआ था। यद्यपि भविष्य में अनेकों अति प्रसिद्ध कन्नड कवियों ने उसकी शैली का अनुसरण किया किन्तु सम्पूर्ण रूप से कोई उसकी समानता नहीं कर सका।

नरेश कृष्ण तृतीय (939-966 ई.) का प्रसिद्ध दरबारी कवि पोन्न महाकवि पम्प का निकट समकालीन हुआ है। रामकथा (रामायण पर आधारित), भुवनाभ्युदय

राचमल्लभ्युदय एवं शान्तिपुराण (सहस्त्रभौम विजय) उसकी तीन प्रसिद्ध रचनाएं हैं। भाषा एवं शैली की दृष्टि से शान्तिपुराण उन सब में सबसे अधिक प्रसिद्ध है। यह रचना पौन्न ने अपने आश्रयदाताओं माल्लप एवं पुन्नमा के कहने पर लिखी जो अपने गुरु जिनचन्द्र की महिमा करना चाहते थे और जिनको वह आचार्य समन्तभद्र तथा पूज्यपाद अकलंक-देव के समान ही विद्वान मानते थे। पौन्न की जैनाक्षर माला में 39 काव्य हैं।

असग, गुणनन्दि तथा गुणवर्म प्रथम भी राष्ट्रकूट काल में हुए प्रतीत होते हैं। असग ने संस्कृत के वर्धमान चरित्र के अतिरिक्त कर्नाट कुमार सम्भव काव्य की भी रचना की। गुणवर्म प्रथम ने अलंकार पर एक रचना के अतिरिक्त नेमिनाथपुराण (हरिवंश) की भी रचना की। शूद्रक भी उन्हीं की रचना कही जाती है। इसमें उन्होंने अपने संरक्षक गंगनरेश एरेमप्प (886-913 ई०) की शूद्रक से तुलना की है। यदि यह उन्हीं की रचना है तब वह दो विभिन्न धाराओं की पुस्तकें, अर्थात धर्मग्रन्थ एवं लौकिक साहित्य (जिसमें एक नायक की दूसरे लौकिक नायक से तुलना की गई हो) के लिखने के प्रवर्तक कहे जा सकते हैं। कालांतर में उसी के आधार पर कन्नड़ में "चम्पू" लिखने की परिपाटी पड़ी।

जैन कलाकारों ने भी अद्वितीय कलात्मक कृतियों द्वारा अपना अपूर्व योगदान किया। इस काल में अनेक राष्ट्रकूट नरेशों ने अनेक प्रसिद्ध जैनाचार्यों का सम्मान किया। उन आचार्यों द्वारा अध्यात्म, लौकिक शिक्षा एवं जैन धर्म का अपूर्व प्रसार हुआ। राष्ट्रकूट नरेशों की छत्रछाया में लगभग एक सौ ग्रन्थकारों ने, जो प्रायः सब ही दिगम्बर जैन थे, लगभग 200 ग्रन्थों की रचना की। इन ग्रन्थों में लगभग 110 संस्कृत, 35 प्राकृत, 20 कन्नड, 15 अपभ्रंश और 6 तमिल भाषा के हैं। धवल, जयधवल जैसी विशाल एवं प्रसिद्ध आगमिक टीकाओं के अतिरिक्त सिद्धांत, तत्व अध्यात्म, दर्शन, न्याय, तर्कपुराण, कथा, भक्ति स्तोत्र, मंत्र आदि-आदि विषयों पर प्रबुद्ध तथा बहुधा आधारभूत साहित्य का सृजन हुआ। इन विषयों के अतिरिक्त व्याकरण, कोष, छंद, अलंकार, गणित, ज्योतिष, आयुर्वेद चिकित्सा शास्त्र, प्राणी विज्ञान, राज-नीति जैसे लौकिक विषयों पर भी अपूर्व साहित्य सृजन हुआ।

3. चालुक्य वंश

चालुक्य वंश के अभी तक केवल 3 शिलालेख क्रमांक 563, 568, 532 ही ज्ञात हुए हैं। 1079 ई० का शिलालेख क्रमांक 563 तथा 1094 ई० का शिलालेख क्रमांक 568 विक्रमादित्य षष्टम के काल के हैं जिनमें उसको त्रिभुवनमल्ल कहा गया है। शिलालेख क्रमांक 532 का कोई समय नहीं दिया गया है।

दक्षिणापथ में ईसा की आरम्भिक शताब्दियों में राजनैतिक एवं सांस्कृतिक ऐक्य का एक वातावरण बनना आरम्भ हुआ था, किन्तु विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति और उसके कारण नवीन राजवंशों की स्थापना के कारण वह तीसरी-चौथी शताब्दी से ही क्षीण

होना आरम्भ हो चुका था। उन राजवंशों में चालुक्य राजवंश एक प्रमुख एवं प्रभावी शक्ति के रूप में रहा है।

अनुश्रुतियों के आधार पर चालुक्यों का मूल पुरुष अयोध्या से दक्षिण भारत में पहुंचा था। ईसा की पांचवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में विजयादित्य चालुक्य नामक एक साहसी एवं वीर सैनिक रहा प्रतीत होता है। कुडप्पा जिले के मुडिवेमि ग्राम को, जो उस समय पल्लव राज्य में था, अपना केन्द्र बनाकर उसने तलवार के बल पर शक्ति बढ़ानी आरम्भ की किन्तु युद्ध में पल्लवों द्वारा उसकी मृत्यु हो गई थी। उसके पश्चात उसके पुत्र जयसिंह ने विष्णुभट्ट नामक ब्राह्मण द्वारा पालन-पोषण होने के कारण विष्णुवर्धन उपाधि धारण की। उसने महाराष्ट्र के राष्ट्रिकों से कुछ प्रदेश अपने अधिकार में कर वातापी (बीजापुर जिले में आधुनिक बादामी) को अपनी राजधानी बनाया। कर्नाटक के अन्य प्रसिद्ध ऐतिहासिक स्थल ऐहोल एवं अलक्तकनगर उसके छोटे से राज्य के प्रमुख नगर थे। उसकी वीरता के कारण दुर्विनीत गंग ने अपनी पुत्री का विवाह उससे कर दिया था। पल्लव नरेश चंडदंड त्रिलोचन के साथ हुए युद्ध में उसकी मृत्यु हो गयी। प्रतिशोध स्वरूप दुर्विनीत ने चंडदंड को मारकर जयसिंह के पुत्र एवं अपने धेवते रणराग को सिंहासन पर बैठाया। उसका पुत्र हुआ सत्याश्रय पुलकेशी प्रथम। वास्तव में वही उस वंश का प्रथम नरेश एवं सही राज्य संस्थापक माना जाता है। उसके समय में वातापी, ऐहोल एवं अलक्तकनगर प्रमुख जैन केन्द्र बन चुके थे। उसका राज्यकाल 532 ई. से 565 तक रहा। उसके पश्चात उसका ज्येष्ठ पुत्र कीर्तिवर्मन प्रथम शासक हुआ। उसने 565 ई. से 597 ई. पर्यन्त राज्य किया। उसी के राज्यकाल में जैनाचार्य विकीर्ति ने 585 ई. में ऐहोल के निकट मेघुटी में जैन मंदिर का निर्माण कराया और एक विशाल जैन विद्यापीठ की स्थापना की। मेघुटी में गुडी शब्द का अपभ्रंश सम्मिलित है जिसका अर्थ है ऊंचा मंदिर। ऊंचाई पर निर्मित होने के कारण इसका यह नाम पड़ा है। इसमें एक मंदिर तथा सभाकक्ष निर्मित हैं। कीर्तिवर्मन जिनभक्त था। 597 ई. में उसकी मृत्यु के पश्चात उसके भाई मंगलीश ने 597 ई. से 608 ई. तक राज्य किया। वह विष्णु भक्त था। उसके पश्चात कीर्तवर्मन के ज्येष्ठ पुत्र पुलकेशिन द्वितीय ने मंगलीश को समाप्त करके सिंहासन पर अधिकार किया। वह जैन धर्म का महान संरक्षक सम्राट रहा। उसके समय के दो जैन अभिलेख मिलते हैं। प्रथम अभिलेख ऐहोल के मेघुटी मंदिर में उत्कीर्ण प्रशस्ति है जिसके रचनाकार उसके गुरु जैन आचार्य विकीर्ति (रविभद्र) थे। इस शिलालेख में उन्होंने पुलकेशी द्वितीय के सारे कार्यों का सरस एवं साहित्यिक वर्णन किया है। सम्राट पुलकेशी के शौर्य एवं सैनिक शक्ति के कारण ही कन्नौज सम्राट हर्षवर्धन दक्षिण में नहीं बढ़ पाया था। आन्ध्र प्रदेश में पिष्टपुर को विजित कर उसने 615 ई. में अपने छोटे भाई कुब्ज विष्णुवर्धन को उसका शासक नियुक्त किया था जिसके कारण वेंगि की पूर्वी चालुक्य शाखा आरम्भ हुई थी।

पुलकेशी द्वितीय ने पल्लव नरेश महेन्द्रवर्मन को भी परास्त कर कांची

(वर्तमान कांजीवरम) पर अधिकार कर लिया था तथा कावेरी को पार कर चोलों, केरलों एवं पाण्ड्य नरेशों को अपना मित्र बना लिया था।

पुलकेशी द्वितीय से सम्बन्धित दूसरा अभिलेख अन्नमेश्वर (धारवाड़) से प्राप्त हुआ है। इसमें उसके सामंत राजा दुर्गशक्ति द्वारा पुलिगेरे नगर में निर्मित शंख जिनेन्द्र चैत्यालय की पूजा व्यवस्था के लिए दान दिए जाने का उल्लेख है।

उसी के काल में बहु प्रसिद्ध जैनाचार्य अकलंकदेव हुए। वे सम्भवतया इन्हीं रविकीर्ति के शिष्य थे। पुलकेशी एवं उसके पश्चात उसका पुत्र विक्रमादित्य प्रथम उनका बड़ा आदर करते थे। सम्भवतया चालुक्य वंश की एक शाखा से राजकुल में उत्पन्न अकलंकदेव ने आठ वर्ष की आयु में ब्रह्मचर्य व्रत ले लिया था। रविकीर्ति जी के ऐहोल जैन विद्यापीठ में जैन दर्शन तथा कन्हेरी के बौद्ध विहार में बौद्ध दर्शन का उन्होंने गहन अध्ययन किया। बौद्ध विद्वानों को शास्त्रार्थ में पराजित करने के कारण उन्हें "भट्ट" उपाधि से विभूषित किया गया था। सिद्धान्त, दर्शन, न्याय-शास्त्र, व्याकरण तथा अन्य भारतीय दर्शनों के अकलंक देव उद्‌भट विद्वान थे। उनके द्वारा प्रतिपादित न्याय "अकलंक न्याय" नाम से प्रसिद्ध हुआ। गुरु मानने के कारण विक्रमादित्य उन्हें "पूज्यपाद" कहता था। इसी कारण इस विक्रमादित्य के वंशजों द्वारा उत्कीर्ण अभिलेखों में अकलंकदेव का उल्लेख "पूज्यपाद" नाम से हुआ है। श्रवणबेलगोल के अनेक शिलालेखों में उनके विशिष्ट ज्ञान की भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है। वे देवसंघ के आचार्य तथा उस काल के प्रसिद्ध आचार्य थे। अपने गुरु रविकीर्ति के पश्चात वे ही ऐहोल के जैन केन्द्र के अध्यक्ष बने।

सम्राट पुलकेशी के काल में बादामी के प्रसिद्ध जैन गुहा मंदिर का निर्माण हुआ। कहीं-कहीं पर यह भी वर्णन हुआ है कि पुलकेशी के पुत्रों कीर्तिवर्मा एवं मंगलीश में से दूसरे ने बादामी में चार गुहा-मंदिरों का निर्माण करवाया। एक गुहा मंदिर शिव को समर्पित है, दो विष्णु को, तथा चौथा जैन तीर्थंकर आदिनाथ को। इसमें बाहुबली की मूर्ति कमल के ऊपर उत्कीर्ण है जिसके पैरों एवं हाथों को माधवी लता ने लपेट रखा है।

पुलकेशी भारत के अत्यंत प्रसिद्ध सम्राटों में से एक हुआ है। चीनी यात्री ह्वेनसांग के विवरण से ज्ञात होता है कि बौद्ध धर्म की अपेक्षा जैन धर्म उसके राज्य में अधिक अच्छी स्थिति में था। 641-642 ई. में पल्लव नरेश नरसिंह वर्मन द्वारा भीषण आक्रमण कर दिए जाने के कारण पुलकेशी द्वितीय की उसमें मृत्यु हो गई। उसके पुत्र साहसतुंग विक्रमादित्य प्रथम को जब उत्तराधिकार मिला तब राज्य की स्थिति ठीक नहीं थी। पल्लवों द्वारा युद्धों तथा उससे जनित लूटमार के कारण अराजकता फैल गयी थी। उसका लाभ उठाकर स्वयं विक्रमादित्य के भाई चन्द्रादित्य एवं आदित्यवर्मन ने राज्य के कुछ भागों को अपने अधिकार में कर लिया था। अपने कौशल एवं साहस से उसने आंतरिक एवं बाह्य दोनों ही प्रतिरोधों का सामना कर स्थिति को सुदृढ़ किया।

चालुक्य नरेश मारवर्मन तथा गंग की सहायता से नरसिंहवर्मन को पराजित कर अपना राज्य वापिस लिया। 653 ई. के लगभग ही उसका विधिवत राज्याभिषेक सम्पन्न हो पाया। उसका समस्त जीवन लगभग युद्धों में ही बीता। आचार्य अकलंकदेव उसके गुरु थे लगभग 680 ई. में उसकी मृत्यु के पश्चात उसका पुत्र विनयादित्य (680 ई.-696 ई.) सिंहासन पर आरूढ़ हुआ। उसके पश्चात उसका पुत्र विजयादित्य द्वितीय (697-733 ई.) शासक हुआ। इन नरेशों ने अनेक जैन मंदिरों का निर्माण कराया तथा आचार्यों को दान-पत्र भेंट किए, पुष्पसेन, विमलचन्द, कुमारनन्दि, अनंतवीर आदि आचार्य उसी काल में हुए। उसकी मृत्यु पर उसका पुत्र विक्रमादित्य द्वितीय सिंहासन पर बैठा। उसका राज्यकाल 733 ई. से 744 ई. पर्यन्त रहा। जैन धर्म के भक्त इस नरेश ने शंख जिनालय व धवल जिनालय आदि मंदिरों का जीर्णोद्धार कराया तथा जिन-पूजा के लिए भूमि दान किया। उसका पुत्र कीर्तिवर्मन द्वितीय (744-757 ई.) इस वंश का अंतिम नरेश हुवा। उसकी भी जैन धर्म में आस्था थी। राष्ट्रकूट नरेश दन्तिदुर्ग ने 753 ई. में कीर्तिवर्मन को पराजित कर वातापी के पश्चिमी चालुक्य राज्य का अंत कर दिया।

कीर्तिवर्मन के कोई सन्तान न थी। उसके चाचा भीम पराक्रम के वंश में उत्पन्न कीर्तिवर्मन तृतीय, तैल प्रथम, विक्रमादित्य तृतीय, अय्यन प्रथम एवं विक्रमादित्य चतुर्थ राष्ट्रकूटों के अधीन सामन्तों अथवा उपराजाओं के रूप में रहे। विक्रमादित्य चतुर्थ के पुत्र तेल द्वितीय ने दसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में राष्ट्रकूटों का अन्त करके कल्याणी के उत्तरवर्ती चालुक्य वंश की स्थापना की। विक्रमादित्य षष्टम, जिसका श्रवणबेलगोल के उपरोक्त तीन शिलालेखों में उल्लेख हुआ है, चालुक्य वंश की इसी शाखा में उत्पन्न हुआ था। सोदत्ती के अंकेश्वर मंदिर से प्राप्त शिलालेख के अनुसार तेल द्वितीय के महासामन्त शांतिवर्मा ने उस नगर में एक जिनालय का निर्माण कराकर उसकी व्यवस्था के लिए भूमिदान किया था।

तैलप द्वितीय की वंश परम्परा में उत्पन्न नरेश जयसिंह प्रथम (1015-1040 ई.) भी जिनधर्म सेवी रहा। उसी काल में आचार्य वादिराज, दयापाल और पुष्पषेण सिद्धान्तदेव हुए। श्रवणबेलगोल में चन्द्रगिरि पर पार्श्वनाथ बसदि में उत्कीर्ण लेख क्रमांक 77 में वादिराज की प्रशंसा की गयी है। उससे यह भी विदित होता है कि उन्होंने राजधानी में शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त की थी। जयसिंह ने वादिराज को "जगदेकमल्ल" उपाधि प्रदान की थी। वादिराज ने भी अपने "यशोधर चरित्र" आदि ग्रन्थों में इस नरेश का उल्लेख किया है। जयसिंह प्रथम को "मल्लिकामोद" नामक उपाधि मिली हुई थी। कहा जाता है कि बलिपुर नामक स्थान में इस जयसिंह "मल्लिकामोद" ने शांतिनाथ की प्रतिमा की प्रतिष्ठा कराई थी। जयसिंह प्रथम के पश्चात आहवमल्ल सोमेश्वर प्रथम (1043-1068 ई.) ने त्रिभुवनतिलक आदि जैन मंदिरों का निर्माण कराया तथा अन्य धार्मिक कृत्य किए। उसके पुत्र सोमेश्वर द्वितीय ने भी शांतिनाथ आदि जैन मंदिरों का निर्माण कराया। उसका भाई विक्रमादित्य षष्टम भी जिन धर्म सेवी था जिसने गंग पेमनिडि चैत्यालय का निर्माण कराया था।

उसने श्रवणबेलगोल के समीप अनेक जिनालयों का निर्माण कराया था। जिन्हें बाद में राजाधिराज चोल ने नष्ट करवा दिया था। मुनि वासवचन्द्र को सम्भवतया इसी नरेश ने "बाल सरस्वती" की उपाधि से विभूषित किया था।

चालुक्य नरेशों के अधिकांश शिलालेख धारवाड़ जिले से प्राप्त हुए हैं। जिससे ज्ञात होता है कि उस क्षेत्र में एवं उसके समीपस्थ क्षेत्रों में जैन धर्म का अच्छा प्रभाव था। लक्ष्मेश्वर उस काल में जैन धर्म के प्रचार-प्रसार का एक महत्वपूर्ण केन्द्र था।

चालुक्य नरेशों का राज्यकाल 500 वर्ष से अधिक समय तक रहा जिसमें कतिपय नरेश जिनसेवी रहे और उनके समय में जैन धर्म यथेष्ट फला-फूला यद्यपि अधिकांश चालुक्य नरेश शिव एवं विष्णु भक्त थे किन्तु धर्म सहिष्णु होने के कारण उन्होंने भी उदारतापूर्वक जैन मंदिरों व गुहा-निर्माण व उनकी व्यवस्था के लिए योगदान किया तथा सम्प्रदाय निरपेक्षता के आधार पर जैन धर्म को अपना संरक्षण दिया।[13] अनेक अभिलेखों से विदित होता है कि चालुक्य नरेशों के शासनकाल में जैन धर्म को लोकप्रिय बनने का पूरा अवसर मिला था तथा उसे राज्य का सहयोग भी मिला। मेघुटी मंदिर के अतिरिक्त गडग से 11 कि. मी. दूर लोकुंडी का जैन मन्दिर भी चालुक्य काल की एक विशेष कृषि है। होयसल नरेश बल्लाल द्वितीय ने 1191 ई. में लोकुंडी को अपनी राजधानी बनाया था।

1040 ई. के लगभग जयकीर्ति हुए जो छंदोनुशासन (संस्कृत) के रचनाकार थे। उनकी यह कृति नागवर्मा की छंदोम्बुधि का पूरक कही जाती है। 11 वीं शताब्दी में ही श्री धर्माचार्य एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक तथा शोध-प्रबंध लेखक हुए हैं। श्री धर्माचार्य ने 1049 ई. में "जातक तिलक" लिखा जो एक गणित ग्रंथ है। उन्होंने ज्योतिष काव्य की भी रचना की जो नक्षत्र विद्या पर प्रथम शोध-प्रबंध है। यह अत्यंत सरल शैली में लिखा हुआ है। उनकी अन्य कृति "चन्द्रप्रभ-चरित्र" अनुपलब्ध है। उनके आश्रयदाता थे नरेश आहवमल्ल अथवा सोमेश्वर प्रथम (1043-68 ई.)। नरेश कीर्तिवर्मा ने "गौ वैद्य" नामक पशु-रोग चिकित्सा संबंधी पुस्तक लिखी। उससे ज्ञात होता है कि उस समय राजकुमारों को सभी प्रकार की शिक्षा दी जाती थी। उसने जैन धर्म के पुनरुत्थान के लिए बहुत कार्य किया तथा उदारतापूर्वक दान दिया। उसकी अनेक उपाधियों में से एक उपाधि "विद्यारत्न" भी थी।

लगभग 1060 ई. में शांतिनाथ ने सुकमार-चरित्र की रचना की। वह बनवासी के महामण्डलेश्वर लक्ष्मण राजा का एक अधिकारी था। 1068 ई. में उत्कीर्ण एक शिलालेख की रचना उसने की थी। उसमें उसने अपने सुकमार-चरित्र का रचयिता होने के विषय मे उल्लेख किया है। वह चम्पू शैली में रचित है। शांतिनाथ प्रसिद्ध कवियों पम्प, पौन्न एवं रन्न का प्रशंसक था किन्तु महाकवि पम्प के प्रति विशेष आदर रखता था। उसने कवि पम्प के समान धर्म एवं लोक धर्म दोनों का ही अपनी रचनाओं में निर्वाह किया है। वस्तुतः सुकमार चरित्र में वायुभूति को पात्र बनाकर आवागमन

का वर्णन किया गया है। यह कन्नड साहित्य की 12 वीं शती की एक ऐसी कृति है जिसके बिना कन्नड साहित्य उतना समृद्ध नहीं बन पाता।

12 वीं शताब्दी में शैव धर्म का प्रभाव मुख्यतः रामानुजाचार्य के प्रादुर्भाव के कारण बढ़ रहा था। ऐसे समय में जैन धर्म की स्थिति उच्च कोटि की साहित्यिक रचनाओं तथा दर्शन उच्चता के कारण ही सुरक्षित रह सकती थी। आचार्य नयसेन उस समय के एक अति सम्मानित जैन साधु थे जिनका अनेक नरेश आदर करते थे। इसी कारण उनको "राज्य पूज्य" भी कहा जाता था। 1112 ई. में रचित उनका धर्मामृत चम्पू काव्य नैतिक दृष्टि से मनुष्य के उत्थान के लिए लिखी गई एक श्रेष्ठ रचना है। यह उपदेशात्मक कथाओं का संग्रह है। यह कठिन भाषा में न होकर साधारण व्यक्तियों के लिए आसपास बोली जाने वाली सरल भाषा में लिखी गई है। उपमा एवं उपमेय की उस कृति में विशेषता है। उपमाओं की अधिकता के कारण कभी-कभी उसमें दुरूहता भी आ गई है। उसमें अनेक कहावतों की रचना की गई है।

नागवर्म द्वितीय भी 12वी शताब्दी का एक प्रसिद्ध कवि और व्याकरणाचार्य हुआ है। वह सैन्य शास्त्र पढ़ाने में भी निपुण था। वह जगदेकमल्ल के राज्यकाल (1138-1150 ई.) में हुआ था। नागवर्म "अभिनव सर्ववर्म" की उपाधि से विभूषित था। उसकी तीन कृतियां "काव्यावलोकन", "भाषा भूषण" एवं "अभिधान वास्तुकोष" प्रसिद्ध हैं। कहा जाता है कि उसने जिनेन्द्र पुराण की भी रचना की थी। वह भी उपलब्ध नहीं है। "काव्यावलोकन" कन्नड़ व्याकरण का भी संक्षिप्त विवेचन है। "भाषा भूषण" संस्कृत में लिखी कन्नड व्याकरण है और उसी के आधार पर अकलंकदेव ने शब्दानुशासन की रचना की थी। "अभिनव वास्तुकोष" कन्नड का काव्य में लिखा गया शब्दकोष है। नागवर्म द्वितीय का स्थान कन्नड भाषा एवं साहित्य में अद्वितीय है।

एक अन्य प्रसिद्ध रचनाकार ब्रह्मशिव आरम्भ में जैन था जो बाद को शैव हुआ और अंत में उसने फिर जैन धर्म को अंगीकार किया। उसके विचार में जैन धर्म ही सर्वोत्कृष्ट धर्म है। अपनी कृति "समय परीक्षा" में उसने अनेक धर्मों का विवेचन किया है। उसका अध्ययन अनेक धर्मों के प्रति विशद एवं गहन था। उसने इस कृति में अपने समय के धर्मों की त्रुटियों का भी वर्णन किया है। सम्भवतया जैन धर्म के प्रति प्रगाढ़ आस्था रखने के कारण अन्य धर्मों का वह कटु आलोचक रहा। "समय परीक्षा" उस समय की कन्नड भाषा की एकमात्र कृति है जिसमें अनेक धर्मों का विवेचन किया गया है। वर्तमान महाराष्ट्र, कर्णाटक, आन्ध्र प्रदेश तथा गुजरात के जिन भागों पर चालुक्यों का आधिपत्य था वहां पर जैन संस्कृति अपने वास्तु-शिल्प के साथ अभी भी लोकप्रिय बनी हुई है। चालुक्य काल में जैन रचनाकार यथेष्ट प्रसिद्ध रहे हैं।

होयसल वंश

होयसल काल के लेखों में सबसे अधिक वर्णन हुआ है नरेश विष्णुवर्धन, उनकी पत्नी शान्तला, उनके मंत्री गगराज तथा नरेश नरसिंहदेव द्वितीय का। प्रतापी होयसल नरेश जैन धर्म के पालन एवं संरक्षण के लिए प्रसिद्ध रहे हैं। विनयादित्य द्वितीय (1060-1101 ई.) इस वंश का ऐतिहासिक रूप से प्रसिद्ध प्रथम नरेश था, जिसे राजसत्ता, शक्ति एवं यश जैन मुनि शांतिदेव के आशीर्वाद से प्राप्त हुए थे। वह जैन धर्मावलम्बी शासक था। होयसल वंश का सबसे प्रतापी एवं यशस्वी नरेश विष्णुवर्धन (1111-1141 ई.) अपने राज्यकाल के आरम्भिक वर्षों में जैन धर्मावलम्बी था। उससे पूर्व सभी होयसल नरेश जैन धर्मानुयायी थे।

सवतिगन्धवारण बसदि के समीप एक पाषाण शिला पर 1123 ई. में उत्कीर्ण शिलालेख क्रम संख्या 162 में पोयसल (होयसल) वंश की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। उसमें लिखा है कि ययाति के पुत्र यदु के वंश में अनेक राजा हुए जिनमें शल नामक नरेश यथेष्ट प्रसिद्ध रहा। वन में एक क्रोधी सिंह से मुठभेड़ होने पर शल के गुरु ने उससे कहा "पोयसल" अर्थात् "इसे मारो सल"। सिंह का अंत कर देने के कारण उसी समय से उसका नाम पोयसल प्रसिद्ध हुआ तथा उसने सिंह को राजचिह्न बनाया। उसके समय से द्वारावती (द्वारसमुद्र) के शासक पोयसल (होयसल) वंशी कहलाए। अन्य भी वर्णन हुआ है कि शासकपुर (सोसेवूर), जो वर्तमान चिकमंगलूर जिले में मूडिगेरे अंगडी नाम से जाना जाता है, का निवासी सल नामक एक वीर तथा महत्वकांक्षी युवक था। वह उत्साही था किन्तु साधनविहीन था। युवक सल वासंती देवी के मंदिर के निकट वन में गुरु सुदत्त से किसी विषय का अध्ययन कर रहा था। एक भयानक सिंह वन में से निकलकर गुरु के ऊपर झपटा। गुरु ने अपना दंड अथवा मोर पिच्छी सल की ओर फेंककर कहा "पोयसल" अर्थात् इसे मारो सल। वीर सल ने उस दण्ड के प्रहारों से ही उस सिंह का अंत कर दिया। इस कार्य से गुरु सल से बहुत प्रसन्न हुए और उसे एक स्वतंत्र राज्य स्थापित करने का आदेश दिया और सिंह को ही सल का विजय चिह्न मानकर राज्य चिह्न घोषित किया। इस घटना के कारण सल का नाम पोयसल प्रसिद्ध हुआ जो कालान्तर में होयसल शब्द में परिवर्तित हो गया। उपरोक्त घटना लगभग 1006 ई. की है। अन्य वर्णन के अनुसार इस सल का नाम उसके छुटपुट आक्रमणों के कारण जनता में भय के साथ लिया जाता था किन्तु गुरु सुदत्त के उपदेश एवं पथ प्रदर्शन में उसने अपने जीवन को एक नई दिशा दी तथा होयसल वंशी राज्य की नींव डालनी आरम्भ की। वह कर्णाटक की एक पर्वतीय जाति से सम्बन्धित था और उसकी माता सम्भवतया एक गंग राजकुमारी थी। अपने नेतृत्व काल के पन्द्रह वर्षों (1007-1022 ई.) में पोयसल ने अपनी शक्ति में वृद्धि की। उसका पुत्र हुआ विनयादित्य प्रथम जो 1022 से 1047 ई. तक शक्तिशाली रहा। विनयादित्य प्रथम का पुत्र नृपकाम होयसल भी यथेष्ट प्रसिद्ध रहा है। गुरु सुदत्त उन दोनों के भी राजगुरु रहे। नृपकाम का नेतृत्व काल 1047 से 1060 ई. पर्यन्त रहा।

नृपकाम का पुत्र विनयादित्य द्वितीय ही इस वंश का ऐतिहासिक रूप से प्रसिद्ध वस्तुतः प्रथम नरेश था। उसका राज्यकाल 1060 से 1101 ई. पर्यन्त रहा। पार्श्वनाथ बसदि (चन्द्रगिरि) में एक स्तम्भ पर 1129 ई. के अंकित शिलालेख क्रमांक 77 से ज्ञात होता है कि उसे राज्य सत्ता, शक्ति, यश एवं राज्य वृद्धि अपने गुरु जैन मुनि शांतिदेव के आशीर्वाद से प्राप्त हुए थे। बारहवीं शती के लेख क्रमांक 176 में जो सवतिगन्धवारण बसदि की बाजू में बने मंडप के तीसरे स्तम्भ पर उत्कीर्ण है, उल्लेख है कि होयसल नरेश विक्रमादित्य ने अनेक मंदिरों, सरोवरों एवं जैन धर्म स्थानों का निर्माण करवाया तथा ग्रामों एवं नाडुओं (जिलों) को बसाया।

विनयादित्य द्वितीय के पश्चात् उसका पुत्र ऐरेयंग भी यथेष्ट प्रसिद्ध शासक रहा। ऐरेयंग के तीन पुत्र थे—बल्लाल प्रथम, बिट्टिगदेव (विष्णुवर्धन) तथा उदयादित्य। ऐरेयंग की शीघ्र ही मृत्यु हो जाने के कारण उसका ज्येष्ठ पुत्र बल्लाल प्रथम होयसल नरेश हुआ। उसका राज्यकाल 1101 ई. से 1106 ई. पर्यन्त ही रहा। श्रुतकीर्तिदेव के शिष्य चारुकीर्ति पंडितदेव उसके गुरु थे। वह आयुर्वेद, व्याकरण, न्याय, सिद्धान्त, योग, मंत्र-शास्त्र एवं अन्य विद्याओं के मर्मज्ञ विद्वान थे। सिद्धर बसदि में एक स्तम्भ पर उत्कीर्ण शिलालेख क्रमांक 360 में उल्लेख है कि जिस समय बल्लाल नरेश शत्रुओं से युद्ध कर रहा था वह एक भयंकर रोग से पीड़ित हो गया। उस समय पंडिताचार्य चारुकीर्ति ने उसे अपने अद्भुत औषधिप्रयोग से शीघ्र ही निरोग कर दिया। पंडिताचार्य ने समाधिमरण द्वारा देह त्याग किया था।

बल्लभ प्रथम ने बेलूर को अपनी राजधानी बनाया। द्वारसमुद्र (हलेबिड) उप-राजधानी के रूप में रहा। नागचन्द्र बल्लाल प्रथम का प्रमुख कवि एवं राजकवि था। अपनी विद्वता के कारण वह "अभिनव पम्प" कहलाता था। "रामचन्द्र चरित्र पुराणम" में जिसे पम्प पुराण भी कहा जाता है, उसने सुपात्र नरेश की ही प्रशंसा करने का समर्थन किया है। जिस शासक में व्यक्तिगत दोष हों उसे वह प्रशंसा का पात्र नहीं मानता था। उसकी दूसरी कृति उन्नीसवें तीर्थंकर मल्लिनाथ के जीवन एवं उपदेशों से सम्बन्धित है। उसने अपनी दोनों कृतियों की रचना धार्मिक दृष्टि से की थी, काव्यात्मक अथवा लोकपक्ष की दृष्टि से नहीं। उसकी इस विचारधारा से कन्नड में सुयोग्य एवं चरित्रवान शासकों के ही यशोगान की प्रथा आरम्भ हुई। कवियों ने केवल सच्चरित्र एवं गुणी व्यक्तियों को ही नायक के रूप में यशोगान के लिए चुनना आरम्भ किया।

बल्लाल प्रथम की मृत्यु के उपरान्त होयसल शासन 1106 ई. में उसके छोटे भाई बिट्टिगदेव के अधिकार में आया। वह इस वंश का सबसे अधिक प्रतापी शक्तिशाली तथा प्रसिद्ध नरेश हुआ है। वह एक कुशल योद्धा था। जन्मजात सैन्य प्रतिभा के रूप में तथा कुशल प्रशासक एवं संस्कृति के पोषक के रूप में उसकी ख्याति फैली हुई थी। चालुक्य शासन के अधीनस्थ इस नरेश ने चालुक्य सम्राटों के अन्तिम वर्षों

में उनसे मुक्त होने का प्रयत्न किया एवं 1117-1118 ई. में उसे चालुक्य सेना के विरुद्ध एक निर्णयात्मक विजय प्राप्त हुई, जिसमें उसके सेनापति एवं मंत्री गंगराज की वीरता विशेष महत्वपूर्ण थी। उसके उपरांत उसने हांगल के कदम्बों का दमन करके तुंगभद्रा नदी को पार कर कुम्भट के दुर्ग पर भी अधिकार कर लिया। उसने चोलों को भी अपने क्षेत्र से खदेड़ा तथा द्वारसमुद्र (हेलेबिड) को पुनः होयसल राज्य की राजधानी बनाया। शिलालेखों में उसकी वीरतापूर्ण विजयों का वर्णन किया गया है। राष्ट्रकूट शासक ध्रुव द्वारा वहां एक तालाब का निर्माण कराए जाने के कारण इसका नाम द्वारसमुद्र प्रसिद्ध हो गया था। उत्तर में बंकापुर तथा दक्षिण में तलकाडु उसकी प्रान्तीय राजधानियां बनी थीं। होयसल नरेश अपने को तलकाडु के गंग नरेशों का स्वाभाविक एवं वैध उत्तराधिकारी मानते थे। विष्णुवर्धन को गंगवाडि को एक चोल प्रान्त के रूप में रखना सह्य नहीं था। उसके सेनापति गंगराज ने 1116 ई. में तलकाडु को चोलों से वापिस ले लिया था। गंगवाडि की विजय उसकी महान उपलब्धि थी। इसके पश्चात् उसने कोंगु, नंगली, नोलम्बवाडी एव कोवनूर शासकों का दमन किया। चोल राज्य पर विजय प्राप्त की। विष्णुवर्धन के अनेक शिलालेखों में रामेश्वरम तक विजय प्राप्त करने के उल्लेख हैं। उसने "कांचिगोंडा" उपाधि भी धारण की थी। सलेम, कोयम्बतूर एवं तमिलनाडु के अन्य भागों में उसके अभिलेख मिले हैं। वह विक्रमादित्य षष्टम का अधीनस्थ रहा और 1126 ई. में विक्रमादित्य की मृत्यु पर उसने अपने को स्वतंत्र शासक घोषित किया। उसके राज्य में कोंगु सलेम (नहगली) कोलार जिले का पूर्वी भाग, तलकाडु (मैसूर जिला), गंगवाडि, नोलम्बवाडी, बनवासी, हुनागल, हुलिगेरे, हलासिंग एवं बेलावोल सम्मिलित थे।

विष्णुवर्धन का राज्यकाल 1106 ई. से 1141 ई. तक रहा। अपने राज्यकाल के आरम्भिक वर्षों तक वह जैन धर्मावलम्बी रहा और प्रिय राजकुमार होने के कारण उसका नाम था बिट्ठिगदेव अथवा बिट्टिदेव। 1116 ई. में रामानुजाचार्य उससे तैन्नूर में मिले और उनके प्रभाव से वह जैन से शैव हुआ। शैव धर्म अंगीकार करने के कारण ही सम्भवतया उसका नाम विष्णुवर्धन नहीं पड़ा था। विष्णुदेव का कन्नड रूप बिट्ठिदेव भी था, इस कारण उसका नाम विष्णुवर्धन परिचलित हो जाना सम्भावित लगता है।

अनेक पुस्तकों में यह उल्लेख कि धर्म परिवर्तन के पश्चात् विष्णुवर्धन जैनों के प्रति कठोर रहा, उसके द्वारा जैनों को शारीरिक यातनाएं दी गयीं, जैन मंदिरों को तुड़वा कर वैष्णव मंदिर बनवाए गए और जैन गुरुओं का क्रूरता से वध कराया गया सत्य प्रतीत नहीं होता। पति के धर्म परिवर्तन के पश्चात् भी उसकी प्रमुख पत्नी रानी शांतला जैन धर्मावलम्बी बनी रही और विष्णुवर्धन की स्वीकृति से अनेक जैन मंदिरों तथा जैनों को भेंट आदि देती रहीं।

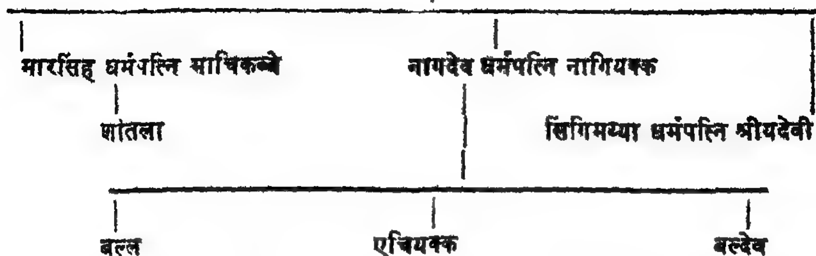
उसके जैन धर्मावलम्बी मंत्री गंगराज भी उसके विशेष कृपापात्र बने रहे तथा

उनसे भेंट में प्राप्त गांवों को गंगराज ने जैन बसदियों की व्यवस्था के लिए सौंप दिया। जहां शांतला रानी ने हेलेबिडु में तीन सुन्दर जैन मंदिरों, पार्श्वनाथ बसदि, आदिनाथ बसदि तथा शांतिनाथ बसदि, का निर्माण कराया उसने अपने पति के साथ हेलेबिडु में ही विश्व प्रसिद्ध होयसलेश्वर शांतलेश्वर नामक अत्यंत कलात्मक संयुक्त शैव मंदिर का भी लगभग 1121 ई. में निर्माण पूर्ण कराया। यह धर्म-सहिष्णुता न केवल उन दोनों के काल तक ही विद्यमान रही अपितु प्रतीत होता है कि उनके वैष्णव उत्तरा-धिकारियों नरसिंह प्रथम (1143-63 ई.), वीर बल्लाल द्वितीय (1173-1220 ई.) तथा नरसिंह तृतीय (1254-91 ई.) आदि ने भी जैन मंदिरों के निर्माण में सहयोग देकर तथा जैन आचार्यों के संरक्षण द्वारा उसका भली-भांति निर्वाह किया।

शिलालेख क्रम संख्या 82,162 एवं 502 में विष्णुवर्धन को महामंडलेश्वर, त्रिभुवनमल्ल, तलकाडु विजेयता, भुजबल-वीरगंग, विष्णुवर्धन, होयसल देव आदि उपाधियों से विभूषित किया गया है। उसकी अन्य उपाधियां थीं तालकाडुगौन्डा, मालापरोलेगन्ड, गन्डगिरिनाथ, कदव-प्रचंड, सत्यरत्नाकर, विवेकनारायण, सहस्त्र-भीम आदि। अनेक शिलालेखों मे जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है उससे प्राप्त गांवों को उसके अत्यन्त विश्वासपात्र तथा स्नेहपात्र मंत्री एवं सेनापति गंगराज ने जैन बसदियों की व्यवस्था के लिए भेंट कर दिया था।

गंगवाडि की विजय विष्णुवर्धन की महान उपलब्धि थी। इस प्रकार विष्णु-वर्धन ही स्वतंत्र होयसल राज्य का वास्तविक संस्थापक था जिसने अपने को चालुक्यों की आधीनता से मुक्त किया था। उसका शासन काल राज्य-व्यवस्था एवं कलात्मक निर्माण आदि के लिए बहुत प्रसिद्ध रहा है। इन पति-पत्नि द्वारा हेलेबिडु में निर्मित उपरोक्त विशाल होयसलेश्वर-शांतलेश्वर शैव मंदिर विश्व भर में अद्वितीय कलात्मक कृति है। बेलूर में निर्मित चन्केश्वर मंदिर विष्णुवर्धन का एक अन्य विश्व प्रसिद्ध निर्माण उदाहरण है।

अनेक शिलालेखों में विष्णुवर्धन की प्रमुख पत्नि शांतला रानी के विषय में विविध उल्लेख हुए हैं। उनसे उसके सौंदर्य, नृत्य एवं कला प्रेम, जैन धर्म एवं साधुओं में आस्था तथा उसके द्वारा मंदिर निर्माण आदि के विषय में जानकारी प्राप्त होती है। अपनी प्रतिभा, कला प्रेम तथा सौन्दर्य के कारण वह विष्णुवर्धन को सभी रानियों में सबसे अधिक प्रिय थी। अन्य रानियों (सौतों) में मत्तगज के समान उसका उपनाम भी सवतिगंधवारण पड़ गया था। शांतला रानी के पिता मारसिंहय्या शैव थे, एवं माता मचिकब्बे जैन। उसके वंश का विवरण निम्न प्रकार है :



शांतला ने अपने जैन गुरु प्रभाचन्द्र सिद्धांतदेव की प्रेरणा से जैन धर्म के उन्नयन के लिए अनेक कार्य किये। बेलूर के प्रसिद्ध चन्नकेश्वर मंदिर की प्रतिष्ठा के 6 वर्ष पश्चात् उसने श्रवणबेलगोल में सवतिगन्धवारण मंदिर का निर्माण कराया तथा 1123 ई० में वहां तीर्थंकर शांतिनाथ की मूर्ति स्थापित की। शिलालेख क्रमांक 162 एवं 176 में उसकी धर्म परायणता एवं पतिव्रत की भूरि-भूरि प्रशंसा की गई है। शिलालेख क्रमांक 176 में उल्लेख है कि सवतिगन्धवारण बसदि के निर्माण के पश्चात शांतला ने उसकी व्यवस्था के लिए शक संवत 1045 में विष्णुवर्धन की स्वीकृति से मोट्टनविले नामक ग्राम तथा कुछ अन्य भूमि को उसकी व्यवस्था के लिए भेंट कर दिया एवं इस अत्यन्त धार्मिक महिला ने सल्लेखना व्रत द्वारा 1131 ई० में शिवगंगा तीर्थ पर समाधिमरण किया।

अनेक शिलालेखों में नरेश विष्णुवर्धन के निपुण मंत्री एवं वीर सेनापति जैन धर्मावलम्बी गंगराज के वीरोचित गुणों, विष्णुवर्धन के प्रति निष्ठा, धर्म प्रेम, जैन साधुओ के प्रति आदर एवं भक्ति, उसके द्वारा जैन मंदिरों के निर्माण जीर्णोद्धार एवं संरक्षण के विषय में विस्तार से उल्लेख हुआ है। शिलालेख क्रमांक 82, 342 एवं 561 में उल्लेख है कि जिस प्रकार इन्द्र के लिए उसका वज्र, बलराम के लिए उनका हल, विष्णु के लिए उनका चक्र, शक्तिधर के लिए शक्ति, तथा वीर अर्जुन के लिए गांडीव धनुष सहायक रहे हैं उसी प्रकार गंगराज भी विष्णुवर्धन के राज्य संचालन, सैन्य विजय आदि में सहायक रहा। वह विष्णुवर्धन के राज्यकार्य का कुशलता एवं निष्ठा से संचालन करता था। गंगराज ने ही अपने पराक्रम से बल्लाल प्रथम की मृत्यु के उपरांत अन्य भाई उदयादित्य के विरोध का एवं पाण्ड्य एवं सान्तर शत्रुओं का दमन करके विष्णुवर्धन के लिए सिंहासन निष्कन्टक करके उसका राज्याभिषेक कराया था। वह विष्णुवर्धन के दाहिने हाथ सदृश्य था। विष्णुवर्धन के आदेश पर उसने 1117 ई० में तलकाडु से चोलों को निष्कासित किया तथा कर्णाटक में स्थित राजेन्द्र चोल के तीनों सामंतों अदियम, दामोदर

एवं नरसिंहवर्म का पूर्णतया दमन किया तथा गंगवाडि की राजधानी तलकाडु पर अधिकार किया। उसके उपलक्ष्य में विष्णुवर्धन ने प्रसन्न होकर उससे पुरस्कार मांगने के लिए कहा तो उसने गंगवाडि प्रदेश को ही मांगा क्योंकि उस क्षेत्र में अनेक प्राचीन जैन तीर्थ एवं बसदियां थीं। उनमें से अनेकों को राजेन्द्र एवं अधिराजेन्द्र चोल ने नष्ट करवा दिया था। गंगराज ने उन सब का उदारतापूर्वक जीर्णोद्धार एवं संरक्षण किया। गंगवाडि प्रदेश से प्राप्त आय को उसने श्रवणबेलगोल आदि तीर्थों की उन्नति, नवीन बसदियों के निर्माण आदि पर भी व्यय किया।

गंगराज ने कोंगुदेश एवं चेंगरि को विजित किया तथा अनेक प्रबल शत्रुओं व सामंतों का दमन किया। होयसलों ने चालुक्य विक्रम षष्टम के पाड्य सामंत त्रिभुवन-मल्ल पांड्य को पराजित करके उच्छंगी का प्रसिद्ध दुर्ग अधिकार में कर लिया था। प्रतिशोध स्वरूप चालुक्य सम्राट ने स्वयं बारह दुर्द्धर सामंतों सहित होयसल राज्य पर आक्रमण कर दिया। विष्णुवर्धन गंगराज की वीरता से पूर्णतः आश्वस्त था। इस कठिन समय में उसने गंगराज को दक्षिण से बुलाकर चालुक्यों के विरुद्ध युद्ध करने के लिए राज्य के उत्तर में भेजा। वीर रणवांकुरे गंगराज ने चालुक्य सम्राट एवं उनके बारह सामंतों को 1118 ई० में करारी पराजय दी। इन सब विजयों के फलस्वरूप होयसल राज्य स्वतन्त्र तो हुआ ही उसका प्रभाव एवं यश भी खूब फैला तथा वह शक्तिशाली राज्य के रूप में गठित हुआ। गंगराज आदि सेनापतियों के कारण ही विष्णुवर्धन ने कौन्गु, तंगली, नोलम्बवाडी एवं कोवनूर शासकों का भी दमन किया था। उसके राज्य में कौन्गु (सलेम), नङ्गली (कोलार जिले का पूर्वी भाग), तलकाडु (मैसूर जिला) गंगवाडि, नौलम्बवाडी, बनवासी, हनांगल, हुलिगेरे, सलासिंग एवं बेलावोल सम्मिलित थे।

शासन बसदि के द्वार के दाहिनी ओर एक पाषाण खंड पर उत्कीर्ण विस्तृत शिलालेख क्रम संख्या 82 में तथा कुछ अन्य शिलालेखों में यह उल्लेख है कि कन्नेगल के युद्ध में (उपरोक्त) चालुक्य नरेश त्रिभुवनमल्ल परमादिदेव को बारह सामंतों सहित परास्त करने पर विष्णुवर्धन ने प्रसन्न होकर गंगराज से कोई भी इच्छित वस्तु मांगने के लिए कहा किन्तु धर्म-प्रेमी गंगराज ने केवल परम ग्राम भेंट में लेकर उसे उस जिनालय (शासन बसदि) की व्यवस्था के लिए 28 जनवरी, 1128 को अर्पित कर दिया जिसका निर्माण उसकी माता पोचव्वे (पोच्चलदेवी) तथा पत्नी लक्ष्मी द्वारा हुआ था।

विंध्यगिरि पर सुत्तालय के प्रवेश-द्वार के दाईं ओर एक पाषाण शिला पर 12वीं शती के उत्कीर्ण लेख क्रमांक 342 में वर्णन है कि सम्पूर्ण नाडु प्रदेश को विष्णुवर्धन के आधीन करा देने के उपलक्ष में उससे प्राप्त गोविन्दवाडि ग्राम को गंगराज ने गोम्म-टेश्वर मूर्ति आदि की व्यवस्था के लिए दान कर दिया था।

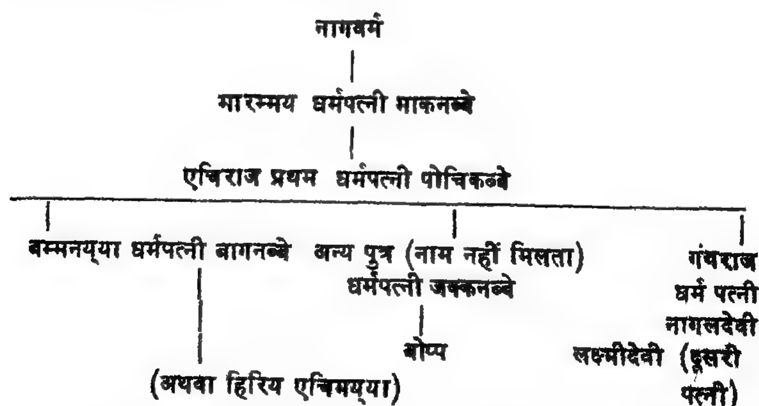
गंगराज का सारा परिवार धार्मिक वृत्ति तथा शुभचन्द्र सिद्धांत देव का शिष्य था।

इनके पिता थे एचिराज एवं माता पोचिकब्बे (पोचब्बे, पोच्चलदेवी)। लेख क्रमांक 82 में यह भी उल्लेख है कि गंगराज ने गंगवाडि में सभी जैन बसदियों (जिनालयों) का जीर्णोद्धार करवाया, गोम्मटेश्वर मूर्ति के चारों ओर परकोटे का निर्माण करवाया तथा जहां-जहां भी गंगराज का प्रभाव रहा और वह जिस स्थान से प्रभावित हुए वहां शिलालेख उत्कीर्ण करवाये। कर्णाटक में अनेक जैन मंदिरों के निर्माण का श्रेय गंगराज को प्राप्त होता है। अन्य शिलालेखों में उसकी धर्म भावना के कारण उसकी तुलना गोम्मटेश्वर मूर्ति प्रतिष्ठायक गंग सेनापति चामुण्डराय से की गई है। गंगराज के गुरु थे मलधारीदेव के शिष्य दर्शनमहोदधि शुभचन्द्रदेव।

अपनी वीरता, पराक्रम, राज्य सेवाओं तथा धर्म भक्ति के कारण गंगराज महासामन्ताधिपति, महाप्रधान, महाप्रचण्ड, दण्डनायक, पूर्णकुंभ, (होयसल नरेश विष्णुवर्धन का राज्याभिषेक कराने के कारण) धर्म स्तंभ, आदि उपाधि से विभूषित हुआ था। विष्णुवर्धन के राज्य को स्वतन्त्र एवं शक्तिशाली बना देने के कारण शिलालेखों में गंगराज को विष्णुवर्धन पोयसल महाराज का राज्योत्कर्ष कर्ता कहा गया है। उसका निधन 1133 ई० में हुआ।

गंगराज की माता पोचब्बे तथा धर्मपत्नी लक्ष्मी धर्मपरायण महिलाएं थीं। लक्ष्मी ने श्रवणबेलगोल में एरडुकट्टे बसदि का निर्माण करवाया तथा पति की माता पोचब्बे की स्मृति में कत्तले बसदि एवं शासन बसदि का निर्माण करवाया। उसने अपने बड़े भाई बूच एवं बहिन देमेति की स्मृति में शिलालेख उत्कीर्ण करवाया तथा जैनाचार्य मेघचन्द्र की स्मृति में लेख अंकित करवाया। लक्ष्मीदेवी का निधन सल्लेखना व्रत द्वारा हुआ। उसकी स्मृति में गंगराज ने श्रवणबेलगोल में शिलालेख उत्कीर्ण करवाया।

शिलालेखों के आधार पर विशेष कर शिलालेख क्रमांक 532 के आधार पर गंगराज की वंशावली निम्न प्रकार से बनती है।



शिलालेख 532 में उल्लेख है कि ऐचिराज द्वितीय दंडनायक ने भी कोपण बेलगुला आदि स्थानों पर अनेक जिनालयों का निर्माण कराया तथा

सन्यासपूर्वक देह त्याग किया। उसके निधन पर गंगराज के पुत्र बोप्प ने निषिध्या रूप में शिलालेख उत्कीर्ण करवाया तथा उनके द्वारा निर्मित जैन बसदि की व्यवस्था के लिए भूमि का दान किया। बोप्प गंगराज की प्रथम पत्नी नागलदेवी से उत्पन्न हुआ था। धर्मपरायण लक्ष्मी गंगराज की दूसरी पत्नी थी। बोप्प एवं ऐचिराज प्रथम धर्मपरायण गंगराज के जीवनकाल में ही प्रसिद्ध दंडनायक थे। गंगराज की मृत्यु के पश्चात उसके भतीजे एचिराज द्वितीय ने राजधानी द्वारसमुद्र में अपने पिता बम्मनय्या की स्मृति में एक विशाल सुन्दर एवं कलापूर्ण द्रोहघरट्ट जिनालय का निर्माण कराया। वह जिनालय विजय-पार्श्वदेव के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

सेनापति बोप्प अपने पिता गंगराज की भांति उदार एवं वीर था। उसने शांतीश्वर बसदि एवं त्रैलोक्यरंजन (बोप्पन चैत्यालय)का निर्माण कराया। वह स्वयं विद्वान था। उसके गुरु थे नयकीर्ति सिद्धांत चक्रवर्ती।

इन शिलालेखों में कहीं भी बम्मनय्या के अतिरिक्त गंगराज के अन्य भाई का उल्लेख नहीं हुआ है। यह स्पष्ट नहीं होता कि जक्कनब्बे बम्मनय्या की दूसरी पत्नी थी अथवा उनके अतिरिक्त भी गंगराज के अन्य भाई थे जिनकी पत्नी यह जक्कनब्बे थी। शिलालेख क्रमांक 135 में गंगराज के बड़े भाई की पत्नी जक्कनब्बे की प्रशंसा की गई है किन्तु उसमें उसके पति का नाम नहीं दिया गया है।

शिलालेखों क्रमांक 544 एवं 571 में चन्द्रमौलि नामक मंत्री का उल्लेख हुआ है। वह शिव भक्त था। शिलालेख 544 में वर्णन है कि हर उसके आराध्य देव थे। शिलालेख क्रमांक 444 से ज्ञात होता है कि अक्कन बसदि का निर्माण उसकी पत्नि अचला देवी (अच्चियक्क) द्वारा हुआ था तथा वीर बल्लाल ने बोम्मणहल्लि ग्राम को उसकी व्यवस्था के लिए भेंट किया था। चन्द्रमौलि ने अपनी जैन पत्नि को धर्मपालन में पूर्ण स्वतन्त्रता दे रखी थी। चन्द्रमौलि संगीत, आगम, तर्क, व्याकरण, उपनिषद, पुराण, नाट्य शास्त्र आदि का विद्वान था।

दंडनाथ पुणिसमय्य विष्णुवर्धन का दूसरा प्रमुख जैन मंत्री तथा संधिविग्रहिक था। उसने कई जिन मंदिरों का निर्माण कराया। उसकी पत्नि जकणब्बे भी धर्मात्मा महिला थी। उसने 1117 ई० में एक पाषाण जिन मंदिर बनवाया। उसी के उत्तर में उस के पति पुणिसमय्य ने मूल स्थान बसदि का निर्माण कराया। यह बसदि विष्णुवर्धन पोयसल जिनालय से सम्बद्ध थी।

दंडनायक बलदेवण्ण विष्णुवर्धन का तीसरा जैन सेनापति था। मरियाने एवं भरतेश्वर भी विष्णुवर्धन के दंडनायक थे। यह दोनों भाई माणिक भंडारी आदि पदों पर नियुक्त थे। उन्होंने भी अनेक जिनालयों का निर्माण कराया। दंडनायक बिट्टीमय्य विष्णुवर्धन का अन्य परमवीर सेनानी था। राजधानी द्वारसमुद्र में विष्णुवर्धन जिनालय का निर्माण उसी के द्वारा कराया गया था। विष्णुवर्धन से जो ग्राम उसे भेंट में मिले थे वह उसने उस मंदिर की व्यवस्था के लिए दान कर दिए थे। उसके गुरु थे श्रीपाल त्रैविद्यदेव।

विष्णुवर्धन की मृत्यु के पश्चात उसकी दूसरी रानी लक्ष्मी से उत्पन्न पुत्र विजय नरसिंहदेव प्रथम का बाल्यकाल में ही राज्याभिषेक कर दिया गया था। उस समय उसकी आयु लगभग 8 वर्ष की थी। होयसल काल में "गरुड" नामक संरक्षक हुआ करते थे जो राजा की रक्षा के लिए अपने प्राण तक दे देने के लिए प्रतिज्ञा बद्ध होते थे तथा राजा की युद्ध आदि में मृत्यु होने से पूर्व उसकी रक्षा के लिए अपना जीवन भी होम कर देते थे। उन्हीं गरुड़ों तथा विष्णुवर्धन के स्वामिभक्त सामंतों के कारण उस बालक को राज्यासीन रहने में कोई कठिनाई नहीं हुई। आमोद-प्रमोद प्रिय तथा मद्यप नरसिंह देव प्रथम राज्य का विस्तार न कर सका। राज्य की रक्षा भी पिता के प्रताप तथा चतुर एवं वीर मंत्रियों एवं सेनापतियों मरियाने व भरत आदि के कारण हुई। नरसिंह प्रथम के देवराज, हुल्ल, शांतियण्ण एवं ईश्वर नाम के चार अन्य वीर अधिकारी जिन भक्त थे। राजा द्वारा सूरतहल्ली ग्राम भेंट में मिलने पर देवराज ने वहां एक जिनालय का निर्माण किया था। हुल्ल नरसिंह देव का प्रसिद्ध प्रधान भंडारी (कोषाध्यक्ष) सर्वाधिकारी एवं महाप्रचण्ड दंडनायक था। उसने वाजिकुल में जन्म लिया था। उसके पिता का नाम था यक्षराज, माता का लोकाम्बिके और पत्नि का पद्मावती। महाराज विष्णुवर्धन के समय से ही वह इस राज्य की सेवा करता आ रहा था। उसके गुरु थे न्यायकीर्ति सिद्धान्त देव। शिलालेख क्रमांक 477, 564 तथा 565 में हुल्ल के परिवार के सम्बन्ध में उल्लेख है। शिलालेख 476 में वर्णन है कि उसने बंकापुर, केलगंगेरी, कोप्पण आदि स्थानों पर अनेक जैन मंदिरों का जीर्णोद्धार कराया। बंकापुर में धोराजिनालय नामक एक जैन मंदिर का भी सम्भवतया उसने जीर्णोद्धार कराया था। शिलालेख क्रमांक 476 में उल्लेख है कि केलगंगेरी के जैन मंदिर का जीर्णोद्धार भी हुल्ल द्वारा हुआ था। हुल्ल ने श्रवणबेलगोल में चौबीस तीर्थंकर बसदि नामक विशाल जिनालय का निर्माण कराया। 1159 ई० में जब नरसिंहदेव विजय के लिए निकला तो इस जिनालय के भी दर्शन किये। हुल्ल की उपाधि "सम्यक्त्व चूडामणि" होने के कारण प्रसन्न होकर नरसिंहदेव ने इस जिनालय का नाम "भव्यचूडामणि" रखा तथा उसके लिए एक ग्राम दान दिया। जब नरसिंह ने उसको सवानेरू, बेक्का एवं कग्गेरी ग्राम भेंट में दिए तो उसने उन ग्रामों को उपरोक्त मंदिर की व्यवस्था के लिए अर्पित कर दिया। बसदि भण्डारी हुल्ल के नाम पर ही भण्डारी बसदि के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें प्रतिष्ठित काले पाषाण में निर्मित चौबीस तीर्थंकरों की मूर्तियां दर्शनीय एवं कलात्मक हैं।

नरसिंह के तीसरे सेनापति शांतियप्पा के गुरु मल्लिषेण पंडित थे। उसने अपनी जागीर करिगुण्ड में एक भव्य जिनालय का निर्माण कराया था जिसके लिए उसने स्वयं तथा उसकी प्रजा ने यथेष्ट दान दिया था। नरसिंह के चौथे सेनापति ईश्वर चमुपति ने मन्दारगिरि स्थित जिनालय का जीर्णोद्धार कराया। 1160 ई. में उसकी पत्नि माचियक्क ने एक जिन मंदिर का निर्माण कराया। सुमनोबाण नरसिंह प्रथम के दरबार में एक जैन अधिकारी था। वह महान जैन कवि जन्न का पिता, एक शिक्षक तथा कवि था। उसने

एक जैन पुराण की रचना की थी। कहा जाता है कि उसने जगद्दला सोमनाथ रचित एक कन्नड चिकित्सा ग्रंथ "कर्णाटक कल्याण कारक" का संशोधन किया था। कीर्ति-वर्मन द्वारा 1125 ई० में कन्नड में लिखित "गोवैद्य" के पश्चात यह दूसरा चिकित्सा ग्रंथ था। नरसिंह का शासन काल (1141 से 1173 ई०) पर्यन्त रहा।

नरसिंह का उत्तराधिकारी हुआ उसका पुत्र वीर बल्लाल द्वितीय (1173-1220 ई०)। वह भी पितामह विष्णुवर्धन की भांति बहुत पराक्रमी तथा महत्वाकांक्षी विजेता था। उसके गुरु थे जैन मुनि वासुपूज्य। उसने अनेक बार जैन तीर्थों की यात्रा की तथा जैन मंदिरों को दान दिया। सन् 1176 के एक शिलालेख के अनुसार राजधानी द्वारसमुद्र में उस वर्ष देवीसेट्टी नामक सेठ ने अपने गुरु बालचन्द्र मुनि की प्रेरणा से वीर बल्लाल नामक जैन मंदिर का निर्माण कराया था। बल्लाल ने उसकी व्यवस्था के लिए कई ग्राम दान में दिए थे। ज्ञात होता है कि 1192 ई० में राजधानी के चार प्रमुख सेठों मारिसेट्टि, कामिसेट्टी, चोरतिसेट्टि, एवं राजसेट्टि ने अपने गुरु श्रीपाल देव की प्रेरणा पर अपने नगरों के तथा अन्य नगरों के व्यापारियों के सहयोग से वहां नगर जिनालय नामक सुन्दर मंदिर का निर्माण कराया। वसुधैक बान्धव रेचिमय्य भी बल्लाल का एक प्रसिद्ध सेनानी था। उस जिन भक्त ने एक सहस्त्रकूट चैत्यालय का निर्माण कराया। 1200 ई० में उसने श्रवणबेलगोल में भी शांतिनाथ बसदि का निर्माण करवाया। मरियाने दंडनायक के पुत्र भरत एवं बाहुबलि भी बल्लाल द्वितीय के जैन सेनानायक थे। उसका एक अन्य सेनानायक बुचिराज संस्कृत एवं कन्नड भाषाओं का कवि तथा विद्वान था। 1373 ई० में बल्लाल के राज्याभिषेक के अवसर पर मारिकलि में उसने त्रिकूट जिनालय बनवा कर उसके लिए ग्राम प्रदान किए थे। बल्लाल के एक अन्य जैन मंत्री एचणा ने 1205 ई० में एक जैन बसदि का निर्माण कराकर दान दिया। बल्लाल के ही एक अन्य जैन मंत्री नागदेव ने जो मंत्री बम्मदेव का पुत्र तथा मुनि नयकीर्ति का शिष्य था, श्रवणबेलगोल में नगर जिनालय का निर्माण कराया। 1195 ई० में उसने पार्श्वनाथ जिनालय में नाट्य भवन भी बनवाया। 1176 ई० में उत्कीर्ण शिलालेख क्रमांक 673 को नागदेव ने ही मुनि नयकीर्ति की निषिध्या रूप में उत्कीर्ण कराया था। बल्लाल द्वितीय के अन्य मंत्री महादेव दंडनाथ तथा उसकी धर्मात्मा पत्नी लोकल देवी ने 1198 ई० में ऐरग नामक जिनालय निर्मित कराया। बल्लाल के एक अन्य सर्वाधिकारी दंडनायक अमृत ने भी अपने तीन भाइयों सहित 1203 ई० में लोक्कुडि में जैन मंदिर का निर्माण कराया। शैव होने के कारण उसने ब्राह्मणों के लिए भी धर्म स्थान निर्मित कराए थे।

बल्लाल द्वितीय जैन विद्वानों का प्रश्रयदाता रहा। उसके दरबार में राजकवि नेमिचन्द्र, महाकवि जन्न, राजादित्य, बंधुवर्म, शैस, शिशुमार आन्नदय्य व मल्लिकार्जुन नामक कन्नड जैन विद्वानों ने कन्नड साहित्य को समृद्ध किया। नेमिचन्द्र ने नेमिनाथ पुराण की रचना की। क्योंकि अधूरा होने के कारण उसे अर्द्ध-नेमिचन्द्र पुराण भी कहा जाता है। कवि जन्न ने 1209 ई० में यशोधर पुराण की रचना की। उसने तीर्थंकर

अनन्तनाथ के जीवन एवं शिक्षाओं के विषय में भी वर्णन किया है। वह उन कतिपय कन्नड़ विद्वानों में से हुआ है जिन्होंने प्रेम एवं स्नेह को भी रचनाओं में प्रमुखता दी है और विविध प्रसंगों में प्रेम के महत्व को स्वीकार किया है। यद्यपि उसकी कृतियां धार्मिक हैं किन्तु उनमें मानवीय पक्ष प्रमुख है। जन्न ने जिस कुशलता के साथ मानवीय भावनाओं एवं उद्देश्यों का चित्रण किया है वह वास्तव में प्रशंसनीय है। उसने जीवन के मूल्यों पर भी बल दिया है। वह नरसिंह द्वितीय का भी राज कवि रहा।

होयसल काल के अनेक कवियों ने शिलालेखों के लिए सुन्दर छन्द रचनाएं की। कवि जन्न की काव्यात्मक प्रतिभा का भी शिलालेखों के लिए उपयोग किया गया। वह एकमात्र महान कवि हुआ है जिसके शिलालेखों में उत्कीर्ण छन्दों को पुस्तकबद्ध किया गया है।

राजादित्य प्रसिद्ध गणितज्ञ हुआ है। उसे गणित एवं काव्य दोनों पर अधिकार था। उसने व्यवहार गणित, क्षेत्र गणित एवं लीलावती नामक गणित ग्रन्थ रचे।

बल्लाल द्वितीय के राज्यकाल में होयसल राज्य की यथेष्ट वृद्धि, विशेषकर उत्तर सीमा में हुई। 1192 ई० में उसने देवगिरि के यादवों पर विजय प्राप्त कर होयसल वंश को उस समय के दक्षिणापथ का एक शक्तिशाली राजवंश बना दिया था। उसने कोंगाल्वों एवं चांगल्वों का दमन किया, उच्छंगी का अविजित समझा जाने वाला दुर्ग भी अधिकार में किया और गिरि-दुर्गमल्ल उपाधि धारण की। 1193 ई० में उसने धारवाड़ जिले में लोक्कुंडी को अपनी अस्थायी राजधानी बनाया। विजयों के फलस्वरूप उसने समस्त भुवनाश्रम, श्री पृथ्वीवल्लभ, महाराजाधिराज, परमेश्वर, परम भट्टारक, प्रताप चक्रवर्ती, यादव चक्रवर्ती, दक्षिण देशाधीश्वर नामक उपाधियां भी धारण कीं। उसकी मृत्यु के पश्चात इस प्रसिद्ध वंश का पतन आरम्भ हो गया था।

बल्लाल द्वितीय की मृत्यु के उपरांत उसका पुत्र नरसिंह द्वितीय 1220 ई० में सिंहासन पर आसीन हुआ। उसके 15 वर्ष शासन करने के उपरांत मृत्यु होने पर उसका पुत्र सोमेश्वर 1235 ई० में शासक बना। 1245 ई० में उसकी मृत्यु हो गई।

सोमेश्वर की प्रथम रानी बिज्जल से उत्पन्न हुआ नरसिंह तृतीय तथा दूसरी पत्नी देवल देवी से उत्पन्न हुआ रामनाथ। उन दोनों के मध्य सिंहासन के लिए विवाद रहा। पारस्परिक समझौते के अंतर्गत कर्णाटक साम्राज्य का पैतृक भाग एवं राजधानी द्वारसमुद्र नरसिंह तृतीय को प्राप्त हुए तथा तमिल देश एवं कोलार देश रामनाथ को मिले। नरसिंह का राज्यकाल 1254 ई० से 1291 ई० पर्यन्त रहा तथा रामनाथ का 1254 से 1297 ई. तक। यह दोनों भाई अनन्य जिनधर्म सेवी रहे। नरसिंह के गुरु माघनन्दि सिद्धांतदेव थे। वे महामण्डलाचार्य कहलाते थे तथा राजगुरु भी थे। 1265 ई. में नरसिंह ने राजधानी के होयसल जिनालय में उपस्थित होकर त्रिकूट-रत्नत्रय-शांतिनाथ जिनालय की व्यवस्था के लिए 15 ग्राम दान में दिये थे, जिसके कारण वह जिनालय नरसिंह जिनालय के नाम से भी प्रसिद्ध हुआ। सन् 1254 में उत्कीर्ण बस्तिहल्लि के

शिलालेख के अनुसार नरसिंह तृतीय ने सेनापति बोप्प द्वारा द्वारसमुद्र में निर्मित पार्श्वनाथ जिनालय का जीर्णोद्धार कराया एवं उसके लिए दान दिया।

कवि चक्रवर्ती अन्न (1180-1260 ई.) उसके प्रधान मन्त्री, मुख्य सेनापति तथा राजकवि थे। महाकवि अन्न ने हेलेबिडु में निर्मित विजय पार्श्वनाथ बसदि का मुख्य मंडप निर्मित कराया तथा अपनी प्रमुख कन्नड काव्य कृति अनन्तनाथ पुराण की प्रतियाँ वितरित करवाईं।

नरसिंह तृतीय के राज्यकाल में मल्लिकार्जुन के पुत्र कोशिराज ने एक कन्नड व्याकरण लिखा तथा एक अन्य विद्वान कुमदेन्दु ने 1275 ई. में कन्नड जैन रामायण की रचना की। रामनाथ भी अनन्य जिनधर्म सेवी था। उसने कोगिली के चेन्नापार्श्व जिनालय के लिए प्रचुर दान दिया।

नरसिंह तृतीय का पुत्र हुआ बल्लाल तृतीय। सम्भवतया उसकी जैन धर्म में आस्था नहीं थी। उसका राज्यकाल 1291 ई. से 1333 ई. पर्यन्त रहा। 1310 ई. में अलाउद्दीन खिजली के सेनापति मालिक काफूर ने उस पर आक्रमण कर राजधानी द्वारसमुद्र को लूटा तथा क्षति पहुंचाई। बल्लाल तृतीय ने उस समय तो विवश होकर आधीनता स्वीकार कर उसको कर देना आम्रभ कर दिया किन्तु कुछ काल उपरांत कर देना बंद कर दिया। सन् 1326-27 में मौहम्मद तुगलक ने भी उस पर भयंकर आक्रमण किया जिसके कारण होयसल राज्यकाल का लगभग अंत ही हो गया। इन मुसलमानों से युद्धों के अन्तर्गत ही 1333 ई. के लगभग उसकी मृत्यु हो गई और होयसल वंश भी लगभग समाप्त हो गया। होयसल शासकों के अधीनस्थ अनेक नरेश भी जैन धर्म के अनुयायी रहे।

भुजबल सान्तार एक अनन्य जिनसेवी था। उसने अपनी राजधानी पोम्बुर्छ में एक जैन बसदि का निर्माण कराकर एक ग्राम सहित उसे अपने गुरु कनक नन्दिदेव को समर्पित कर दिया था। कोंगाल्व तथा चांगाल्व नरेश भी जिनभक्त थे। उन्होंने भी अनेक जैन बसदियों का निर्माण करवाया। 1091 एवं 1100 ई. के मध्य चांगाल्वों ने हुमसोगे नामक नगर में 64 जिन बसदियों का निर्माण कराया था एवं उनको आर्थिक अनुदान दिया था।

होयसल वंश की वंशावली निम्न प्रकार है—

होयसल (पोयसल) — नेतृत्व काल — 1007-1022 ई.

|

विनयादित्य प्रथम — " " " " — 1022-1047 ई.

|

नृपकाम — " " " " — 1047-1060 ई.

|

विनयादित्य द्वितीय — " " " " — 1060-1101 ई.

|

ऐरेयंग-धर्मपत्नि अचला देवी — 1101-1101 ई.

बल्लाल प्रथम 1101-1106 ई.	बिट्टिगदेव (विष्णुवर्द्धन) 1106-1141 ई.	उदयादित्य

नरसिंह प्रथम 1141-1173 ई.

|

वीर बल्लाल द्वितीय 1173-1220 ई.

|

नरसिंह द्वितीय 1220-1235 ई.

|

सोमेश्वर 1235-1245 ई.

नरसिंह तृतीय पुत्र बिज्जल रानी 1254-1291 ई.	रामनाथ पुत्र देवलदेवी 1254-1297 ई.
वीर बल्लाल तृतीय 1291-1333 ई.	विश्वनाथ
बल्लाल चतुर्थ	

होयसल वंश के अधिकतर नरेश जैन धर्म के अनुयायी थे और उन्होंने सक्रिय रूप से जैन मंदिरों एवं संस्थाओं को संरक्षण दिया। उनके काल में दक्षिणापथ में स्थान-स्थान पर निर्मित हुई जैन बसदियों, धर्मतीर्थों, निषिद्याओं, स्मारकों एवं जैन मूर्तियों से विदित होता है कि उस काल में जैन धर्म बहुत लोकप्रिय था और इसके अनुयायी राजवंश से लेकर कृषक वर्ग तक थे। इस धर्म के उदारमय अनुयाइयों के कारण जागीर को दान देने तथा पीड़ितों की सहायता करने की भावना में विशेष वृद्धि हुई।

शशकपुर जहां से पोयसल वंश का प्रादुर्भाव हुआ जैन धर्म का एक प्रमुख गढ़ रहा। अभी भी वहां अनेक जैन बसदियां तथा वसन्तिका (पद्मावती देवी), जो होयसलों की इष्टदेवी रही, का मंदिर विद्यमान है।

सुदत्त मुनि, जिनके प्रयास से पोयसल शक्ति में आया, वर्धमान मुनि भी कहलाते थे। वह कुन्द-कुन्दान्वय के नन्दी संघ से थे। उन्होंने होयसलों के आरम्भिक काल में उनकी शक्ति बढ़ाने में तथा उनके द्वारा सुचारु रूप से प्रशासनिक नियंत्रण में विशेष रुचि ली एवं उनका मार्ग दर्शन किया। इसी कारण होयसल नरेशों की जैन धर्म में बहुत आस्था बनी रही और उन्होंने सदैव इसके प्रति आदर भाव रखा।

मुनि सुदत्त ने सल, विनयादित्य प्रथम एवं नृपकाम का सदैव स्नेह से मार्ग दर्शन किया तथा वह होयसल वंश की राज्य स्थापना एवं उसके सुदृढ़ स्वरूप प्राप्त करने में सहायक रहे।

विनयादित्य द्वितीय के गुरु शांतिदेव, जिनका निधन 1062 ई. में हुआ, न केवल राजगुरु ही थे अपितु राष्ट्र गुरु भी थे। सारा राज्य उनको अत्यन्त सम्मान की दृष्टि से देखता था एवं उनके प्रति श्रद्धा रखता था। जैन शासक होने के नाते विनयादित्य द्वितीय ने सहर्ष अनेक बसदियों, धर्म स्थानों तथा सरोवरों का निर्माण कराया। जिनसेवी ऐरेयंग भी जैन धर्म के प्रति श्रद्धा अर्पित करने में अपने पूर्वजों से पीछे नहीं रहा। देशीय-गण मूलसंघ एवं कुन्दकुन्दान्वय के उस समय के नायक आचार्य परम विद्वान गोपनन्दि उसके गुरु थे। श्रवणबेलगोल में कत्तले बसदि में उत्कीर्ण शिलालेख में उल्लेख हुआ है कि शिथिल हो रहे जैन धर्म को आचार्य गोपनन्दि ने पुनर्जीवित किया। नरेश बल्लाल प्रथम के गुरु चारुकीर्ति मुनि एक प्रसिद्ध वैयाकरण तार्किक (तर्क पटु) तथा चिकित्सा शास्त्र में निपुण थे।

वैष्णव धर्म अंगीकार कर लेने पर भी अपने राज्यकाल पर्यन्त विष्णुवर्धन जैन धर्म का उदार संरक्षक बना रहा तथा उसका जैन धर्म के प्रति आदर रहा। 1125 ई. में उसने जैन मुनि श्रीपाल त्रैविद्यदेव के प्रति व्यक्तिगत आदर व्यक्त किया जो एक महान वादी, महान तार्किक (तर्क के छः अंगों में निपुण) तथा अति विद्वान साधु थे। उनको वादीभ सिंह वादी-कोलाहल एवं तर्क चक्रवर्ती की उपाधियां प्राप्त थीं। भैरवदेव मंदिर के शिलालेख के अनुसार विष्णुवर्धन ने चलयेर में एक जैन स्थल का निर्माण कराया और जैन मुनियों एवं मंदिरों के संरक्षण के लिए आर्थिक व्यवस्था की। 1129 ई. के बेलूर शिलालेख के अनुसार उसने मल्लिजिनालय के लिए भेंट दी थी। 1133 ई. में उसने विजयोपलक्ष में पार्श्वनाथ बसदि की व्यवस्था के लिए एक ग्राम भेंट में दिया था। अपनी राजधानी द्वारसमुद्र में उसने इसी उपलक्ष में एक मूर्ति का नाम विजय पार्श्वनाथ रखा और अपने पुत्र का नाम विजय नरसिंह रखा। विष्णुवर्धन ने अपने पूर्वजों के जैन धर्म तथा अपने द्वारा अंगीकृत शैव धर्म के प्रति समान रूप से आदर रखा।

उसकी प्रमुख रानी शान्तला जैन धर्म की अनन्य भक्त थी। उसके गुरु थे मेघचंद्र

त्रैविद्यदेव के शिष्य सिद्धान्तदेव प्रभाचन्द्र । उसने श्रवणबेलगोल में सवतिगन्धवारण बसदि का तथा हेलेबिडु में तीन जैन बसदियों का निर्माण कराया ।

विष्णुवर्धन के कुछ अति प्रमुख एवं यशस्वी मंत्री तथा सेनापति भी अनन्य रूप से जिनधर्म सेवी थे । उन सब में प्रमुख था गंगराज जिसने श्रवणबेलगोल तथा जिननाथ-पुरम में कई बसदियों का तथा गोम्मटेश्वर मूर्ति के चारों ओर परकोटे का निर्माण कराया था । उसने न केवल अनेक जैन बसदियों का जीर्णोद्धार कराया अपितु अनेक जैन संस्थाओं को जागीर आदि देकर आर्थिक सहायता भी की । उसकी पत्नी लक्ष्मीमती ने सल्लेखना व्रत द्वारा समाधि मरण किया जिसका उल्लेख गंगराज ने अपने द्वारा श्रवणबेल-गोल में उत्कीर्ण शिलालेख में किया है । विष्णुवर्धन के अन्य सेनापति थे बोप्प, पुनिस, मरियाने एवं भरतेश्वर ।

होयसल काल की समृद्धि एवं यश का प्रमुख कारण थे उनके नरेशों के कुशल सेनापति एवं मंत्री । नरसिंह प्रथम का एक अत्यन्त विश्वासपात्र एवं वीर सेनापति तथा भण्डारी (कोषाध्यक्ष) था हुल्ल, जो एक अनन्य जिनसेवी था । उसने श्रवणबेलगोल के प्रसिद्ध एवं विशाल भंडार बसदि जिनालय का निर्माण कराया । उसमें 1159 ई. के लेख से ज्ञात होता है कि गोम्मटेश्वर मूर्ति को प्रणाम करने के पश्चात जब नरसिंह ने इस मंदिर के दर्शन किए तो हुल्ल की उपाधि सम्यक्त्व चूड़ामणि के कारण उस बसदि का नाम भव्य चूड़ामणि रख दिया गया था ।

सोसेवूर (अंगडी) में जहां होयसल वंश आरम्भिक काल में शक्तिशाली रहा अनेक ध्वस्त जैन बसदियों के अवशेष अभी भी विद्यमान हैं । हुलेबेलगोल का ध्वस्त जैन मंदिर सम्भवतया ऐरेयंग के राज्यकाल में निर्मित हुआ था ।

होयसल काल में जैन धर्म के मूलसंघ, नन्दिसंघ, मयूरसंघ, कित्तूरसंघ, कोल्लातूर संघ, नन्दिगण, देशीय द्रमिलगण, कनुरागण, पुस्तकागच्छ, वक्राच्छ तगरिलगच्छ, मन्दीतालगच्छ, इन्दुलिसुरबली, पनासोगेबली आदि का उल्लेख हुआ है । इस काल के शिलालेखों से विदित होता है कि इन शाखाओं के कुछ आचार्य परम तपस्वी एवं विद्वान थे ।

जो व्यक्ति होयसल राज्य की भली प्रकार सेवा करते थे, उनको राजा की ओर से उनकी सेवाओं के उपलक्ष में भूमि का दान मिलता था । उम्बाली, मान्य एवं कोडुगी उस काल के कुछ प्रचलित भूमि दान थे । उनको उपाधियों से विभूषित किया जाता था एवं आभूषण पहिनाए जाते थे । जिनकी राज्य सेवा में मृत्यु होती थी उनकी निषिद्या भी स्थापित की जाती थी ।

उस काल में एक धर्म के शिक्षण केन्द्र में अन्य धर्मावलम्बियों को शिक्षा देने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था । जैन एवं बौद्ध मतों में उच्च एवं निम्न शिक्षा प्रदान करने में कोई भेदभाव धर्म के आधार पर नहीं बरता जाता था । अभिलेखों के आधार पर होयसल

नरेशों, उनके सामन्तों एवं व्यापार श्रेष्ठियों के अतिरिक्त चालुक्य एवं कलचुरि नरेशों ने भी मंदिरों को दान व भेंट आदि दिए थे। होयसल नरेश सदैव जैन शिक्षण केन्द्रों की सहायता करते रहे। विष्णुवर्धन के शैव होने के पश्चात यद्यपि उसमें न्यूनता अवश्य आई किन्तु वह बन्द नहीं हुए। अंतिम होयसल शासक भी जैन केन्द्रों को दान देता रहा। विजयन्तीपुर (बनवासी) उस समय का एक प्रमुख नगर था जिसमें अनेक जैन मंदिर अन्य धर्मावलम्बियों के मंदिरों सहित निर्मित थे। वहां एक जैन मठ भी स्थापित था। चार अन्य मठ शिव, विष्णु, ब्रह्मा तथा बुद्ध को समर्पित थे। होयसल नरेश इतने उदार हृदयी थे कि राजधानी द्वारसमुद्र भी जैन धर्म का एक प्रमुख केन्द्र बन गया था।

विजयनगर साम्राज्य

विजयनगर के शासकों बुक्काराय प्रथम, हरिहर द्वितीय, देवराय प्रथम तथा देवराय द्वितीय के काल के छः शिलालेख श्रवणबेलगोल एवं उसके अंचल में उत्कीर्ण हैं।

विजयनगर साम्राज्य चौदहवीं-सोलहवीं शताब्दी के मध्य दक्षिणापथ का सबसे समृद्ध तथा शक्तिमान साम्राज्य रहा है। होयसल वंश के पतन के पश्चात उसका अभ्युदय हुआ। उस महान साम्राज्य के मूल संस्थापक संगम नामक एक छोटे से सरदार के पांच स्वदेश भक्त, स्वतंत्रता-प्रेमी, साहसी एवं महत्वकांक्षी यदुवंशीय क्षत्री पुत्र थे। संगम और उसके यह पुत्र होयसल राज्य में एक बहुत साधारण श्रेणी के सामंत और सीमांत चौकियों के रक्षक थे। मुसलमान आक्रांताओं द्वारा दक्षिणापथ पर बार-बार आक्रमण किए जाने के कारण तथा वहां के राज्यों को जर्जर कर दिए जाने के कारण इन देशभक्त वीरों का देश-प्रेम तथा स्वाभिमान जागृत हो उठा और देश की रक्षार्थ उन्होंने उन मुस्लिम शासकों का सामना करने के लिए सुगठित एवं विशाल साम्राज्य की स्थापना का साहसिक कदम उठाया। उन्होंने दक्षिणापथ के लगभग सभी सामंतों एवं सरदारों को एकजुट होकर उन आक्रांताओं से मोर्चा लेने के लिए अपने नेतृत्व में आह्वान किया जिसमें वह सफल भी हुए। वह विशेषतया मुसलमान आक्रांताओं द्वारा द्वारसमुद्र (होयसल वंश) तथा वारंगल के पतन से क्षुब्ध थे। आरम्भिक प्रयासों में वह उन मुसलमानों के हाथ बंदी हुए तथा उनको मुसलमान बनाया गया। उनसे मुक्त होने के पश्चात उन्होंने अपना हिन्दू धर्म धारण किया तथा और अधिक उत्साह से संगठन एवं शक्ति संचय में लग गए। 1336 ई० में इन अदम्य साहसी भाइयों ने तुंगभद्रा नदी के उत्तरी तट पर हम्पी को अपना कार्य केन्द्र बनाया तथा उसी को विकसित करने में प्राण-प्रण से जुट गए और वहीं पर विजयनगर राज्य की नींव रखी। 1343 ई० के लगभग विजयनगर अथवा विद्यानगर या विद्यानगरी नामक यह विशाल सुरक्षित तथा सुंदर नगरी बनकर पूर्ण हुई। 1346 ई० में इन भाइयों ने वहां स्वतंत्र विजयनगर राज्य की स्थापना की। ऐसा प्रतीत होता है कि स्वतंत्र राज्य

स्थापना एवं उसके विस्तार के लिए किये गये संघर्षों में तीन भाइयों की तो मृत्यु हो गई और केवल दो भाई हरिहर एवं बुक्काराय ही जीवित रहे। राज्य की वास्तविक स्थापना के प्रथम ज्येष्ठ भ्राता हरिहरराय प्रथम विजयनगर राज्य का प्रथम अभिषिक्त नरेश हुआ। उसका शासनकाल 1346 ई० से 1365 ई० तक रहा। हरिहर का प्रधानमंत्री एवं प्रधान सेनापति जैन धर्मानुयायी बैचप्प था। हरिहर के शासन काल में जिन मंदिरों का निर्माण तथा अनेक धार्मिक कार्य सम्पन्न हुए। उस काल के प्रमुख जैन विद्वानों महान वादी सिंहकीर्ति, बाहुबलि पंडित केशववर्णी, धर्मभूषण भट्टारक तथा अंगरस प्रथम ने अनेक प्रसिद्ध ग्रंथों की रचना की।

हरिहर प्रथम के पश्चात उसका अनुज बुक्काराय प्रथम 1365 ई० में सिंहासनारूढ़ हुआ। उसका सारा जीवन बहमनियों के साथ युद्ध करने में बीता। इन युद्धों में उपरोक्त दंडनायक बैचप्प तथा उसके तीन पुत्र इरूग, मंग एवं बुक्कन प्रमुख सहायक रहे। इरूग ने 1367 ई० में एक जैन मंदिर का निर्माण कराया। 1422 ई० में अंकित शिलालेख क्रमांक 357 में दंडनायक इरूग द्वारा गोम्मटेश्वर मूर्ति की व्यवस्था के लिए बेलगोल ग्राम के दान दिए जाने का उल्लेख है। यह शिलालेख संस्कृत में उत्कीर्ण है। 24 अगस्त, 1368 ई० को उत्कीर्ण शिलालेख क्रमांक 475 में बुक्काराय प्रथम के काल की एक महत्वपूर्ण घटना का उल्लेख किया गया है। इसमें वर्णन है कि राज्य के सभी नाडुओं (जिलों) के जैनों (भव्यों) द्वारा बुक्काराय को यह याचिका दिए जाने पर कि उन पर भक्तों (श्री वैष्णवों) द्वारा अत्याचार किया जा रहा है बुक्काराय प्रथम ने उन दोनों धर्मों के व्यक्तियों एवं आचार्यों को बुलवाकर जैनों एवं श्री वैष्णवों के मध्य हाथ मिलवाकर कहा कि वैष्णव दर्शन और जैन दर्शन में कोई भेद नहीं है और यह फर्मान जारी किया "जैन दर्शन पूर्ववत पंच महाशब्द एवं कलश का अधिकारी रहेगा। यदि किसी प्रकार वैष्णव भक्तों से जैन दर्शन को क्षति पहुंचेगी तो वैष्णव उसको अपने दर्शन की ही क्षति समझेंगे। इस विषय के लेख वैष्णव अपने मंदिरों में अंकित करवा देंगे तथा जैन धर्म की रक्षा करते रहेंगे। श्रवणबेलगोल तीर्थ की रक्षा के लिए वैष्णव अपनी ओर से बीस वैष्णव रक्षक नियुक्त करेंगे। राज्य के जैन एक "हण" प्रति घर के हिसाब से इसके लिए देंगे। रक्षकों को वेतन भुगतान के पश्चात शेष राशि जैन मंदिरों की लिपाई-पुताई एवं मरम्मत पर व्यय की जाएगी। तिरूमले का तातय्य नामक मुखिया इस द्रव्य को एकत्रित तथा व्यय करेगा। जो व्यक्ति उपरोक्त शासनाज्ञा की अवहेलना करेगा वह राजद्रोही, संघद्रोही एवं समुदाय द्रोही समझा जाएगा। यदि कोई तपस्वी अथवा ग्रामाधिकारी इस धर्म में प्रतिघात करेगा तो वह गंगातट पर एक कपिला गऊ और ब्राह्मण की हत्या का दोषी होगा।" जैनों एवं वैष्णवों दोनों ने जैन सेठ बासुवी सेट्टि को अपना सामूहिक संघनायक बनाया। यह शिलालेख बुक्काराय की धर्म सहिष्णुता का भली प्रकार परिचायक है। विजयनगर के शासक यद्यपि हिन्दू धर्मावलम्बी रहे किन्तु बुक्काराय प्रथम की उपरोक्त धर्म सहिष्णु नीति उनका मार्ग प्रदर्शन करती रही।

बुक्काराय के पश्चात उसका पुत्र हरिहर द्वितीय सिंहासन का अधिकारी हुआ। उसके एक दंडनायक इरूग ने 1367 ई० में मैलुपल्लूर में एक जैन मंदिर तथा 1385 ई० में राजधानी में तीर्थंकर कुंथनाथ का पाषाण मंदिर निर्मित कराया। उसके गुरु थे आचार्य सिंहनन्दि। उसका बड़ा भाई मंगप्प और उसका पुत्र इरूगप्प अत्यंत धर्मात्मा व्यक्ति थे। इरूगप्प ने चिंगलपट जिले में त्रैलोक्यनाथ नामक जैन बसदि का निर्माण कराया। वह संस्कृत का भी विद्वान था। उसने नानार्थ रत्नमाला नामक जैन शब्दकोष तैयार किया। हरिहर द्वितीय का शासन काल 1377 ई० से 1404 ई० पर्यन्त रहा। उसके पश्चात उसका ज्येष्ठ पुत्र बुक्काराय द्वितीय (1404-1406 ई.) और उसके पश्चात उसका दूसरा पुत्र देवराय प्रथम (1410-1419 ई०) शासक रहे। देवराय प्रथम की महारानी भीमा देवी जिनभक्त तथा अभिनव चारुकीर्ति पंडिताचार्य की शिष्या थी। उसने 1410 ई० में श्रवणबेलगोल की मंगायि बसदि में तीर्थंकर शांतिनाथ की प्रतिमा प्रतिष्ठित करायी थी। पन्द्रहवीं शती के शिलालेख क्रमांक 476 में इसका उल्लेख किया गया है। तत्कालीन कई शिलालेखों में देवराय प्रथम के जैन धर्म के प्रति उदार रहने तथा जैन गुरुओं का आदर करने के विषय में उल्लेख है।

उसके पश्चात उसका पुत्र देवराय द्वितीय (1419-1446 ई०) राज्य का उत्तराधिकारी हुआ। 1426 ई० में विजयनगर के पान-सुपारी बाजार में उसने भगवान पार्श्वनाथ का एक सुन्दर चैत्यालय निर्मित कराया। उसने अन्य जैन मंदिरों को भी दान दिया। उसका एक सेनापति इरूगप्प तथा महाप्रधान गोप चमूप भी जैन थे। देवराय द्वितीय के काल में हुए प्रसिद्ध जैन विद्वानों भास्कर कल्याणकीर्ति, जिनदेव, विजय, विशालकीर्ति, तथा मल्लिनाथसूरी कोलाचल आदि ने बहुविध रूप में ग्रंथ रचनाएं की। मूडबिद्री के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसने जैन मंदिर के लिए दान दिया। शिलालेख क्रमांक 445 में उल्लेख है कि देवराय द्वितीय की मृत्यु 24 मई, 1446 ई० को हुई। वह अपने समय का अत्यधिक वैभवशाली तथा शक्तिशाली सम्राट था। कुछ विदेशी यात्रियों ने जो उसके राज्यकाल में राजधानी में आए थे विजयनगर की विशालता, सौंदर्य एवं व्यवस्था की बहुत प्रशंसा की है। उसके राज्य का विस्तार कृष्णा से कन्याकुमारी तक था। देवराय द्वितीय को जैन मान्यताओं के अनुसार जैन धर्मावलम्बी माना जाता है।

देवराय द्वितीय के पश्चात् विजयनगर के इस संगम वंश की शक्ति क्षीण होनी आरम्भ हो गयी। उसके पुत्र मल्लिकार्जुन इम्मदि देवराय ने 1447-1467 ई. पर्यन्त राज्य किया। उसके पश्चात वीरूपाक्षराय (1467-78 ई०) और उसके पश्चात पादियाराय (1479-86 ई०) शासक हुए। वीरूपाक्षराय के काल में आठ श्रेष्ठियों ने मूडबिद्री के एक जैन मंदिर के लिए दान दिया था। 1486 में मंत्री नरसिंह सालुव ने पादियाराय को गद्दी से हटाकर विजयनगर की सत्ता ग्रहण की। अपने छः वर्ष के शासनकाल (1486-92 ई०) में उसने राज्य की खोयी प्रतिष्ठा को फिर से प्राप्त किया। उसके पश्चात उसके पुत्र इम्मदि नरसिंह ने 1492 से 1505 ई० तक लगभग शांतिपूर्वक

राज्य किया । उसके एक तुलुव सामंत अरसनायक ने 1505 ई० में उसका वध कर विजयनगर के सिंहासन को अपने अधिकार में कर लिया । 1506 ई० में हुए एक विद्रोह में अरसनायक को सिंहासन से हटाकर नरसिंह भुजबल ने 1506 से 1509 ई० पर्यन्त विजयनगर साम्राज्य पर राज्य किया ।

उसके पश्चात विजयनगर राज्य की सत्ता इतिहास के सर्वाधिक प्रसिद्ध शासक कृष्णदेव राय के हाथों में आयी । उसके राज्यकाल में विजयनगर साम्राज्य अपने चरम उत्कर्ष पर पहुंचा । अनेक विजयों के उपरांत 1520 ई० में रायचूर में उसने बीजापुर के सुलतान इस्माइल आदिलशाह पर विजय प्राप्त की । 1516 ई० में उसने चिंगलपुट जिले की त्रैलोक्यनाथ बसदि को दो ग्राम भेंट किए थे । उसने मूडबिद्री की गुरुबसदि को भी आर्थिक सहायता दी । उसकी राज्य सभा में वादि विद्यानन्द को विशेष आदर था । अनेक विद्वानों पर शास्त्रार्थ में कई बार विजय प्राप्त कर वह अत्यंत प्रसिद्ध हो गए थे ।

कृष्णदेवराय की मृत्यु के पश्चात उसका भाई अच्युतराय 1530 से 1542 ई० तक शासक रहा । उसके पश्चात उसका भतीजा सदाशिवराय 1542 से 1570 ई० तक शासक रहा । राज्य की वास्तविक शक्ति उसके प्रधानमंत्री एवं सेनापति रामराजा (रामराय) सालुव ने हस्तगत कर ली थी । दक्षिण के सब सुलतानों द्वारा तालिकोटा नामक स्थान पर 1565 ई० में लड़े गए युद्ध में रामराजा की पराजय हुई और उसका वध कर दिया गया । विजयनगर सेना के लगभग एक लाख सैनिक हताहत हुए । आक्रमणकारियों ने अल्कापुर जैसी सुंदर नगरी को ध्वस्त कर दिया । ध्वंस, लूटपाट एवं हत्या आदि अपनी पराकाष्ठा को पहुंच गए । लूटमार पांच माह तक जारी रही । विजयनगर जैसे विश्व प्रसिद्ध महान साम्राज्य का पतन तथा विजयनगरी का ध्वंस सारे विश्व के इतिसास की एक प्रमुख घटना बन गयी ।

रामराजा के वध के पश्चात 1570 ई० में तिरुमल राजा बना । विजयनगर का यह चौथा वंश परिवर्तन था । उसके पश्चात उसका पुत्र श्री रंगरायप्रथम (1573-1585 ई०) शासक हुआ । उसने चन्द्रगिरि को अपनी राजधानी बनाया । उसके पश्चात वेंकटराय द्वितीय (1617-41 ई०) ने राज्य किया । उसके पुत्र रंगराय द्वितीय (1642-1684 ई०) तक यह एक छोटा-सा राज्य बनकर रह गया था ।

यद्यपि रामराजा के वंशज चन्द्रगिरि को राजधानी बनाकर लगभग सत्रहवीं शताब्दी के अन्त तक विजयनगर राज्य की परम्परा को चलाते रहे किन्तु समय के प्रहार से यह वंश धीरे-धीरे टूटता रहा । विधि की विडम्बना कि इसके पश्चात इस राज्य के शासक एक छोटे से क्षेत्र पर ही राज्य करते रहे । विजयनगर साम्राज्य का अब लगभग अंत हो चुका था ।

विजयनगर राज्य के काल में जैनों का अपनी सहिष्णुता के कारण जैनेतरों से भी सद्भाव बना रहा । मुसलमानों से लगातार युद्ध रहने के कारण इस काल में विशेष धार्मिक एवं साहित्यिक प्रगति सम्भव न हो सकी । महाराजा अच्युतराय के समय

में 1531 ई० में मुदगिरि के जैन मंदिर को, 1533-34 ई० में तमिलप्रदेश की कुछ जैन बसदियों को, तथा सदाशिवराय के राज्यकाल के आरम्भ में ही तुलुव देश के कुछ जिनालयों को दान दिए गए। विजयनगर के पतन के पांच वर्ष पूर्व 1560 ई० में गेरसप्प के जैन शासक के समय में उसके कई धनी व्यापारियों ने वहां सुंदर जैन मंदिरों का निर्माण कराया। उस समय श्रवणबेलगोल का प्रबंध भी गेरसप्प के उन जैन सेठों द्वारा संचालित हुआ प्रतीत होता है। मूडबिद्री एवं शृंगेरी के जैन मंदिरों को भी उस काल में दान दिए जाने के उल्लेख मिलते हैं। 1539 ई० के लगभग श्रवणबेलगोल की गोम्मटेश्वर मूर्ति का महामस्तकाभिषेक गेरसप्प के शासक सालुवराय के सान्निध्य में हुआ प्रतीत होता है।

उस काल में महान वाद-विजेता विद्यानन्दि ने अनेक शास्त्रार्थ जीतकर जैन धर्म का नाम उज्ज्वल किया। 1559 ई० में कारकल में एक जैन विद्यापीठ स्थापित किया गया। 1586 ई० में वहीं पर वहां के नरेश इम्मडि ने प्रसिद्ध चतुर्मुख बसदि का निर्माण कराया। 1604 ई० में चामुंडराय के वंशज तथा पांड्य नरेश के भाई तिम्मराज ने वेणूर में गोम्मटेश्वर (बाहुबलि) की प्रसिद्ध विशाल मूर्ति स्थापित कराई। 1612 ई० में श्रवणबेलगोल की गोम्मटेश्वर मूर्ति का फिर महामस्तकाभिषेक हुआ। 1646 ई० में कारकल की गोम्मटेश्वर मूर्ति का महामस्तकाभिषेक हुआ।

एक के पश्चात एक सात परकोटों में घिरी हुई, साठ मील के घेरे में, संसार प्रसिद्ध सुन्दर एवं अति समृद्ध विजयनगरी प्राचीन स्थान हम्पी (अथवा प्राचीन नाम पम्पा) में स्थापित की गयी थी। उन दिनों संसार भर में हीरे-पन्नों की इतनी समृद्ध खानें नहीं थी जितनी विजयनगर राज्य में पायी जाती थीं। सोने-चांदी का तो साम्राज्य में कुछ कहना ही न था। राज्य की सम्पत्ति सुन्दर प्रासादों, बाजारों, नाट्यशालाओं तथा मंदिरों के निर्माण में मुक्त हस्त से व्यय हुई थी। हम्पी के जैन मंदिर तथा जैन मंदिरों के अवशेष अभी भी इस समृद्ध नगरी में जैनों के वैभव की मूक कथा कहते हैं। वर्तमान खण्डहरों में वहां के जैन मंदिर ही सर्व प्राचीन हैं। वे ध्वस्त विजयनगर के केन्द्र में स्थित हैं और उनमें से अनेक अनुमानतः विजयनगर साम्राज्य की स्थापना के पूर्व ही वहां निर्मित थे। इस कारण यह माना जाता है कि बहुत पूर्व से ही हम्पी अथवा पम्पा (विजयनगर) एक प्रसिद्ध जैन केन्द्र था।

मैसूर का वोडेयर वंश

मैसूर के वोडेयर राजवंश से संबंधित 6 शिलालेख क्रमांक 352, 485, 551, 501, 350, एवं 324 श्रवणबेलगोल एवं उसके अंचल में प्राप्त हुये हैं। यह संबंधित हैं चामराज सप्तम, दोड्ड-देवराज, चिक्कदेवराज, दोड्ड-कृष्णराज प्रथम तथा कृष्णराज तृतीय से। वोडेयर वंश की स्थापना का श्रेय दो भाइयों यदुराय अथवा विजय एवं कृष्णदेव को दिया जाता है जो सम्भवतया द्वारका से आकर मैसूर के बाह्य भाग में बसे थे। उसी समय के लगभग वहां के एक स्थानीय सरदार चामराज की मृत्यु हो गई

और उसकी पत्नि तथा पुत्री मारनायक नामक अत्याचारी की दया पर आश्रित थीं। इन दोनों भाइयों से सहायता की याचना किए जाने पर उन्होंने मारनायक को मैसूर के निकट करुगहल्लि के निकट युद्ध में मार गिराया। भेंट स्वरूप राजकुमारी का बड़े भाई के साथ विवाह सम्पन्न हुआ और वह 1399 ई. में अपने श्वसुर के राज्य का शासक बना। उसी समय से यह वोडेयर वंश आरम्भ होता है। यदुराय ने 1423 ई. तक अर्थात 24 वर्ष पर्यन्त राज्य किया।

यदुराय के दो पुत्रों में से उसका ज्येष्ठ पुत्र हिरिया चामराज वोडेयर 16 वर्ष की अवस्था में 1423 ई. में गद्दी पर बैठा और उसने सन् 1458 ई. तक 36 वर्ष तक राज्य किया। उसके पुत्र थिम्मराज वोडेयर ने 1458 से 1478 ई. पर्यन्त राज्य किया। उसकी मृत्यु पर चामराज वोडेयर द्वितीय ने 1478 ई. से 1513 ई. तक राज्य किया। उसके पश्चात शासक हुआ उसका पुत्र चामराज वोडेयर तृतीय 1513 से 1552 ई. तक। 1552 में वोडेयर तृतीय के पुत्र थिम्मराज वोडेयर ने सिंहासन ग्रहण किया। उसके पश्चात उसका छोटा भाई चामराज वोडेयर 1571 ई. में गद्दी पर बैठा। उसने केवल 4 वर्ष ही राज्य किया। उसके पुत्र बेट्टदा चामराज वोडेयर ने 2 वर्ष से भी कम राज्य किया। उसके अयोग्य होने के कारण 1578 ई. में राजा वोडेयर को सिंहासन पर बैठाया गया। उसने अपने राज्य की सीमाएं कुछ गांवों से बढ़ाकर 33 ग्रामों तक कर ली। उसने अपनी शक्ति में वृद्धि कर विजयनगर के स्थानीय अधिकारी से श्रीरंगपट्टन को 1610 ई. में अपने अधिकार में कर लिया और उसे मैसूर राज्य की राजधानी बनाया। वह उसी वर्ष वहां रत्नजड़ित सिंहासन पर आरूढ़ हुआ। उसके सब पुत्रों की मृत्यु उसके जीवन काल में ही हो गई थी। 1617 में उसकी मृत्यु होने पर उसका पौत्र चामराज वोडेयर 14 वर्ष की आयु में 1617 ई. में गद्दी पर बैठा। राज्य का कुशलता पूर्वक संचालन एक विश्वस्त एवं शुभ चिन्तक मंत्री करते थे। उनके समय में राज्य का बहुत विस्तार हुआ। चामराज वोडेयर ने 1637 ई. तक राज्य किया। उसके राज्यकाल में कर्णाटक के तीन मुख्य धर्मों शैव, वैष्णव एवं जैन धर्म को समान रूप से संरक्षण प्राप्त हुआ। वह साहित्य प्रेमी, संगीतज्ञ, कुशल घुड़सवार एवं खेलों में निपुण शासक था। 1634 ई. के शिलालेख क्रमांक 352 में उसके शासन का उल्लेख करते हुए वर्णन किया गया है कि श्रवणबेलगोल की गोम्मटेश्वर मूर्ति के दर्शन के पश्चात वोडेयर नरेश ने उस भूमि को बन्धन मुक्त करवाया जो कभी पूर्व में उसकी व्यवस्था के लिए प्रदान की गई थी। 1637 ई. में उसकी मृत्यु होने पर मैसूर का शासक राजा वोडेयर द्वितीय हुआ। 1638 में उसकी मृत्यु होने पर नरसा राजा वोडेयर गद्दी पर बैठा। उसने राज्य का यथेष्ट विस्तार किया जिसके फलस्वरूप राज्य की सीमाएं पूर्व में बीजापुर तक, दक्षिण में सत्य मंगलम तक एवं पश्चिम में कुर्ग तक हो गईं। वह अत्यन्त धार्मिक वृत्ति का साहित्य प्रेमी शासक था। उसने 20 वर्ष तक राज्य किया। 1659 ई. में उसकी मृत्यु होने पर राज्य का शासक दोड्ड देवराज वोडेयर हुआ। पड़ोसी शासकों द्वारा आक्रमण किए जाने पर उसने उन्हें परास्त किया और राज्य की सीमाओं का विस्तार किया। शिला-

लेख क्रमांक 551 में जो उसके शासन से सम्बंधित है जैनेतर विषय का वर्णन किया गया है। लगभग 13 वर्ष तक राज्य करने के पश्चात् 1672 ई. में उसकी मृत्यु होने पर उसका भतीजा चिक्कराज देवराज वोडेयर मैसूर का शासक हुआ। वह एक प्रतापी एवं यशस्वी शासक हुआ है उसने अनेक शत्रुओं को परास्त कर उत्तर में राज्य की सीमा का विस्तार किया। 1686 तक उसकी स्थिति बहुत सुदृढ़ हो गई थी और वह दक्षिणी भारत का एक सबल शासक माना जाने लगा था। 1687 में उसने एक मुगल सामंत कासिम खां से बंगलौर को तीन लाख रुपए में मोल लिया था। जैन धर्मावलम्बी विशालाक्ष पंडित 1673 से 1686 तक उसके प्रधानमंत्री रहे। राज्यकोष में नौ करोड़ मुद्राएं एकत्रित हो जाने के कारण चिक्कदेवराज नवकोटि नारायण नाम से प्रसिद्ध हो गया था। उसने 12000 बुनकरों को बाहर से बुलाकर बंगलौर में स्थापित किया, कावेरी पर बांध का निर्माण कराया, श्रीरंगपट्टन में आयुधों के उत्पादन (तोप, गोले आदि) में वृद्धि की, कई नहरें बनवाईं, जिससे राज्य का काफी भाग सिंचाई के अंतर्गत आया। उसने अनेक मंदिरों का निर्माण कराकर उनकी उचित व्यवस्था के लिए दान दिए। 1704 ई. तक उसने 32 वर्ष तक योग्यतापूर्वक शासन किया। शिलालेख क्रमांक 501 में उल्लेख है कि चिक्कदेवराज ने कल्याणी सरोवर का निर्माण करवाया। इसी कारण शिलालेख क्रमांक 351 में जो दोड्ड कृष्ण वोडेयर के काल का है उसे चिक्कदेवराज कल्याणी कहा गया है। उसके पश्चात 1761 तक उसके उत्तराधिकारियों के शासन-काल में प्रधान सेनापतियों का ही बोलबाला रहा।

चिक्कदेवराज के पुत्र कन्थीरवा नरसराज वोडेयर द्वितीय ने 1704 ई. से 1713 ई. तक राज्य किया। उसके पश्चात 1713 ई. में वोडेयर द्वितीय का प्रतापी पुत्र दोड्ड कृष्णराज वोडेयर शासक हुआ। वह केवल 30 वर्ष की आयु तक 1731 तक ही जीवित रहा। शिलालेख क्रमांक 351 में यह उल्लेख है कि दोड्ड कृष्णराज वोडेयर ने श्रवणबेलगोल की गोम्मटेश्वर मूर्ति की व्यवस्था के लिए आठ ग्राम भेंट में दिए। दोड्ड कृष्णराज के कोई पुत्र न होने के कारण उसकी पत्नि ने अंकनहल्ली के एक सामंत चामराज वोडेयर को गोद ले लिया। प्रधान सेनापति देवराजम्मया ने जून 1734 में राजा तथा उसकी पत्नि को कब्बल दुर्ग में बन्दी बना लिया था। रानी देव-जम्मिमनि ने एक अन्य पुत्र को गोद ले लिया और उसके लड़कपन में ही उसे मुम्मडि कृष्णराज वोडेयर के नाम से सिंहासन पर बैठाया, किन्तु सत्ता प्रधान सेनापति एवं उसके भाई के हाथों में ही रही। 1759 ई. में संरक्षक महारानी ने मुम्मडि कृष्णराज का विवाह कट्टी गोपालराज अर्स की पुत्री लक्ष्मी अम्मन्नि से सम्पन्न कर दिया। इसके पश्चात महारानी की मृत्यु हो गई। महाराज कृष्णराज की भी कुछ समय पश्चात मृत्यु हो गई। उस समय उन्होंने छोड़े 24 वर्षीय विधवा पत्नि, दो पुत्र तथा सशक्त नवाब हैदरअली संरक्षक के रूप में। हैदरअली ने छोटे भाई को केवल चार वर्ष की आयु में ही 1766 में सिंहासन पर बैठा दिया। किन्तु नन्हे शासक की 8 वर्ष की आयु में 1770 में मृत्यु हो गई। रानी लक्ष्मी ने हैदरअली से कहकर अपने बड़े पुत्र बेट्टदा चामराज

वोडेयर को गद्दी पर बैठाया। उसकी भी 1776 ई. में मृत्यु हो जाने पर सिंहासन रिक्त हो गया। नवाब हैदरअली ने एक संबन्धी परिवार के व्यक्ति को खास चामराज वोडेयर के नाम से सन् 1776 ई. में मैसूर के राज्य सिंहासन पर बैठाया। हैदरअली का प्रभाव अब तक राज्य में काफी बढ़ चुका था। वस्तुतः वह स्वयं ही मैसूर राज्य का शासक बन गया था। उसके समय में मैसूर राज्य दक्षिण के एक विस्तृत एवं बहुत शक्तिशाली राज्य का रूप धारण कर चुका था। उसकी शक्ति को कम करने के लिए रानी लक्ष्मी ने मराठों की सहायता ली किन्तु सफलता प्राप्त नहीं हुई। 1782 ई. में लार्ड मैकटिनी एवं महारानी लक्ष्मी के मध्य हैदरअली की शक्ति कम करने तथा राज-परिवार की सत्ता को पुनः स्थापित करने का समझौता हुआ।

संधि के दस दिन पश्चात हैदरअली की मृत्यु हो जाने पर उसके पुत्र टीपू सुलतान ने उसका स्थान लिया। उसने यूरोपियन पद्धति पर शासन व्यवस्था की तथा एक अच्छी सेना का संगठन किया।

1796 में चामराज वोडेयर की मृत्यु के समय उनके पुत्र मुम्मडि कृष्णराज वोडेयर की आयु केवल दो वर्ष की थी। 4 मई, 1799 को अंग्रेजों के विरुद्ध श्रीरंगपट्टन की रक्षा करते हुए टीपू सुलतान की मृत्यु हो गई। मुम्मडि कृष्णराज वोडेयर तृतीय ने 1799 से 1868 तक मैसूर पर राज्य किया। 1827 के शिलालेख क्रमांक 324 में, जो कृष्णराज वोडेयर तृतीय के समय का है, किसी श्रेष्ठी के पितृश्राद्ध के अवसर पर, जो गोम्मटेश्वर मूर्ति के महामस्तकाभिषेक वाले दिन सम्पन्न हुआ था, दान दिए जाने का उल्लेख किया गया है। कृष्णराज वोडेयर तृतीय एक अच्छे लेखक भी थे। वह कन्नड तथा संस्कृत के विद्वान थे। उन्होंने कन्नड साहित्य के विकास पर बहुत ध्यान दिया। उसके पश्चात मैसूर का शासक हुआ चाम राजेन्द्र वोडेयर, जिसने 1868 से 1894 तक शासन किया। उसके पश्चात 1895 से शासक रहे कृष्णराज वोडेयर।

वोडेयर वंश के नरेशों का मैसूर राज्य पर शासनकाल निम्नलिखित तालिका में दिया गया है--

	ईस्वी सन		
यदुराय	1399	से	1423
हिरिया चामराज वोडेयर प्रथम	1423	से	1458
थिम्मराज वोडेयर प्रथम	1458	से	1478
हिरिया चामराज वोडेयर द्वितीय	1478	से	1513
बेट्टदा चामराज वोडेयर तृतीय	1513	से	1552
थिम्मराज वोडेयर द्वितीय	1552	से	1571
बोला चामराज वोडेयर चतुर्थ	1571	से	1576
बेट्टदा चामराज वोडेयर पंचम	1576	से	1578
राजा वोडेयर प्रथम	1578	से	1617

चामराज वोडेयर षष्टम	1617	से	1637
इम्मडि राजा वोडेयर	1637	से	1638
कन्थीरवा नरसा राजा वोडेयर	1638	से	1659
दोड्ड देवराज वोडेयर	1659	से	1672
चिक्क देवराज वोडेयर	1672	से	1704
कन्थीरवा वोडेयर	1704	से	1713
दोड्ड कृष्णराज वोडेयर प्रथम	1713	से	1731
चामराज वोडेयर सप्तम	1731	से	1734
कृष्णराज वोडेयर द्वितीय	1734	से	1766
नान्जराज वोडेयर	1766	से	1770
बेट्टदा चामराज वोडेयम अष्टम	1770	से	1776
खास चामराज वोडेयर नवम	1776	से	1796
कृष्णराज वोडेयर तृतीय	1799	से	1868
चाम राजेन्द्र वोडेयर दशम	1868	से	1894
श्री कृष्णराज वोडेयर चतुर्थ	1895	से	—

इस प्रकार श्रवणबेलगोल एवं उसके अंचल के शिलालेखों में दक्षिण के अनेक प्रसिद्ध राजवंशों का उल्लेख हुआ है तथा उनके विभिन्न शासकों, अधिकारियों एवं श्रावकों द्वारा श्रवणबेगोल में तथा उसके समीपस्थ स्थानों में जिनालय तथा मूर्तियां स्थापित कराने, वहां के जिनालयों के लिए दान देने तथा वहां की व्यवस्था आदि बनाए रखने के विषय में उल्लेख हुआ है।

जहां उड़ीसा में भुवनेश्वर के निकट उदयगिरि पहाड़ी पर हाथी गुम्फा में महाराज खारवेल द्वारा ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में उत्कीर्ण 17 पंक्तियों वाला शिलालेख जैन शिलालेखों में सबसे प्राचीन है एवं जैन इतिहास की दृष्टि से ऐतिहासिक महत्व का है। श्रवणबेलगोल एवं उसके अंचल में अभी तक ज्ञात यह 573+27 शिलालेख एक ही स्थान पर पाये जाने वाले शिलालेखों में संख्या की दृष्टि से सबसे अधिक हैं। कटवप्र (चन्द्रगिरि) पहाड़ी पर छठी अथवा सातवीं शताब्दी का शिलालेख क्रम संख्या 1 तो उन सभी में सबसे अधिक ऐतिहासिक महत्व का है।

७

महान आयोजन महामस्तकाभिषेक

जैन मूर्तियों का अभिषेक बहुत धार्मिक महत्व की बात माना जाता है। प्रत्येक मूर्तिपूजक जैन हृदय की पवित्र भावना के साथ जिन मूर्ति में सिद्ध के गुणों की भाव प्रतिष्ठा करता है और उसकी भावना रहती है कि मूर्ति का मस्तक से अभिषेक कर उसे स्वच्छ रखे और अपने भावों की शुद्धता में भी वृद्धि करे। अभिषेक पूजा का ही अंग बन गया है। जल अथवा दूध से अभिषेक करने पर वह तरल भी गन्धोदक रूप में पवित्र हो जाता है जिसे भक्त श्रद्धापूर्वक मस्तक, आंखों आदि पर धारण करते हैं। प्रतीत होता है कि जैन मूर्तिकला के आरम्भ से ही मूर्ति पूजा के साथ-साथ मूर्ति की स्वच्छता की दृष्टि से उसके अभिषेक का विधान रहा है।

विन्ध्यगिरि पर विशाल गोम्मटेश्वर मूर्ति का निर्माण पूर्ण करा चुकने के पश्चात स्वभावतः सेनापति चामुण्डराय ने मूर्ति की प्रतिष्ठा एवं मस्तक से अभिषेक के लिए भव्य आयोजन का विचार किया। बहुत अधिक व्यय के पश्चात उस अपूर्व मूर्ति का निर्माण पूर्ण हुआ था, अतएव प्रतिष्ठाचार्य गुरु नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती की मंत्रणा से उसके अनुरूप भव्य आयोजन करने का निश्चय किया गया। मूर्ति को चमकदार बनाने के लिए पहले पाषाण चूर्ण का मिश्रण लगाकर काष्ठ के गुटकों से उसका घर्षण किया गया एवं मार्जन किया गया। उसके पश्चात खनिजों एवं वनस्पतियों से निर्मित लेप को बार-बार मूर्ति पर लगाकर क्रमिक कई दिवस तक नारियल की जटाओं एवं रज्जुओं से उसे घिसते रहे। अन्त में नारियल के ही खोपरे से प्रतिमा के एक-एक अवयव को सहस्त्रों बार घिसने पर उस कठोर पाषाण में वह स्निग्धता तथा चमक उत्पन्न हुई जो एक सहस्त्र वर्ष पश्चात भी मूर्ति को उसका मौलिक रूप दिए हुए है। मूर्ति की चमक जितनी बढ़ती जाती थी चामुण्डराय का मन उतना ही उल्लसित होता जाता था। कहा जाता है कि शतशः कलाकारों ने लगभग एक मास तक इस कार्य के लिए अहर्निश श्रम किया था।

चामुण्डराय की प्रार्थना पर गुरुदेव अजितसेनाचार्य ने प्रतिष्ठा एवं महामस्तकाभिषेक का शुभ मुहूर्त शोधन किया। जैसे-जैसे प्रतिष्ठा का दिवस वि. सं. 1038 चैत्र शुक्ला पंचमी, रविवार, मृगशिरा नक्षत्र, कुम्भ लगन, सौभाग्य योग्य, संवत्सर विभव तदनुसार रविवार 13 मार्च, 981 ई० निकट आता रहा बहुविध कार्य संयोजन भी

गतिपूर्वक होने लगे, वृद्धिगत उत्साह एवं उल्लास के मध्य। मूर्ति के सामने कुछ नीचे की ओर एवं उत्तुंग तथा सुन्दर स्तम्भ पर ब्रह्मदेव की मूर्ति स्थापित कराई गई, जिनकी कल्पना समस्त कर्णाटक में एक निरन्तर जागरूक और सतत सन्नद्ध एवं बलिष्ठ यक्ष के रूप में की गई है। दूर-दूर तक के साधर्मी जनों को भी निमंत्रण भेजे गए। बड़ी संख्या में ग्रामों-नगरों तथा दूर देशान्तरों से बहुसंख्यक यात्री उस अपूर्व महोत्सव की शोभा देखने पधारे। छोटा सा बेलगोला एक सुन्दर नगर का रूप धारण करता जा रहा था। इतने अधिक यात्री पधारे हैं तो उनके आवास, भोजन आदि की समुचित व्यवस्था तो होनी ही चाहिए। इस भावना से चामुण्डराय एवं उनका परिवार तथा स्नेहीजन उत्साह से सब व्यवस्थाओं का संचालन कर रहे थे।

मुनिनाथ आचार्य अजितसेन, जो बंकापुर स्थित श्रमण संस्कृति एवं जैन विद्याओं के प्रसिद्ध केन्द्र के कुलगुरु थे, अपने संघ सहित पधारे। अनेक अन्य दिगम्बर आचार्य व मुनि, आर्यिका व क्षुल्लक एवं त्यागी तथा गंगराज राचमल्ल चतुर्थ, उनके राज-परिवार के सदस्य तथा अनेक राजपुरुष एवं सामंत भी महोत्सव में पधारे। महामात्य चामुण्डराय महोत्सव को विशाल स्तर पर आयोजित कर रहे थे, अपने हृदय की श्रद्धा एवं उल्लास को व्यक्त करने के लिए तथा साथ ही साथ अपने देव को अधिक से अधिक लोक प्रसिद्धि देने के लिए, उनको उनके लोक पूजित रूप में देखने के लिए।

प्रतिष्ठा एवं महाभिषेक वाले दिवस नर-नारियों का विशाल समूह वहां उपस्थित था। पत्र-झालरों, वल्लरियों तथा पुष्पों आदि से सजे विन्ध्यगिरि पर्वत की शोभा अपूर्व थी। मस्तक से अभिषेक करने के लिए ऊंची एवं चित्रित पैड़ बांधी गयी थी। प्रतिष्ठा के विधिविधान आचार्य जिनसेन के सान्निध्य में आरम्भ हुए। पंचामृत से पूर्ण 1008 कलश गोम्मटेश्वर मूर्ति के सम्मुख सजाए गए थे। पंडिताचार्य नेमिचन्द्र के पवित्र मंत्रोच्चार के साथ कलशों से पंचामृतधारा चामुण्डराय, उनकी पत्नी तथा पुत्र एवं पुत्र-वधु द्वारा मूर्ति के मस्तक पर प्रवाहित की गयी। किंवदंती है कि लगातार एक के पश्चात एक कलश से अभिषेक करने पर भी सर्वांग अभिषेक न हो पाया। कटि प्रदेश के नीचे तरल पहुंच ही नहीं पा रहा था। दुखित हृदय चामुण्डराय ने कातरता से गुरु की ओर देखा, उनके चरणों में गिरकर उनसे कुछ उपाय करने के लिए प्रार्थना की। सम्भवतया इस महान आयोजन के कारण चामुण्डराय का हृदय अभिमान से भर गया था जिसके कारण सर्वांग अभिषेक सम्भव नहीं हो पा रहा था। गुरु को उसका आभास होने लगा था। उन्होंने किसी धर्मात्मा व सरल हृदयी से अभिषेक करने के लिए सुझाव दिया। एक क्षीणकाय बुढ़िया वहां प्रतिदिन आती थी—अनाहूत ही-अल्प दुग्ध लेकर एक गुल्लकायी फल के काष्ठ खोल में। किन्तु वह बिना अभिषेक किए ही लौट जाती थी। उसकी अतीव निर्धनता उसकी असीम भक्ति एवं श्रद्धा में आगे बढ़कर अभिषेक करने में व्यवधान बन रहे थे। कोई उस कृशकाय जीर्ण निर्धन बुढ़िया की ओर उस विशाल महोत्सव में देखता भी तो कैसे। सर्वांग अभिषेक न होने पर आचार्य अजितसेन के सुझाव पर उसका भक्तिभाव से प्रतिदिन आना अब छिपा न रह सका।

उस से मूर्ति के मस्तक से अभिषेक करने के लिए अनुरोध किया गया। सब के आश्चर्य की सीमा न रही कि मस्तक से चरण तक सर्वांग अभिषेक पूर्ण हुआ उसके किंचित दुग्ध से ही। अति हर्षित मन चामुण्डराय ने उस वृद्धा के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करने के लिए गुल्लिकायज्जी नामक उसकी पाषाण प्रतिमा ठीक मूर्ति के सामने स्थापित करवा दी।

प्रतीत होता है कि इस विशाल मूर्ति के मस्तकाभिषेक की जिस परम्परा का आरम्भ चामुण्डराय एवं गुरु नेमिचन्द्र ने 981 ई० में किया वह आने वाली पीढ़ियों के शिष्यों द्वारा 12 वर्ष अथवा न्यूनाधिक अन्तराल से अनवरत प्रचलित रही है। यह मूर्ति बहुत ऊंची है, अतएव मस्तकाभिषेक के लिए पैड़ बंधवाना तथा अन्य आयोजन करना श्रम एवं व्यय साध्य हैं। इसी कारण इस मूर्ति का प्रतिदिन मस्तक से अभिषेक करना सम्भव नहीं है। दैनिक अभिषेक केवल चरणों का ही होता है। मस्तकाभिषेक 10,12 अथवा 18 वर्ष आदि के अन्तर से निश्चित गृह योग में विशेष आयोजन द्वारा यथेष्ट व्यय करने पर ही सम्भव होने के कारण कालान्तर में उसका नाम महामस्तकाभिषेक प्रचलित हुआ। महामस्तकाभिषेक संज्ञा निस्संदेह अनुरूप है इस प्रतिमा की विशालता, दिव्यता एवं कला विलक्षणता के तथा इसके लिए आयोजित भव्य आयोजनों के। इस महोत्सव में अनेक धर्म गुरु, पुरोहित तथा बड़ी संख्या में तीर्थयात्री भाग लेते हैं।

महामस्तकाभिषेक सम्बन्धी उत्सव कई दिन तक चलते हैं। अभिषेक के निर्धारित दिवस से कई दिन पूर्व से आरम्भ होकर उसके पश्चात भी कई दिन तक। इस अवधि में अनेक धार्मिक विधियां तथा पूजाएं सम्पन्न होती हैं एवं शोभा यात्राएं निकलती हैं। न केवल कर्णाटक प्रान्त अथवा दक्षिण भारत के ही अपितु देश के विभिन्न क्षेत्रों से बड़ी संख्या में तीर्थयात्री श्रवणबेलगोल आकर इनमें भाग लेते हैं।

महामस्तकाभिषेक के दिन गोम्मटेश्वर मूर्ति के सामने का आंगन ताजे कटे हुए धान से ढक दिया जाता है और उस पर पवित्र ज्यामितिक मंडल में 1008 कलश स्थापित किए जाते हैं। प्रत्येक कलश के मुंह पर एक नारियल रखा होता है और रंगीन सूत और आम के हरे पत्ते बंधे होते हैं।

ऐसा अनुमान किया जाता है कि अब तक इस मूर्ति के सम्भवतया 72 महामस्तकाभिषेक हो चुके हैं। उन सभी का क्रमबद्ध एवं अविछिन्न विवरण अभी तक प्राप्त नहीं है। महामस्तकाभिषेक के सम्बन्ध में अभी तक ज्ञात सबसे आरम्भिक सामग्री का स्रोत है विन्ध्यगिरि पर निर्मित सिद्धर बसदि के स्तम्भ पर 1398 ई० में उत्कीर्ण विस्तृत शिलालेख क्रमांक 360 जिसमें उल्लेख है कि उस वर्ष पंडिताचार्य द्वारा महामस्तकाभिषेक सम्पन्न कराए जाने से पूर्व भी सात महामस्तकाभिषेक हो चुके थे।

कवि पंचबाण ने उल्लेख किया है कि 1612 ई० में धर्माध्यक्ष शांतिवर्णी द्वारा महामस्तकाभिषेक सम्पन्न हुआ था। अन्य अभिलेखों में उल्लेख है कि 1612, 1659, 1677, 1800, 1825, 1827, 1871 और 1887 ई० में भी

यह आयोजन हुए। अनंत कवि के उल्लेख के अनुसार 1677 ई० का महामस्तकाभिषेक मैसूर नरेश चिक्कदेवराज वोडेयर के जैन मंत्री विशालाक्ष पंडित द्वारा उनके अपने व्यय पर सम्पन्न हुआ था। कवि शान्तराज पंडित के अनुसार 1825 ई० के समीप मैसूर नरेश कृष्णराज वोडेयर तृतीय ने महामस्तकाभिषेक सम्पन्न कराया था।

मैसूर नरेश इस गोम्मटेश्वर मूर्ति की भव्यता से सदैव प्रभावित रहे हैं। समय-समय पर दक्षिण के अनेक नरेशों ने इस मूर्ति की रक्षा एवं व्यवस्था के लिए ग्राम आदि भेंट किए हैं। जिन मैसूर नरेशों अथवा मंत्री द्वारा महामस्तकाभिषेक सम्पन्न होने का उल्लेख मिलता है वह निम्न प्रकार है :

चिक्कदेवराज वोडेयर	1612 ई०
दोड्ड देवराज वोडेयर	1659 ई०
मंत्री विशालाक्ष	1677 ई०
मम्माडि कृष्णराज वोडेयर	1800 ई०
कृष्णराज वोडेयर तृतीय	1825 ई०

इसके पश्चात फिर सन 1827, 1871, 1887, 1900, 1910, 1925 एवं 1940 में मैसूर के नरेशों के संरक्षण में महामस्तकाभिषेक होने के उल्लेख मिलते हैं। सन् 1871 के मस्तकाभिषेक का वर्णन इंडियन एन्टीक्वेरी (भाग दो) में किया गया है। उसी समय मूर्ति के विभिन्न अंगों का नाप भी लिया गया था जो उसमें दिया गया है। सन् 1887 का महामस्तकाभिषेक कोल्हापुर के दिगम्बर जैन मठ के स्वस्ति लक्ष्मीसेन भट्टारक ने 14 मार्च को लगभग 30 हजार रुपये के व्यय पर कराया था। उसमें सारे भारत से लगभग 20 हजार यात्री एकत्रित हुए थे। एपिग्राफिया कर्नाटिका (भाग दो 1923) में उसका रोचक ढंग से वर्णन किया गया है। प्रतिमा के समक्ष ताजे कटे हुए धान बिछे हुए थे जिन पर रंग पुते 1008 मिट्टी के जल भरे घड़े रखे हुए थे। मूर्ति के सन्निकट बंधी पैड़ पर अनेक पुरोहित दूध, दही, घी आदि से भरे कलश हाथों में लिए खड़े थे। कोल्हापुर के भट्टारक के संकेत पर उन कलशों द्वारा एक साथ आरम्भिक अभिषेक हुआ। मुख्य मस्तकाभिषेक इन 1008 घड़ों द्वारा मध्यान्ह 2 बजे हुआ। भक्तगण श्रद्धा एवं हर्षसूचक जय-जय महाराज, अहा-अहा ध्वनि कर रहे थे। अंतिम अभिषेक में अर्चना रूप में जल, नारियल के जल, केले, गुड़, घी, शक्कर, बादाम, खजूर, खसखस, दूध, दही, चन्दन, चांदी एवं सोने से बने फूल व उनके साथ नवरत्न व चांदी के सिक्कों का उपयोग किया गया। सन् 1900, 1910 एवं 1925 में हुए महामस्तकाभिषेक के समय लगभग 30-30 सहस्र तीर्थयात्री एकत्रित हुए। इन अवसरों पर मैसूर के महाराज (श्री कृष्णराज वोडेयर) नंगे पांव भक्तिपूर्वक विन्ध्यगिरि पर चढ़ते थे, सम्पूर्ण पूजा देखते थे तथा अभिषेक निधि में दान भी देते थे। महोत्सव में उपस्थित होना और पूजा में भाग लेना मैसूर के वोडेयर राजघराने की प्रचलित परम्परा थी। सन् 1659 में हुए अभिषेक के वर्णन में इसका उल्लेख हुआ

है। यह उल्लेखनीय है कि मैसूर के महाराज को महामस्तकाभिषेक के अवसर पर सर्व-प्रथम पूजा करने का परम्परागत अधिकार था। यह राजपरिवार की इस मूर्ति के प्रति श्रद्धा तथा आदर को भी प्रदर्शित करता है।

सन् 1940 में हुए महामस्तकाभिषेक में देश के अनेक भागों से लगभग दो लाख यात्री श्रवणबेलगोल में एकत्रित हुए थे। उस समय अभिषेक के लिए 1008 कलशों में से 51 स्वर्ण कलश, 300 रजत कलश, 300 जर्मन सिल्वर कलश और 357 पीतल के कलश निश्चित किए गए थे जिनसे भक्तों द्वारा न्यौछावर से 75 हजार रुपए प्राप्त हुए थे। सर्वाधिक सम्मानित प्रथम स्वर्ण कलश से बोली में 8001 रुपए प्राप्त हुए थे।

सन् 1953 में हुए महामस्तकाभिषेक के समय 1008 कलशों में से 900 रजत कलशों में से प्रत्येक कलश लेने के लिए 101 रुपए की राशि निश्चित की गई थी और शेष 108 स्वर्ण कलशों की सार्वजनिक बोली हुई थी। चार चतुष्कोण कुम्भ तथा पुष्प वृष्टि यह भी प्रथम बार बोली के लिए सम्मिलित किए गए थे। बोलियों द्वारा कुल लगभग 1, 60, 000 रुपयों की राशि प्राप्त हुई थी।

सन् 1967 का महामस्तकाभिषेक स्व. साहू शांति प्रसाद जी के योगदान के कारण विशेष उल्लेखनीय रहा। जैन धर्म, कला पुरातत्व एवं संस्कृति में उनकी गहरी रुचि एवं आस्था थी। समस्त भारत में जैन मंदिरों एवं मूर्तियों की रक्षा एवं उद्धार तथा उनकी प्रभावना के लिए जो नवीन दृष्टि साहू साहब ने दी वह आने वाले काल के लिए दिशा निर्देश बन गई है। जैन शिल्प एवं पुरातत्व को वह समस्त देश की धरोहर एवं गौरव मानते थे। इस मूर्ति की प्रसिद्धि एवं महत्व के अनुरूप उन्होंने महामस्तका-भिषेक जैसे विशिष्ट आयोजन को और अधिक गौरवपूर्ण बनाने के लिए प्रयत्न किया। कई लाख यात्रियों ने उस अभिषेक में भाग लिया। उस महामस्तकाभिषेक के 1008 कलशों को भी स्वर्ण एवं रजत कलशों में विभक्त किया गया था। प्रथम स्वर्ण कलश की बोली से 47,500 रुपए प्राप्त हुए थे। हेलीकाप्टर द्वारा मूर्ति पर रंगीन फूलों के साथ कुंकुम एवं केसर वृष्टि भी की गई थी।

युग पुरुष, महान मनीषी, जैन संस्कृति के अनन्य पोषक आचार्य विद्यानन्द महाराज की सूझ अपूर्व है। इस मूर्ति की समस्त देश तो क्या विश्व भर में प्रसिद्धि हो तथा इसके माध्यम से जैन संस्कृति एवं विचारधारा का अधिक प्रसार हो यह विचार उनके मन में आया। उन्होंने इस विचार का सूत्रपात किया कि मूर्ति की प्रतिष्ठा को सन् 1981 में एक सहस्र वर्ष पूर्ण होने के अवसर पर महामस्तकाभिषेक का एक अति भव्य चिरस्मरणीय आयोजन किया जाए। कार्य योजना बनाते समय उनकी दृष्टि से यह बात छिपी नहीं रही कि समस्त देश के जैनों एवं पर्यटन प्रेमियों का जैसा लगाव इस मूर्ति से तथा उसके कारण श्रवणबेलगोल से है उसको माध्यम बनाकर केवल उस मूर्ति की ही विशेष प्रसिद्धि नहीं, अपितु उस क्षेत्र की पुरानी बसदियों की तथा निर्धन

निवासियों की भी कायापलट की जा सकेगी। इस कार्य के लिए उन्होंने समस्त देश की संगठन शक्ति का नेतृत्व किया। उनके विद्वान शिष्य श्रवणबेलगोल मठ के स्वस्ति चारूकीर्ति पंडिताचार्य इस योजना में उनके विशेष सहायक बने।

सन् 1975 में सम्पन्न हुए भगवान महावीर के 2500 वे निर्वाण महोत्सव के अवसर पर देश में धर्म चक्र का प्रवर्तन हुआ था। वैसी ही एक योजना बनाई गई इस महामस्तकाभिषेक के अवसर पर जन मंगल कलश के रूप में। 8 फीट ऊंचे, 7 फीट व्यास एवं 21 फीट परिधि के विशाल ताम्र-कलश को एक विशाल वाहन में स्थापित किया गया। देश में इस कलश के प्रवर्तन का आरम्भ हुआ दिल्ली में प्रधानमंत्री द्वारा 29 सितम्बर, 1980 को उद्घाटित एक भव्य समारोह द्वारा। उन्होंने दीप जलाकर इस कलश की देश में यात्रा के लिए तथा सहस्राब्दि समारोहों के लिए मंगल कामना की। राजधानी के मुख्य बाजारों से इसकी भव्य शोभा-यात्रा निकाली गयी। देश के अनेक नगरों एवं स्थानों से होता हुआ यह मंगल कलश महामस्तकाभिषेक के लिए 20 फरवरी, 1981 को श्रवणबेलगोल पहुंचा। योजना को बनाते समय यह विचार में रखा गया था कि समूचे भारत के जन-जन में जैन धर्म के मानव कल्याणकारी सिद्धान्तों को फैलाते हुए भक्ति गीतों एवं प्रार्थना स्वरों को गुंजाते हुए तथा नैतिक मूल्यों की पुर्नस्थापना करते हुए यह मंगल कलश हमारी उदात्त भावनाओं का प्रतीक स्वरूप बनेगा। जहां-जहां से यह मंगल कलश निकला वहां विभिन्न प्रकार के कार्यक्रम आयोजित किए गए, जल यात्राएं एवं शोभा यात्राएं निकाली गई तथा कलशों की बोलियां लगाई गई। श्रद्धालु भक्तों ने अर्चना रूप में विविध भेंट भी की। उससे प्राप्त सम्पूर्ण राशि श्रवणबेलगोल क्षेत्र के कल्याणार्थ अर्पित की गई।

सन् 1967 तक महामस्तकाभिषेक के समस्त आयोजन का उत्तरदायित्व कर्णाटक सरकार पर रहता था। सन् 1967 में श्रवणबेलगोल जैन मठ के भट्टारक स्वस्ति चारूकीर्ति जी की अध्यक्षता में श्रवणबेलगोल दिगम्बर जैन मुजराई संस्था प्रबन्धकारिणी समिति स्थापित कर देने के पश्चात यह निश्चित किया गया कि सन् 1967 ई० से महामस्तकाभिषेक के आयोजन का उत्तरदायित्व इस समिति पर रहेगा, राज्य सरकार नागरिक सुविधाएं यातायात व सुरक्षा सम्बन्धी सुविधाएं प्रदान करती रहेगी।

सन् 1967 के पश्चात अगला महामस्तकाभिषेक सन् 1979 में सम्पन्न होना था किन्तु मूर्ति की स्थापना के एक सहस्र वर्ष 1981 में पूर्ण होने के कारण यह निश्चित किया गया कि यह अभिषेक शुभ मुहूर्त में फाल्गुन कृष्ण 4 विक्रम सम्वत 2037 (वीर निर्वाण संवत 2507) तदनुसार रविवार, 22 फरवरी, 1981 को सम्पन्न किया जाए। इसके लिए 9 फरवरी से लेकर 15 मार्च तक पांच सप्ताह के लिए विविध कार्यक्रमों को निश्चित किया गया। महामस्तकाभिषेक सम्बन्धी कार्यक्रमों का

शुभारम्भ हुआ 8 फरवरी को मंगल पूजा तथा कर्नाटक के मुख्य मंत्री श्री गुंडूराव द्वारा जैन ध्वजारोहण तथा विशाल चामुण्डराय मण्डप में उद्घाटन भाषण द्वारा। केन्द्रीय संचार मंत्री द्वारा भगवान बाहुबली का एक रुपए का विशेष डाक टिकट भी इस अवसर पर जारी किया गया।

21 फरवरी को देश की प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी ने श्रवणबेलगोल पधारकर हेलीकाप्टर द्वारा गोम्मटेश्वर मूर्ति पर पुष्प वर्षा की। उन्होंने भगवान बाहुबली के चरणों में समर्पित करने के लिए चांदी चढ़ा एक नारियल भेंट किया। उनके साथ थे श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिए कर्णाटक के मुख्यमंत्री श्री गुंडुराव, केन्द्रीय मंत्री श्री प्रकाश चन्द सेठी, श्री वीरेन्द्र पाटिल तथा राज्य सभा सदस्य श्री जैनेन्द्र कुमार जैन। लगभग एक लाख व्यक्तियों की विशाल जनसभा को सम्बोधित करते हुए प्रधानमंत्री ने भगवान बाहुबली की प्रशंसा करते हुए भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित अहिंसा धर्म की सराहना की। उन्होंने भारतीय साहित्य में जैन धर्म के योगदान की प्रशंसा की। उन्होंने इस अवसर पर प्रकाशित अनेक स्मारिकाओं, विशेष अंकों तथा पुस्तकों का भी विमोचन किया।

रविवार, 22 फरवरी, 1981 मूर्ति की प्रतिष्ठा के 1000 वर्ष पूर्ण होने के उपलक्ष्य में महामस्तकाभिषेक सम्पन्न होने के कारण एक ऐतिहासिक दिवस बन गया है। इस महान समारोह को देखने के लिए कई दिन पूर्व से ही यात्रियों का श्रवणबेलगोल में तांता लग गया था। लगभग 3-4 लाख व्यक्तियों ने उस अद्भुत घटना को अपनी आंखों से घटित होते हुए देखा अत्यंत विस्मय एवं आल्हाद के साथ। 21 फरवरी की रात्रि से ही दर्शक सामने की चन्द्रगिरि पहाड़ी पर एवं अन्य स्थानों पर अपने स्थान सुरक्षित करने के विचार से आकर बैठ गए थे। 22 फरवरी की प्रातः स्थिति यह थी कि चारों ओर जन समुदाय ही दिखाई देता था। अपूर्व था वह दिवस श्रवणबेलगोल के इतिहास में जब अब तक का अधिकतम जन समुदाय वहां एकत्रित हुआ था।

विन्ध्यगिरि पहाड़ी की चोटी पर गोम्मटेश्वर मूर्ति के समक्ष अभिषेक महोत्सव को देखने के अधिकारी थे मुनिजन, आर्यिकाएं, क्षुल्लक तथा केवल वे धनाढ्य व्यक्ति जिन्होंने मंहगे कलशों को खरीदा था और निश्चित संख्या में उनके परिवार के सदस्य तथा विशिष्ट व्यक्ति निमंत्रण पत्र धारक। लगभग 3000 व्यक्तियों ने जिनमें लगभग 100 मुनि, क्षुल्लक तथा आर्यिकाएं, अनेक विदेशी मेहमान, 300 छायाकार तथा पत्रकार, समस्त भारत की जैन जाति के प्रमुख व्यक्ति तथा कर्णाटक राज्य के प्रमुख व्यक्ति सम्मिलित थे महामस्तकाभिषेक समारोह को प्रतिमा के सामने बने खुले प्रांगण से तथा मूर्ति के तीन ओर बने ऊंचे मंच से आत्म विभोर होकर देखा। महिलाओं एवं पुरुषों ने प्रातः 5 बजे से ही पहाड़ी पर बनी 650 सीढ़ियां चढ़कर मूर्ति तक पहुंचना आरम्भ कर दिया था। प्रत्येक वर्ग के व्यक्तियों को उनके लिए निश्चित स्थान में बैठने

की व्यवस्था थी । सब अपना स्थान ग्रहण करते जा रहे थे, अनुशासनपूर्वक व्यवस्था से प्रभावित । नीचे प्रांगण में अग्रिम पंक्ति में विराजमान थे आचार्य देशभूषण जी, आचार्य विमल सागर जी, ऐलाचार्य विद्यानंद जी तथा श्रवणबेलगोल मठ के भट्टारक स्वस्ति चारुकीर्ति जी । प्रांगण में बाईं ओर बैठे थे अपनी श्रद्धा अर्पित करने कर्नाटक के मुख्यमंत्री श्री गुंडूराव अपने परिवार के सदस्यों, अपने मंत्रिमंडल के सदस्यों तथा केन्द्रीय राज्य पर्यटनमंत्री श्री चन्दूलाल चन्द्राकर सहित ।

महामस्तकाभिषेक का कार्यक्रम आरम्भ हुआ प्रातः 6 बजे पीतल के विविध आकार के 1008 कलशों की ताजे कटे हुए धान पर मूर्ति के विराट चरणों के सम्मुख मंत्रोच्चारण सहित स्थापना से । प्रत्येक कलश के मुंह पर मंगल कामना के रूप में नारियल तथा आम्र पल्लव बंधे हुए थे । प्रातः 8-30 बजे निश्चित मुहूर्त में पूजा आरम्भ हुई । गोम्मटेश्वर मूर्ति का बहुप्रतीक्षित महामस्तकाभिषेक जल से प्रथम आरम्भ हुआ लगभग 9-15 बजे । जिन व्यक्तियों ने कलश मोल लिए थे वह मुदित मन खड़े थे पंक्तिबद्ध पैड़ के एक ओर अपना क्रम आने की प्रतीक्षा में । कलश नीचे से पुजारियों द्वारा एक व्यक्ति से दूसरे को यंत्रचालित से श्रृंखलाबद्ध ऊपर पहुंचाए जा रहे थे ।

कलश श्रेणी	कलश संख्या	न्योछावर राशि प्रति कलश	कुल राशि
शताब्दी	10	100000	10,00,000 रुपये
दिव्य	4	50000	2,00,000 रुपये
रत्न	4	25000	1,00,000 रुपये
स्वर्ण	200	11000	22,00,000 रुपये
रजत	200	5000	3,50,000 रुपये
ताम्र	140	2,500	3,50,000 रुपये
कांस्य	200	1,000	2,00,000 रुपये
गुल्लिकायज्जी	250	500	1,25,000 रुपये
	1008		51,75,000/-

उन दस व्यक्तियों को उनके परिवार के सदस्यों सहित, जिन्होंने एक-एक लाख रुपये के शताब्दी कलश लिए थे, सर्वप्रथम जल से मस्तकाभिषेक करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ । जैसे ही अभिषेक के लिए सर्वप्रथम कलकत्ता एवं दिल्ली के उद्योगपति श्री पन्नालाल एवं श्री रतनलाल गंगवाल ने अपने कलशों से मूर्ति के मस्तक पर जल प्रवाहित किया आकाश "भगवान बाहुबली की जय" के घोष से गूंज उठा । उनके पश्चात क्रम से बम्बई के उद्योगपति श्री लालचन्द हीराचन्द तथा साहू श्रेयांसप्रसाद जैन, दिल्ली के साहू अशोक कुमार जैन तथा श्री रमेश चन्द जैन आदि ने अभिषेक किया । उनके पश्चात अभिषेक किया गया उन व्यक्तियों के द्वारा जिन्होंने 50,000 रुपये से लेकर 500 रुपये तक के शेष 998 कलशों को लिया था ।

जैसे द्वारा मस्तकाभिषेक करने में तीन घण्टे से अधिक समय लगा। भक्तों का उल्लास अवर्णनीय था। उस विश्व प्रसिद्ध घटना के एक पात्र होने का गर्व भी तो उनके मुख पर व्याप्त था। 12.30 बजे मध्यान्ह से परम्परागत पंचामृत अभिषेक आरम्भ हुआ। वह अत्यन्त ही दर्शनीय दृश्य था। बीच-बीच में जयघोष तथा सरस संगीत इसको और अनूठा रंग दे रहे थे। सर्वप्रथम 500 लिटर इक्षु रस से, इसके पश्चात 50 लिटर नारियल के जल से एवं तत्पश्चात 500 लिटर दूध से मस्तकाभिषेक किया गया। दूध से मस्तकाभिषेक के समय सम्पूर्ण मूर्ति ही दूधिया हो उठी थी। उसके पश्चात इलायची, कपूर, लौंग, चन्दन तथा केसर के घोल से किए गए अभिषेक की शोभा अवर्णनीय थी। सम्पूर्ण वातावरण चन्दन आदि की मोहक सुगन्ध से सुवासित हो उठा था। केशरिया रंग के मिश्रण से अभिषेक के कारण सुन्दर दृश्यावली बन रही थी। चमकते सूर्य की किरणें रंगीन तरल पर पड़ कर मूर्ति पर एक विचित्र प्रभाव उत्पन्न कर रही थीं। इन्द्रधनुषी छटा बिखर रही थी। आत्म विस्मृत कर देने वाले ऐसे ही सुखद क्षणों में एक अमेरिकन छायाकार चिल्ला उठा, "यकायक यह तो एक सजीव देवता की आकृति हो उठी है।"

अनेक भक्त नीचे प्रांगण में नाच रहे थे, गा रहे थे सुध-बुध खोकर अपने देवता के सम्मुख। अनेक तो मूर्ति के चरणों के समीप ही जा खड़े हुए उससे झरते हुए पंचामृत तरल में भीग जाने के लिए, उस अनिर्वचनीय सुख को भोगने के लिए। चन्दन, केसर आदि के जल में भीग जाना उनके जीवन की एक महान एवं अविस्मरणीय अनुभूति बनी। अनेक भक्तों ने अपनी धोतियों को ललित सरोवर में डुबो कर अभिषेक तरल की बूंद-बूंद तक को निचोड़ कर अपने फ्लास्क, गिलास तथा निमन्त्रण पत्र के प्लास्टिक आवरण तक में भर लिया, घर ले जाने के लिए पवित्र गन्धोदक के रूप में।

नर एवं नारियों पर उस अद्भुत वातावरण का प्रभाव पूर्णतया छा चुका था। कुछ सुसंस्कृत तथा संभ्रांत युवतियां तो इतनी अधिक आत्म विभोर हो गई थीं कि एक कोने में हाथ फैलाए आत्म विस्मृत सी ऐसे खड़ी थीं मानो उनके जीवन के सबसे आनन्ददायक क्षण वही थे। खुले मुख, फैले हाथों और भाव-भंगिमा से भक्तों की अतृप्ति स्पष्ट थी, वह पान कर लेना चाहते थे उस दिव्य सुख को अधिक से अधिक। कितना भावभीना एवं सुखद था वह दृश्य जब भक्त विराट चरणों में नमन कर रहे थे। भावातिरेक में कुछ के मुख से स्पष्ट शब्द भी नहीं निकल रहे थे, जो कुछ प्रस्फुटित हो रहा था वह था अतीव सन्तुष्टि की "आह"।

अभिषेक समारोह के मध्य एक हेलीकाप्टर ने मूर्ति पर पुष्प वर्षा की। लगभग 9 घण्टे का वह अति भव्य महामस्तकाभिषेक आयोजन लगभग 3 बजे मध्यान्ह में समाप्त हुआ। सम्पूर्ण कार्यक्रम के सूत्रक थे ऐलाचार्य विद्यानन्द जी महाराज तथा उसका संयोजन किया था श्रवणबेलगोल मठ के भट्टारक स्वस्ति चारुकीर्ति स्वामी ने।

23 फरवरी को गोम्मटेश्वर मूर्ति का "जन मंगल कलश" अभिषेक हुआ

लगभग उतनी ही गरिमा के साथ । देश के कुछ प्रसिद्ध साहित्य तथा समाजसेवियों को उसी दिन एक विशाल जन सभा में सम्मानित किया गया । कार्यक्रमों का समापन हुआ 25 फरवरी को कल्याणी सरोवर जल यात्रा के साथ ।

श्रवणबेलगोल आने वाले तीर्थ यात्रियों के आवास के लिए तम्बुओं के ग्यारह उपनगर लगभग 300 एकड़ भूमि में इस प्रकार सुविधापूर्वक बसाये गए थे कि उन्हें यातायात, जल आदि की असुविधा न हो । कर्णाटक राज्य सरकार विशेषतः उसके पर्यटन तथा सूचना एवं प्रसार विभागों का हार्दिक योगदान इन समस्त कार्यक्रमों को सफल बनाने के लिए निस्संदेह प्रशंसनीय रहा । देश के लगभग सभी समाचार पत्रों तथा पत्रिकाओं ने तथा कुछ प्रमुख विदेशी पत्रिकाओं ने जैसी श्रद्धा एवं आदर से इन समस्त आयोजनों विशेषतः 21 फरवरी को श्रीमती इंदिरा गांधी द्वारा पुष्प वर्षा करने तथा 22 फरवरी को महामस्तकाभिषेक से सम्बन्धित समाचारों को मुखपृष्ठ आदि पर विस्तारपूर्वक प्रकाशित किया उससे निःसन्देह प्रतीत होता है कि भगवान गोम्मटेश्वर अपने अद्वितीय रूप में समस्त भारत में तथा विदेशों में भी श्रद्धेय हैं । आने वाले दीर्घकाल तक 22 फरवरी का भव्य महामस्तकाभिषेक विश्व की एक प्रमुख धार्मिक घटना के रूप में अविस्मरणीय रहेगा ।

८

श्रवणबेलगोल नगर, विंध्यगिरि, चन्द्रगिरि तथा समीपस्थ स्थान

श्रवणबेलगोल को प्राकृतिक सौन्दर्य मुक्त हस्त से प्राप्त हुआ है। दो सुन्दर पहाड़ियों, विंध्यगिरि (अथवा इन्द्रगिरि) तथा चन्द्रगिरि, सुन्दर कल्याणी सरोवर, मीलों तक चारों ओर फैले हरे-भरे विस्तृत मैदानों, अनेक जलाशयों तथा सुखद जलवायु ने इसे मोहक स्थान बना दिया है। नारियल, सुपारी, लौंग आदि के वृक्षों से सम्पूर्ण दृश्यावली बहुत ही आकर्षक बन गई है। श्रवणबेलगोल, श्रवण (श्रमण) और बेलगोल (बेल+कोला) शब्दों की संधि से बना है। श्रवण अथवा श्रमण का अर्थ है जैन साधु अथवा यह गोम्मटेश्वर जैन मूर्ति। बेलगोल दो कन्नड शब्दों बेल अर्थात श्वेत तथा कोला अर्थात सरोवर से बना है। दोनों पहाड़ियों अर्थात विंध्यगिरि तथा चन्द्रगिरि के मध्य में यह सुन्दर कल्याणी सरोवर निर्मित है। इस मूर्ति एवं कल्याणी सरोवर में सम्बन्ध जोड़कर इस प्रकार इस स्थान का नाम श्रवणबेलगोल प्रसिद्ध हुआ है। वृद्धा द्वारा गुल्लकेय फल के खोल में भरे दूध द्वारा गोम्मटेश्वर मूर्ति का अभिषेक किए जाने के कारण भी इसका नाम श्रवणबेलगोल पड़ा कहा जाता है। उत्तर भारत के जैन इसे जैन बद्री भी कहते हैं। हासन जिले में स्थित यह छोटा सा सुन्दर नगर कर्णाटक की राजधानी बंगलौर से लगभग 150 किलोमीटर तथा प्रसिद्ध बन्दरगाह मंगलौर से लगभग 250 किलोमीटर दूर है। सुन्दर पक्की सड़क द्वारा बसों अथवा कारों से यहां सुगमता से पहुंचा जा सकता है।

विंध्यगिरि पर्वत, जिस पर गोम्मटेश्वर मूर्ति निर्मित है, जैन उल्लेखों में तथा वहां की जनता में इन्द्रगिरि नाम से प्रसिद्ध है। इसका कन्नड नाम दोड्ड बेट्ट है। दोड्ड का अर्थ है बड़ा और बेट्ट का अर्थ है पहाड़। दोनों पहाड़ियों में अपेक्षाकृत ऊंची होने के कारण इसका यह नाम पड़ा है। यह पहाड़ी समुद्रतल से 3347 फीट और आसपास के मैदानों से 470 फीट ऊंची है। पहाड़ी नीचे से घेरदार है और ऊपर की ओर क्रमशः छोटी होती चली गई है। इसकी आकृति उलटे कटोरे के समान लगती है। मूर्ति तक पहुंचने के लिए पहाड़ी पर 650 सीढ़ियां बनी हुई हैं। सीढ़ियों पर चढ़ते ही बाईं ओर ब्रह्मदेव का मन्दिर है जिसे स्थानीय भाषा में "जारुगुप्पे अप्प" या ब्रह्म कहते हैं। शिलालेख क्रमांक 439 के अनुसार इसका निर्माण शक संवत 1600 (सन् 1678)

में हिरिसाली निवासी गिरिगौड के छोटे भाई रंगय्य ने कराया था। इसकी दूसरी मंजिल में, जो बाद को निर्मित हुई है, तेइसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की मूर्ति है। थोड़ा और ऊपर चढ़ने पर पत्थर से बने परकोटे के द्वार पर पहुंच जाते हैं जो पहाड़ी के ऊपर चारों ओर बना हुआ है। परकोटे के भीतर सिद्धर बसदि, चेन्नण्ण बसदि, ओदेगल बसदि, चौबीस तीर्थंकर बसदि आदि जैन मन्दिर तथा अखण्ड बागिलु (द्वार), सिद्धरगुंडु शिला, गुल्लिकायज्जी बागिलु (द्वार), त्यागद ब्रह्मदेव स्तम्भ, व जैन मूर्तियां आदि उल्लेखनीय हैं। इनका निर्माण गोम्मटेश्वर मूर्ति के निर्माण के पश्चात भिन्न-भिन्न व्यक्तियों ने भिन्न-भिन्न समय पर अपनी विजय के उपलक्ष में अथवा धर्म भावना से प्रेरित होकर करवाया है। गोम्मटेश्वर मूर्ति तक अखण्ड द्वार द्वारा पहुंचा जाता है। इस द्वार का निर्माण एक अखण्ड शिला को काट कर किया गया है। द्वार के दाहिनी ओर ऊंची शिला है जिसे—"सिद्धर गुंडु" अर्थात सिद्ध शिला कहते हैं। इसके अधोभाग में शिलालेख है और ऊपर के भाग में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के मुनि दीक्षा लिए हुए सौ पुत्रों के चित्र उत्कीर्ण हैं। यह द्वार भी चामुण्डराय द्वारा ही निर्मित है।

परकोटा

यह पहाड़ी के ऊपर चारों ओर बना हुआ है। इसके निर्माण में कहीं-कहीं पर भारी प्राकृतिक शिलाओं का उपयोग भी किया गया है। जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया गया है इस परकोटे का निर्माण द्वारसमुद्र के होयसल नरेश विष्णुवर्धन (पूर्व नाम बिट्टिगदेव) के सेनापति एवं अमात्य गंगराज ने शक संवत 1039 (1117 ई०) के लगभग कराया था। मूर्ति के पैरों के पास उत्कीर्ण शिलालेख क्रम संख्या 274 व 277 में उसके द्वारा इस परकोटे के निर्माण कराए जाने का उल्लेख किया गया है। शिलालेख क्रम संख्या 547 में गंगराज का परिचय दिया है। परकोटे के बनने से पूर्व पहाड़ी के शिखर पर गोम्मटेश्वर मूर्ति अपनी प्राकृतिक अवस्था में और भी अधिक भव्य एवं आकर्षक लगती होगी। परकोटे के असंतुलित निर्माण ने मूर्ति के प्राकृतिक सौन्दर्य में न्यूनता ही की है वृद्धि नहीं। मूर्ति की रक्षा के कारण ही गंगराज द्वारा परकोटे का निर्माण कराया जाना सम्भावित लगता है।

परकोटे के भीतर मंडपों में 43 जैन मूर्तियां स्थापित हैं, इन में दो मूर्तियां यक्षी कूष्माण्डिनी की तथा एक बाहुबली की है। शेष 40 तीर्थंकर मूर्तियां हैं। इनमें तीर्थंकर पद्मप्रभु की एक भी मूर्ति नहीं है। अधिकांश मूर्तियां चार फीट ऊंची हैं। एक मूर्ति जिस पर लांछन नहीं है डेढ़ फीट ऊंची है। परकोटे के द्वार के दोनों ओर बाजुओं में 6-6 फीट आकार के द्वारपाल निर्मित हैं। परकोटे की दीवार पर तीन ओर देवी-देवताओं और पशु-पक्षियों के विविध मुद्राओं में अनेक चित्र उकेरे हुए हैं।

गुल्लिकायज्जी

गोम्मटेश्वर मूर्ति के ठीक सामने परकोटे के बाहर छः फीट ऊंचा ब्रह्मदेव स्तंभ है जिसमें ब्रह्मदेवी की मूर्ति स्थापित है। मंडप के नीचे पांच फीट की ऊंची गुल्लिकायज्जी

की मूर्ति गोम्मटेश्वर मूर्ति को देखती हुई निर्मित है। इस मूर्ति के हाथों में एक गुल्लकायि है। कहा जाता है कि ब्रह्मदेव एवं गुल्लिकयज्जी मूर्ति का निर्माण कराकर चामुण्डराय ने ही उन्हें वहां स्थापित करवाया था। गुल्लिकायज्जी को जैसे कि पूर्व में उल्लेख किया गया है उस क्षेत्र की कूष्माण्डिनी देवी के रूप में माना जाता है। कहा जाता है कि चामुण्डराय का अभिमान गलित करने के लिए उसके द्वारा चढ़ाए गए दूध से ही अभिषेक की क्रिया सफलता से सम्पन्न हुई थी।

सिद्धर बसदि

यह एक छोटा-सा मंदिर है जिसमें सिद्ध भगवान की तीन फीट ऊंची पद्मासन मूर्ति विराजित है। इस मूर्ति के दोनों ओर लगभग 6 फीट ऊंचे दो कलात्मक स्तम्भ बने हैं। इन पर बारीक कार्य किया हुआ है और यह सामने वाली चन्द्रगिरि पहाड़ी पर निर्मित महानवमी मंडप के स्तम्भ के समान हैं। दाईं ओर के स्तंभ पर कवि अरहद्दास द्वारा रचित गुरु पंडिताचार्य की प्रशस्ति वाला लेख क्रमांक 360 अंकित है। पंडिताचार्य की मृत्यु 1398 ई० में हुई थी। इस स्तम्भ की पीठिका पर एक आचार्य अपने शिष्य को उपदेश देते हुए दिखाए गए हैं। स्तंभ के दूसरे कोष्ठक में एक जिन मूर्ति उत्कीर्ण है। दूसरे स्तम्भ पर संस्कृत के कवि मंगराज द्वारा एक अन्य जैन गुरु श्रुतमुनि के 1432 ई० में देह त्याग से संबंधित प्रशस्ति वाला लेख अंकित है।

अखण्ड बागिलु

बागिलु का अर्थ है द्वार। इस पूरे द्वार को एक ही शिला से काट कर बनाए जाने के कारण अखण्ड बागिलु कहा जाता है। किंवदंती है कि यह द्वार चामुण्डराय द्वारा निर्मित है। द्वार के ऊपरी भाग में बनी लक्ष्मी की पद्मासन मूर्ति को दोनों ओर से हाथियों द्वारा अभिषेक करते हुए चित्रित किया गया है। द्वार के दोनों ओर छोटी-छोटी कुलिकाएं बनी हुई हैं जिनमें से दाईं ओर की कुलिका में बाहुबली और बाईं ओर भरत की मूर्ति उत्कीर्ण हैं। यह मूर्तियां गन्ड विमुक्त सिद्धान्तदेव के शिष्य दन्डनायक भरतेश्वर द्वारा 1130 ई० के लगभग प्रतिष्ठित की गई थीं। 1160 ई० के एक अन्य शिलालेख में भी उल्लेख है कि इन दो कुलिकाओं का निर्माण द्वार का सौन्दर्य बढ़ाने के लिए भरतेश्वर द्वारा किया गया। उसी शिलालेख में यह भी उल्लेख है कि भरतेश्वर दण्डनायक द्वारा ही उस पहाड़ी पर नीचे से लेकर अखण्ड बागिलु तक सीढ़ियां बनवाई गई थीं।

सिद्धरगुण्डु

उपरोक्त द्वार के दक्षिण में स्थित एक पहाड़ी शिला को सिद्धरगुण्डु कहा जाता है। इस पर अनेक लेख हैं। इसके ऊपरी भाग में कई पंक्तियों में जैनाचार्यों के चित्र उनके नाम सहित उत्कीर्ण हैं। साथ ही साथ भरत, बाहुबली भरत, के 99 भाइयों तथा बहिनों ब्राह्मी एवं सुन्दरी की मूर्तियां भी उत्कीर्ण हैं।

गुल्लिकायज्जी बागिलु

यह गोम्मटेश्वर मूर्ति के प्रांगण के दूसरे द्वार का नाम है। इस द्वार के दाहिनी ओर एक शिला पर बैठी हुई करबद्ध महिला की आकृति उत्कीर्ण है। इसके नीचे तेरहवीं शताब्दी के उत्कीर्ण लेख (क्रम संख्या 358) से प्रतीत होता है कि यह मूर्ति मल्लिसेट्टी नामक व्यक्ति की पुत्री की है। अतएव इस द्वार का नाम गुल्लिकायज्जी बागिलु किन्हीं भ्रांतिवश रख दिया गया है।

त्यागद ब्रह्मदेव स्तम्भ

यह एक कलापूर्ण स्तम्भ है। इस स्थान पर बैठकर चामुण्डराय शिल्पियों व श्रमिकों आदि को पारिश्रमिक तथा दान दिया करते थे। इस स्थान से दान दिया जाने के कारण ही इसका नाम त्यागद स्तम्भ पड़ा है। लेख क्रमांक 388 से जो अपूर्ण है, प्रतीत होता है कि इसकी स्थापना चामुण्डराय द्वारा की गई थी। लेख में उनके प्रताप का वर्णन है। कालांतर में किन्हीं हेगडेकण्ण ने चामुण्डराय के लेख का अंतिम भाग घिसवा कर अपना एक प्रशस्ति लेख (क्रम संख्या 389) लिखवा दिया। यदि चामुण्डराय का पूरा लेख अस्तित्व में रहता तो उनके जीवन के कुछ और तथ्यों पर प्रकाश पड़ना संभव होता।

स्तंभ की पीठिका के दक्षिणी बाजू पर दो मूर्तियां उत्कीर्ण हैं। एक मूर्ति जिसके दोनों ओर चंवरधारी खड़े हैं चामुण्डराय की कही जाती है और सामने वाली मूर्ति उनके गुरु नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती की। इस स्तम्भ को चागदकम्ब अर्थात दान स्तम्भ भी कहा जाता है। चाग सम्भवतया संस्कृत के त्याग शब्द का अपभ्रंश रूप है।

चेन्नण्ण बसदि

यह त्यागद ब्रह्मदेव स्तम्भ से कुछ दूरी पर उसके पश्चिम की ओर है। इसमें गर्भगृह, बाहर एक मण्डप तथा बरामदा निर्मित हैं। गर्भगृह में आठवें तीर्थंकर चंद्रप्रभु की ढाई फीट ऊंची मूर्ति विराजमान है। इस बसदि के सामने एक मानस्तंभ निर्मित है। इस मंदिर का निर्माण चेन्नण्ण एवं उनकी पत्नी द्वारा कराया गया प्रतीत होता है। बरामदे के दोनों ओर आमने-सामने खड़े स्तम्भों में हाथ जोड़े हुए बनी आकृतियों में सम्भवतया एक चेन्नण्ण की तथा दूसरी उनकी पत्नी की है। लेख क्रमांक 540 (1673 ई० में उत्कीर्ण) में उल्लेख है कि पुट्टास्वामी सेट्टि के पुत्र चेन्नण्ण ने मंदिर उद्यान एवं सरोवर की व्यवस्था के लिए जिण्णेहल्ली ग्राम भेंट में दिया था।

ओदेगल बसदि

यह मंदिर एक ऊंचे चबूतरे पर निर्मित है। इसमें ऊंची सीढ़ियों द्वारा पहुंचा जाता है। पाषाणों का आधार देकर इस मंदिर को सुदृढ़ किया गया है। ओदेगल से अर्थ है पाषाणों का आधार। इस कारण इसका नाम ओदेगल बसदि प्रचलित हुआ है।

इस मंदिर में तीन गर्भगृह है जिनमें तीर्थंकर नेमिनाथ, आदिनाथ और शांतिनाथ की पद्मासन मूर्तियां विराजमान हैं। तीन गर्भगृहों के अतिरिक्त इसकी तीन खुली शुक नासिकाएं, उन सबका एक नवरंग तथा एक मुख मण्डप निर्मित है। नवरंग के स्तम्भ बेलनाकार हैं और इसकी मध्य वाली छत में कमल का उभरा हुआ फूल निर्मित है। मुख्य गर्भगृह में अलंकृत प्रभावली सहित आदिनाथ की मूर्ति है जिसके दोनों ओर पुरुष चंवर-धारी खड़े हैं। बाईं ओर के गर्भगृह में नेमिनाथ की तथा दाईं ओर के गर्भगृह में शांति-नाथ की मूर्तियां हैं। यह होयसल काल का ग्रेनाइट पाषाण का ऐसा निर्माण है जिसका बाह्य सपाट है। इसमें तीन गर्भगृह होने के कारण इसे त्रिकूट बसदि भी कहते हैं। इसके पश्चिम की ओर चट्टान पर नागरी अक्षरों में 27 लेख क्रमांक 391 से 417 तक उत्कीर्ण हैं। इन लेखों में से अधिकतर में तीर्थ यात्रियों के नाम अंकित हैं। यह लेख मारवाड़ी भाषा में नागरी लिपि में उत्कीर्ण हैं।

चौबीस तीर्थंकर बसदि

यह एक छोटा सा मंदिर है जिसमें गर्भगृह, शुकनासिका तथा प्रवेश मण्डप निर्मित हैं। इसमें लगभग ढाई फीट ऊंचे एक पाषाण में चौबीस तीर्थंकरों की मूर्तियां बनी हैं जिनकी यहां पूजा की जाती है। इस प्रस्तर खण्ड के नीचे की पंक्ति में तीन बड़ी मूर्तियां उत्कीर्ण हैं और उनके ऊपर प्रभावली के आकार में अन्य इक्कीस पद्मासन मूर्तियां बनी हैं। अप्रैल 1648 में अंकित लेख क्रमांक 422 के अनुसार इस चौबीसी की स्थापना चारुकीर्ति पंडित धर्मचन्द्र तथा अन्य व्यक्तियों द्वारा कराई गई थी।

चन्द्रगिरि

विन्ध्यगिरि के सामने वाली पहाड़ी इन्द्रगिरि कहलाती है। स्थानीय भाषा में इसे चिक्कबेट अर्थात चिक्क (छोटा) बेट्ट (पहाड़) अर्थात विन्ध्यगिरि से ऊंचाई में कम होने के कारण छोटा पहाड़ कहा जाता है। समुद्रतल से 3052 फीट ऊंची यह पहाड़ी आसपास के मैदानों से मात्र 175 फीट ऊंची है। पूर्व साहित्य में संस्कृत में इसे कटवप्र तथा कन्नड में कालवप्पु कहा जाता था। इन पहाड़ी के एक भाग को तीर्थगिरि अथवा ऋषि गिरि भी कहा जाता है।

श्रवणबेलगोल एवं उसके अंचल में प्राप्त शिलालेखों में इस पहाड़ी को कन्नड भाषा में कालबप्प, कालबप्पु, कालवप्पु तथा कटवप्प एवं संस्कृत में कटवप्र तथा कटप्र कहा गया है। यहां के सबसे प्राचीन छठी-सातवीं शताब्दी के लेख क्रम संख्या 1 में इसे कटवप्र कहा गया है। सातवीं शताब्दी के कन्नड भाषा में उत्कीर्ण शिलालेखों क्रम संख्या 25, 123 और 132 में इसका उल्लेख क्रमशः कटवप्र शैल, कटप्र गिरि तथा कटवप्र गिरि नाम से किया गया है। सातवीं शताब्दी के ही कन्नड भाषा में उत्कीर्ण शिलालेख क्रम संख्या 14, 30 और 31 में इसे क्रमशः कालवप्पु, कालवप्पु तथा कालवप्प नाम से उल्लेखित किया गया है। कटवप्र एवं कालवप्पु से अर्थ चिक्क बेट्ट अर्थात चन्द्रगिरि से ही है।

श्री देवीरप्पा के अनुसार पूर्व में मूलतः इसका नाम 'कालबेलपु' रहा होगा जो

कालांतर में भाषा अपभ्रंश के कारण कालवप्पु, कालबप्पु तथा कालबप्पु प्रचलित हो गया।

संस्कृत भाषा में वप्र के अर्थ है पर्वत अथवा पहाड़ी। कट से अर्थ है समाधि-स्थल। चन्द्रगिरि पर सातवीं शताब्दी के प्राप्त 54 शिलालेखों में से 41 में जैन साधुओं के सल्लेखना-व्रत संन्यास द्वारा देह त्याग का उल्लेख है। आठवीं शताब्दी के 20 शिला-लेखों में से 10 शिलालेखों में भी इसी प्रकार का उल्लेख है। सम्भवतया अनेक जैन साधुओं द्वारा यहां समाधिमरण लेने के कारण इसका नाम कटवप्र प्रचलित हुआ। ऐसा भी कथन है कि संस्कृत शब्द कटवप्र से ही इसका कन्नड भाषा में नाम कालबप्पु पड़ा। चन्द्रगिरि पर्वत पर सातवीं शती के शिलालेख क्रम संख्या 34 में इस पहाड़ी का बेलगोला नाम से उल्लेख किया गया है। आठवीं शती के एक अन्य शिलालेख क्रम संख्या 38 में भी बेलगोला स्थान का उल्लेख हुआ है। यही अधिक युक्तिसंगत लगता है कि बेलगोला अथवा बेलगोल शब्द का प्रयोग ग्राम के लिए तथा कटवप्र, कालबप्पु अथवा कालबप्पु शब्दों का प्रयोग चन्द्रगिरि पर्वत के लिए किया जाता था।

चन्द्रगिरि पर 271 शिलालेख अंकित हैं। चन्द्रगिरि पर छठी-सातवीं शताब्दी का लेख, क्रमांक 1 जो पार्श्वनाथ बसदि के दक्षिण की ओर वाली शिला पर प्राचीन कन्नड लिपि में उत्कीर्ण है सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। यह लेख गोम्मटेश्वर मूर्ति की प्रतिष्ठा से भी लगभग 400 वर्ष पूर्व का है। इसमें उल्लेख है कि आचार्य भद्रबाहु स्वामी अपने शिष्य प्रभाचन्द्र (इतिहास नाम सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य) तथा संघ के अन्य साधुओं सहित उत्तरांचल से चलकर यहां पहुंचे और उन्होंने समाधिमरण द्वारा यहां देह त्याग किया। इस शिलालेख तथा अन्य लेखों द्वारा हमारे पूर्व इतिहास पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। इस पर्वत पर पार्श्वनाथ बसदि, कत्तले बसदि, चन्द्रगुप्त बसदि, शांतिनाथ बसदि, सुपार्श्वनाथ बसदि, चन्द्रप्रभ बसदि, चामुण्डराय बसदि, शासन बसदि, मज्जिगण बसदि, एरडुकट्टे बसदि, सवतिगन्धवारण बसदि, तेरिन बसदि तथा शान्तीश्वर बसदि नामक जैन मंदिर, कूगे ब्रह्मदेव स्तम्भ, महानवमी मंडप, भरतेश्वर मूर्ति, इरवे ब्रह्मदेव मंदिर तथा कन्चन दोणे एवं लक्कि दोणे नामक सरोवर निर्मित हैं। चामुण्डराय शिला पर्वत का सबसे ऊंचा वह स्थल है जहां से चामुण्डराय ने सामने वाले पर्वत विन्ध्यगिरि पर बाण छोड़कर मूर्ति के शीर्षभाग को प्रकट किया था। यहां की प्राकृतिक गुफा, भद्रबाहु गुफा नामक, जिसे अब पर्याप्त परिवर्द्धित कर दिया गया है, से मौर्यकाल का इतिहास जुड़ा है। आचार्य भद्रबाहु ने यहीं पर तपस्या कर समाधिमरण द्वारा देह त्याग किया था। उनकी स्मृति में उनके चरण अंकित हैं। चन्द्रगुप्त मौर्य ने भी यहां तपस्या की थी। चन्द्रगुप्त बसदि की स्थापना मूलतः चन्द्रगुप्त ने तथा चामुण्डराय बसदि का निर्माण चामुण्डराय ने करवाया था। पहाड़ी पर 9 फीट ऊंची भरत की एक अपूर्ण मूर्ति भी उल्लेखनीय है।

चामुण्डराय (गोम्मटराय) द्वारा चामुण्डराय बसदि निर्मित कराए जाने के कारण तथा उसमें भगवान नेमिनाथ की इन्द्रनीलमणि निर्मित प्रतिमा स्थापित कराने के कारण चन्द्रगिरि का नाम गोम्मटगिरि भी कहलाता था।

पार्श्वनाथ बसदि (1129 ई० से पूर्व निर्मित)

द्रविड़ शैली में निर्मित 59 फीट लम्बा और 29 फीट चौड़ा यह यथेष्ट बड़ा मंदिर है। द्रविड़ शैली के अंतर्गत इसमें गर्भगृह, सुखनासि (शुकनासिका) मुखमण्डप, नवरंग एवं मंडप निर्मित हैं। इसके द्वार सुन्दर प्रकार से बने हैं। नवरंग तथा मुखमण्डप के दोनों ओर बरामदे निर्मित हैं। गर्भगृह में तीर्थंकर पार्श्वनाथ की पन्द्रह फीट ऊंची सप्तफण सहित श्यामवर्ण अत्यन्त मनोज्ञ मूर्ति प्रतिष्ठित है। मंदिर की बाह्य दीवारें स्तम्भों और छोटी बुर्जियों से सज्जित हैं। मंदिर में ऐसा कोई उल्लेख नहीं प्राप्त होता जिससे कि इसके निर्माता का नाम ज्ञात हो सके। नवरंग में अंकित शक संवत 1050 (1128 ई.) के एक विस्तृत लेख क्रम संख्या 77 में मल्लिषेण मलधारीदेव नामक गुरु के देह त्याग का उल्लेख है। मंदिर के सामने एक सुन्दर मानस्तम्भ निर्मित है जिसके सबसे नीचे के भ ग में चारों ओर चित्र अंकित हैं। दाईं ओर पद्मावती की मूर्ति, पूर्व में एक खड़े यक्ष की मूर्ति, उत्तर में कूष्माण्डिनी देवी की बैठी हुई मुद्रा में तथा पश्चिम में एक द्रुतगामी घुड़सवार की मूर्ति अंकित हैं। नवरंग में अंकित लेख से प्रतीत होता है कि इस मानस्तम्भ का निर्माण एक पुट्टय सेठ द्वारा शक संवत 1672 (1750 ई.) के लगभग हुआ। 1780 ई. के लगभग रचित एक कन्नड काव्य में भी उल्लेख है कि मैसूर नरेश चिक्कदेव राज वोडेयर (1672-1704 ई.) के राज्यकाल में पुट्टय सेठ द्वारा यह मानस्तम्भ स्थापित कराया गया।

कत्तले बसदि (1118 ई. में निर्मित)

चन्द्रगिरि पर्वत पर 124×40 फीट आकार का यह सबसे विशाल मंदिर है। कन्नड में कत्तले का अर्थ है अंधेरा। मंदिर में पूर्व में अंधेरा ही रहता था। अब तो वहां सभी मंदिरों में प्रकाश की बहुत अच्छी व्यवस्था हो गई है। मंदिर में गर्भगृह, प्रदक्षिणा, खुली सुखनासि, उससे सम्बद्ध नवरंग, मुखमण्डप तथा उसके बाहर एक बरामदा निर्मित हैं। मंदिर में प्रवेश द्वार के अतिरिक्त सूर्य का प्रकाश आने की और कोई व्यवस्था न होने के कारण पूर्व में अन्धेरा रहता था। अब विद्युत प्रकाश की अच्छी व्यवस्था हो गई है जिसके कारण अंतरंग की प्रदर्शनीयता भी बढ़ गई है। मंदिर पर इस समय कोई शिखर नहीं है किन्तु इसके एक खुदे हुए मानचित्र से प्रतीत होता है कि पूर्व में इस पर शिखर था। गर्भगृह में प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ की मनोज्ञ पद्मासन छः फीट ऊंची मूर्ति प्रतिष्ठित है। मूर्ति के दोनों ओर चंवरधारी बने हैं। यहां के सब मंदिरों में केवल इस मंदिर के ही चारों ओर प्रदक्षिणा पथ बना है। 1118 ई. के एक लेख, क्रम संख्या 80 से जो मूर्ति के पादपीठ पर अंकित है ज्ञात होता है कि इस मंदिर का निर्माण होयसल नरेश विष्णुवर्धन के सेनापति गंगराज ने अपनी माता पोचब्बे के लिए कराया था। मंदिर के ऊपर दूसरी मंजिल भी निर्मित है जिसमें मण्डप के बाहर उत्तर-पूर्व कोने में बनी सीढ़ियों द्वारा पहुंचा जा सकता है। कहा जाता है कि दूसरी मंजिल की छत पर बैठकर सम्भ्रान्त महिलाएं जैन उत्सवों को देखा करती थीं। कालांतर में मैसूर राज्य परिवार की दो महिलाओं रुक्मिणी और

केम्पम्मणि ने मंदिर का जीर्णोद्धार कराया था। मोक्ष के हेतु बने इस मन्दिर से इस प्रकार दो अन्य महिलाओं की भक्ति भी सम्बद्ध है।

चन्द्रगुप्त बसदि (ईसा की 8वीं शताब्दी से पूर्व निर्मित)

आठवीं शताब्दी से पूर्व निर्मित यह चन्द्रगिरि का सबसे छोटा जिनालय 22 × 16 फीट आकार का है। कहा जाता है कि मंदिर की स्थापना मूलतः अपनी मुनि अवस्था में चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा हुई थी और कालांतर में इसको वर्तमान रूप दिया गया। यह भी मान्यता है कि चन्द्रगुप्त के वंशजों ने उनकी स्मृति स्वरूप इस जिनालय का निर्माण कराया और यह उसी मूल स्मारक का जीर्णोद्धारित अथवा नवीनीकृत रूप है। इसमें एक ही पंक्ति में तीन कोठरियां हैं जिनके आगे एक पतला बरामदा है। मध्य की कोठरी में तीर्थंकर पार्श्वनाथ, उससे दाईं ओर की कोठरी में पद्मावती तथा बाईं ओर की कोठरी में कूष्माण्डिनी देवी की मूर्तियां हैं। बरामदे के दाएं छोर पर यक्ष धर्मेन्द्र और बाएं छोर पर सर्वाह्ण यक्ष निर्मित हैं। बीच के कोठे के सामने सभा भवन है जिसमें क्षेत्रपाल की मूर्ति है। यह मंदिर का मूल रूप बताया जाता है। कालांतर में इस खुले हुए बरामदे को बन्द करते हुए बीच की कोठरी के सामने एक अलंकृत द्वार तथा उसके दोनों ओर जालीदार पाषाण चित्र-फलक निर्मित हैं। द्वार यद्यपि छोटा है किन्तु निस्संदेह बहुत कलात्मक बनाया गया है। यह दोनों चित्र फलक कौशल का सुन्दर उदाहरण होने के साथ-साथ सामग्री की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण हैं। इनमें श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त मौर्य के जीवन दृश्य अंकित हैं जो हमारा सम्बन्ध प्राचीन इतिहास की घटनाओं से जोड़ते हैं। दोनों फलकों में कुल 90 चित्र उत्कीर्ण हैं। जाली पर कलाकार का नाम दासोज लिखा है। यह लिपि बारहवीं शती की लगती है। प्रतीत होता है कि दासोज ने ही इन चित्रफलकों और सुन्दर द्वार का निपुणता से 12वीं शताब्दी में निर्माण किया। मंदिर में अन्दर से कत्तले बसदि का प्रवेश द्वार है। मंदिर के दोनों बाजुओं पर छोटे गुंबददार शिखर भी हैं। इस प्रकार एक ही स्थान पर एक मुख्य प्रवेश सहित यह दो मंदिर हैं।

आचार्य भद्रबाहु एवं चन्द्रगुप्त मौर्य की कथा प्राचीन जैन शास्त्रों और पुराने अभिलेखों में तो उपलब्ध है ही किन्तु चन्द्रगुप्त बसदि के चित्र फलकों में अंकित घटनाओं से उनका ऐतिहासिक आधार और पुष्ट हुआ है। इन 90 चित्रों में भद्रबाहु के गुरु श्रुतकेवली गोवर्धनाचार्य के पुण्ड्रवर्धन नगर के उद्यान में प्रवास, उसके कारण नगर में उल्लास, संघ के कोटिपुर नगर को विहार, कोटिपुर के ब्राह्मण सोमशर्मा एवं उनकी पत्नी सोमश्री के बालक भद्रबाहु से गोवर्धनाचार्य की भेंट, गोवर्धनाचार्य द्वारा भद्रबाहु की शिक्षा, भद्रबाहु की जिन दीक्षा एवं उनके तप, भद्रबाहु के उज्जयिनी प्रवास, देवी पद्मावती द्वारा आचार्य भद्रबाहु पर आये उपसर्ग के निवारण, उज्जयिनी की समृद्ध अवस्था, सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य एवं उनकी पत्नी के भद्रबाहु के दर्शन करने एवं उनके प्रति भक्ति प्रदर्शित करने, उनको आहार देने तथा उनको गुरु मान लेने, एक शिशु द्वारा बारह वर्ष का दुर्भिक्ष पड़ने का बोध कराने, सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य के भद्रबाहु द्वारा जिन दीक्षा धारण करने, मुनि चन्द्रगुप्त के ध्यान एवं अभ्यास, भद्रबाहु,

चन्द्रगुप्त एवं संघ के दक्षिण की ओर प्रस्थान तथा उसके लिए राजपुरुषों, गण-नायकों तथा अन्य प्रजा द्वारा श्रद्धापूर्ण विदाई देने के चित्र अंकित हैं।

शान्तिनाथ बसदि अथवा शान्तीश्वरा बसदि (निर्माण काल अभी तक ज्ञात नहीं)

सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ को समर्पित इस मंदिर का आकार 24 × 16 फीट है। इसमें गर्भगृह, सुखनासिका एवं प्रवेश-मंडप निर्मित हैं। गर्भगृह में शान्तिनाथ की ग्यारह फीट ऊंची मनोज्ञ खड्गासन प्रतिमा प्रतिष्ठित है।

सुपार्श्वनाथ बसदि (निर्माण काल अभी तक ज्ञात नहीं)

बनावट में यह शान्तिनाथ बसदि के समान ही है। इसका आकार 25 × 14 फीट है। इसमें सातवें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ की लगभग तीन फीट ऊंची पद्मासन प्रतिमा सप्तफण सहित विराजित है। यह उल्लेखनीय है कि तीर्थंकर पार्श्वनाथ के अतिरिक्त कहीं-कहीं पर सुपार्श्वनाथ की मूर्तियों को भी सर्पफण सहित दिखाया जाता है। अभी तक यह ज्ञात नहीं है कि इस मंदिर का निर्माण कब और किसने करवाया।

चन्द्रप्रभु बसदि (8वीं शताब्दी के लगभग निर्मित)

इस मंदिर का आकार 42 × 25 फीट है। मंदिर में गर्भगृह, सुखनासि, नवरंग और प्रवेश-मंडप निर्मित हैं। सुखनासि में तीर्थंकर के यक्ष-यक्षी श्याम और ज्वाला-मालिनी की मूर्तियां हैं। केवल दो हाथों के बनाए जाने के कारण स्वाभाविक नारी आकृति की यह ज्वालामालिनी मूर्ति सुन्दर बन पड़ी है। मंदिर के सामने की शिला पर लेख क्रमांक 140 में "शिवमारन बसदि" अंकित है। इससे यह अनुमान लगाया जाता है कि इस मंदिर का निर्माण श्रीपुरुष के पुत्र गंग नरेश शिवमार द्वितीय (लगभग 800 ई.) ने कराया था। इस शिलालेख के समीप और कोई मंदिर न होने के कारण यही विश्वास किया जाता है कि शिवमार बसदि चन्द्रप्रभु बसदि का ही पूर्व नाम है।

चामुण्डराय बसदि (लगभग 982 ई. में निर्मित)

चन्द्रगिरि पर यह सबसे सुन्दर तथा द्रविड़ शैली का विशेष उल्लेखनीय मंदिर है जिसका आकार 69 × 36 फीट है। सजावट और बनावट में यह सब मंदिरों में अधिक सुन्दर है। इसके ऊपर दूसरा खण्ड और एक गुम्बद भी निर्मित हैं। मंदिर में द्रविड़ शैली के अनुसार गर्भगृह, खुली सुखनासि, जिसके साथ नवरंग सम्बद्ध है, प्रवेश-मण्डप तथा दोनों ओर बरामदे निर्मित हैं। गर्भगृह में तीर्थंकर नेमिनाथ की पांच फीट ऊंची मनोज्ञ मूर्ति विराजमान है।

इसके दोनों ओर चमरधारी बने हुए हैं। सुखनासि में गर्भगृह के द्वार के दोनों ओर यक्ष सर्वाह्ण और यक्षिणी कूष्माण्डिनी निर्मित हैं। मंदिर की बाहरी दीवारों, स्तम्भों एवं गवाक्षों में भी मूर्तियां उकेरी हुई हैं।

मंदिर के बाहरी द्वार के दोनों बाजुओं पर नीचे की ओर लेख क्रमांक 151 में "श्री चामुण्डरायं माडिसिदं" अंकित है जिसके अनुसार इसे स्वयं चामुण्डराय ने निर्मित करवाया। मंदिर की बाह्य दीवारें कपूरों और बुर्जियों से सज्जित हैं। ऊपर की मंजिल की दीवारें भी उसी प्रकार से अलंकृत हैं। मंदिर के अन्दर छेनी से गोल किए हुए स्तम्भ निर्मित हैं जिनका अनुकरण कर होयसल नरेशों ने हेलेबिड आदि में अत्यन्त अलंकृत एवं कलात्मक स्तम्भों वाले मंदिरों का निर्माण करवाया।

मंदिर के ऊपर के खण्ड में भगवान पार्श्वनाथ की तीन फीट ऊंची मूर्ति विराजित है जिसके सिंहासन पर अंकित लेख क्रम संख्या 150 में उल्लेख है कि चामुण्डराय के पुत्र जिनदेवन ने बेलगोल में जिन मंदिर का निर्माण कराया। इससे ज्ञात होता है कि ऊपर के खण्ड का निर्माण चामुण्डराय के पुत्र जिनदेव द्वारा बाद में 995 ई० के लगभग हुआ और उसने यह मंदिर भगवान पार्श्वनाथ को समर्पित किया। इस प्रकार से सम्पूर्ण मंदिर का निर्माण 982-995 ई० के मध्य हुआ प्रतीत होता है।

मंदिर के नीचे के खण्ड में भगवान नेमिनाथ की मूर्ति के सिंहासन पर लगभग 1138 ई० के लेख से ज्ञात होता है कि सेनापति गंगराज के पुत्र एचन्ना ने बेलगोला में त्रैलोक्यरंजन नामक जैन मंदिर का निर्माण करवाया, जिसको बोप्पना चैत्यालय भी कहते थे। इससे यह प्रतीत होता है कि या तो सिंहासन सहित इस मूर्ति को अथवा इस सिंहासन को एचन्ना द्वारा निर्मित मंदिर के किसी कारण ध्वस्त हो जाने के पश्चात यहां लाया गया।

मंदिर के बाहर का प्रवेश-मण्डप बाद में होयसल नरेश विष्णुवर्धन के काल में निर्मित हुआ प्रतीत होता है।

शासन बसदि (1117 ई० के लगभग निर्मित)

मंदिर के द्वार के दक्षिण में एक पाषाण पर लेख क्रमांक 82 अंकित है। लेख को "शासन" कहते हैं। इसी कारण इसका नाम शासन बसदि पड़ गया है। मंदिर में गर्भगृह, खुली शुकनासिका व उससे सम्बद्ध नवरंग निर्मित हैं। मंदिर का आकार 55×26 फीट है। गर्भगृह में तीर्थंकर आदिनाथ की पांच फीट ऊंची मूर्ति, दोनों ओर चंवरधारियों सहित विराजित है। शुकनासिका में भगवान के यक्ष एवं यक्षी गोमुख एवं चक्रेश्वरी की मूर्तियां बनी हैं। मंदिर की बाह्य दीवारें स्तम्भों से सज्जित हैं और उनके ऊपर पंक्तिबद्ध अलंकृत गवाक्ष बने हैं, जिनमें कहीं-कहीं पर जिन मूर्तियां उत्कीर्ण हैं। भगवान आदिनाथ के सिंहासन पर अंकित लेख क्रमांक 84 के अनुसार सेनापति गंगराज ने इसे इंदिरा कुलगृह नाम से निर्मित कराया था। इसका निर्माण सम्भवतया 1117 ई० में हुआ। नरेश विष्णुवर्धन से जो परम नामक ग्राम उन्हें 1118 ई० में भेंट में मिला था उसको उन्होंने इस मंदिर की व्यवस्था के लिए दान दे दिया था।

मज्जिगण्ण बसदि (निर्माण काल अभी तक ज्ञात नहीं)

32 × 19 फीट आकार का यह एक छोटा सा मंदिर है। मंदिर में गर्भगृह, सुखनासि व नवरंग निर्मित हैं। गर्भगृह में चौदहवें तीर्थंकर अनन्तनाथ की साढ़े तीन फीट ऊंची प्रतिमा स्थापित है। इसकी बाह्य भित्तियों में पंक्तिबद्ध पुष्प विभिन्न कोष्ठकों में उकेरे हुए हैं। सुखनासि में गोल स्तंभ बने हुए हैं। सम्भवतः किसी मज्जिगण नामक व्यक्ति द्वारा निर्मित होने के कारण इस का यह नाम प्रचलित हुआ। इस मंदिर का निर्माणकाल अभी तक ज्ञात नहीं है।

एरडुकट्टे बसदि (अथवा उभय वेदिका मंदिर, 1118 ई० में निर्मित)

मंदिर की सीढ़ियों के दोनों ओर दो चबूतरे (उभय वेदिका) होने के कारण इसका नाम एरडुकट्टे बसदि पड़ा है। इसमें भी गर्भगृह, सुखनासि एवं नवरंग निर्मित हैं। इसका आकार 55 × 26 फीट है। गर्भगृह में तीर्थंकर आदिनाथ की पांच फीट ऊंची प्रभावली से अलंकृत मूर्ति है जिसके दोनों ओर पुरुष चमरधारी बने हैं। सुखनासि में यक्ष एवं यक्षी की मूर्तियां हैं। तीर्थंकर आदिनाथ के सिंहासन पर अंकित लेख क्रमांक 160 के अनुसार सेनापति गंगराज की पत्नी लक्ष्मी ने जो शुभचन्द्र सिद्धान्तदेव की शिष्या थीं, इस बसदि का निर्माण कराया था। निर्माण वर्ष है। 1118 ई०

सवतिगन्धवारण बसदि (1123 ई० में निर्मित)

सवतिगन्धवारण का अर्थ है सौतों (सवति) के लिए मत्त हाथी। होयसल नरेश विष्णुवर्धन की जैन पत्नी शान्तलादेवी ने इस बसदि का निर्माण कराया था। अपने कला प्रिय स्वभाव, सौन्दर्य तथा नृत्य निपुणता के कारण वह अन्य रानियों की अपेक्षा विष्णुवर्धन को अधिक प्रिय थी। इसी कारण उसका उपनाम सवतिगन्धवारण प्रसिद्ध हो गया था। उसी के द्वारा निर्मित होने के कारण इस बसदि का यह नाम पड़ा है। मंदिर में गर्भगृह, शुकनासिका और नवरंग निर्मित हैं। 65 × 35 फीट आकार का यह एक विशाल मंदिर है। गर्भगृह में तीर्थंकर शांतिनाथ की पांच फीट ऊंची मूर्ति प्रभावली एवं चमरधारियों सहित स्थापित है। शुकनासिका में यक्ष किम्पुरुष और यक्षी महा-मानसी की मूर्तियां है। गर्भगृह के ऊपर शिखर बना है और मंदिर की बाह्य दीवारें स्तम्भों से सज्जित हैं। शान्तिनाथ की मूर्ति के पादपीठ पर अंकित लेख क्रम संख्या 161 के अनुसार इस मूर्ति तथा एक जैन मंदिर (सम्भवतया इसी मंदिर) का निर्माण शान्तलारानी ने कराया था।

तेरिन बसदि (1117 ई० में निर्मित)

इस मंदिर के सम्मुख रथ (तेर) के समान एक भवन बना होने के कारण इसका यह नाम पड़ा है। इसके अन्दर बाहुबली की पांच फीट ऊंची मूर्ति विराजित होने के कारण इसे बाहुबली बसदि भी कहा गया है। 70 × 26 फीट आकार का यह एक विशाल मंदिर है जिसमें गर्भगृह, शुकनासिका तथा नवरंग निर्मित हैं। सामने के रथ

समान दीखने वाले नन्दीश्वर मंदिर में चारों ओर बावन तीर्थंकर मूर्तियां बनी हुई हैं। उस पर 15 मई, 1117 के अंकित लेख क्रम संख्या 170 से ज्ञात होता है कि पोयसल सेठ की माता माचिकब्बे और नेमि सेठ की माता शान्तिकब्बे ने तेरिन बसदि एवं नन्दीश्वर मंदिर का निर्माण करवाया। यह दोनों सेठ होयसल नरेश के श्रेष्ठी थे। लेख में यह भी उल्लेख है कि माचिकब्बे एवं शांतिकब्बे ने मुनि भानुकीर्ति से दीक्षा ग्रहण कर ली थी।

शान्तीश्वर बसदि (निर्माण काल अभी तक ज्ञात नहीं)

मंदिर में शान्तिनाथ तीर्थंकर की मूर्ति विराजित है। मंदिर का आकार है 56 × 30 फीट। इसमें गर्भगृह, शुकनासिका एवं इससे सम्बद्ध नवरंग निर्मित हैं। शुकनासिका में यक्ष एवं यक्षी की मूर्तियां हैं। मंदिर एक ऊंचे चबूतरे पर निर्मित है तथा इस पर चूने का अलंकृत शिखर बना हुआ है। मंदिर की पिछली दीवार के मध्य में एक कोष्ठक में जिनमूर्ति उत्कीर्ण है। अभी तक यह ज्ञात नहीं है कि यह मन्दिर किसने एवं कब बनवाया।

कुगे ब्रह्मदेव स्तंभ

चन्द्रगिरि पर्वत के घेरे के दक्षिणी द्वार पर स्थित यह विशाल स्तंभ है। इसके शिखर पर ब्रह्मदेव की पूर्वमुखी छोटी सी पद्मासन मूर्ति है। पूर्व में स्तंभ की पीठिका आठ दिशाओं में आठ हाथियों पर आधारित थी, किन्तु अब कुछ ही हाथी शेष रह गए हैं। इसके चारों ओर अंकित विस्तृत लेख क्रमांक 64 में गंग नरेश मारसिंह द्वितीय के सल्लेखना विधि से तीन दिन का व्रत लेने के कारण 974 ई० में देह त्याग का उल्लेख है। इस कारण यह स्तम्भ इससे पूर्व का निर्मित माना जाता है।

महानवमी मंडप

कत्तले बसदि के गर्भगृह के दक्षिण में दो पूर्व मुखी मंडप एक ही पंक्ति में चार-चार स्तम्भों पर आधारित खड़े हैं। दोनों के मध्य में लेख सहित स्तम्भ हैं। उत्तर की ओर वाले मण्डप का लेखांकित स्तंभ अधिक सुदृढ़ है। इसका शीर्ष भाग विशेषकर यथेष्ट अलंकृत है। इसमें अंकित विस्तृत लेख क्रमांक 73 में उल्लेख है कि अप्रैल 1176 में यहां आचार्य नयकीर्ति का समाधिमरण हुआ और उनकी स्मृति में उनके शिष्य नागदेव (मंत्री) ने इस मण्डप का निर्माण करवाया।

इस मण्डप के अतिरिक्त चन्द्रगिरि पर कुछ अन्य मंडप साधारण स्तम्भों सहित निर्मित हैं। एक मंडप चामुण्डराय बसदि के दक्षिण में, एक एरडुकट्टे बसदि के पूर्व में तथा दो मण्डप महानवमी मंडप के समान ही एक पंक्ति में तेरिन बसदि के दक्षिण में निर्मित हैं।

भरतेश्वर मूर्ति

महानवमी मण्डप के पश्चिम में एक भवन के समीप पश्चिम मुखी 9 फीट ऊंची एक अपूर्ण मूर्ति है। इस मूर्ति को बाहुबली के बड़े भाई भरत की मूर्ति कहा जाता है।

उसी स्थान की एक चट्टान से निर्मित यह मूर्ति सिर से घुटनों तक बना कर छोड़ दी गई है। घुटने से नीचे का भाग न बना होने के कारण यह घुटने से ऊपर शिला में ही सधी हुई दिखाई देती है। वर्तमान अवस्था में यह समभंग मुद्रा में अवस्थित है। मूर्ति के कुछ अंगों, विशेषकर हाथों की अंगुलियों को बजाने पर टंकार उत्पन्न होती है। दर्शकों के आघातों को बचाने के लिए मूर्ति के चारों ओर लोहे का मजबूत बाड़ा बना दिया गया है। इस मूर्ति से कुछ ही दूरी पर चट्टान की सतह पर अंकित एक लेख का जो कुछ भाग अब तक पढ़ा जा सका है उससे अनुमान लगाया जाता है कि इस मूर्ति को गुरु अरिष्टनेमि ने बनवाया था।

इरुवे ब्रह्मदेव मंदिर

केवल यही मंदिर पहाड़ी पर बने परकोटे के बाहर बना है। परकोटे के ऊपरी द्वार के उत्तर में यह एक छोटा सा मंदिर है जिसमें केवल एक गर्भगृह और उसमें ब्रह्मदेव की मूर्ति स्थापित है। इस मंदिर के सम्मुख एक बृहत चट्टान पर तीर्थंकर प्रतिमाएं, हाथी तथा स्तम्भ उत्कीर्ण हैं। कुछ उत्कीर्ण कर्ताओं के नाम भी अंकित हैं। मंदिर के द्वार पर अंकित लेख क्रमांक 186 में राजा इरेगंग के महामात्य गुरिपाल के जामाता नागवर्मा के पुत्र के देहावसान का उल्लेख है। इसका निर्माण दसवीं शताब्दी में हुआ माना जाता है।

कुण्ड

चन्द्रगिरि पर कन्चिन दोणे तथा लक्कि दोणे नामक दो सरोवर भी हैं। दोणे का अर्थ है कुण्ड।

कन्चिन दोणे

कन्चिन दोणे का अर्थ है कांसा धातु से बना कुण्ड। परन्तु किस अर्थ में यह प्रयोग किया गया है यह चोकोर घेरे के भीतर पाषाण चट्टान में बने इस कुण्ड से स्पष्ट नहीं होता। इस कुण्ड के पास अनेक लेख अंकित हैं जिनमें से एक में जो 900 ई० के लगभग का है उल्लेख है कि किसी कदम्ब नामक सरदार द्वारा यहां तीन बड़े शिलाखण्ड लाए गए थे। उन तीन शिलाखण्डों में से दो शेष हैं और एक बहुत पूर्व ही टुकड़े-टुकड़े हो गया है। कुण्ड के भीतर बने स्तम्भ पर अंकित लेख क्रम संख्या 211 में उल्लेख है कि मानव ने आनन्द संवत्सर शक संवत 1116 अर्थात 1194 ई० में इसे निर्मित करवाया। शिलालेख बारहवीं शताब्दी का है।

लक्कि दोणे

परकोटे से पूर्व की ओर स्थित दूसरे कुण्ड का नाम लक्कि नामक महिला द्वारा निर्मित कराये जाने के कारण पड़ा है। कुण्ड से पश्चिम की ओर एक चट्टान पर 31 छोटे-छोटे लेख अंकित हैं जिनमें यात्रियों, आचार्यों, कवियों तथा राजपुरुषों के नाम अंकित हैं।

भद्रबाहु गुफा

उज्जयिनी में अपने निमित्त ज्ञान द्वारा उत्तरांचल में 12 वर्ष का दुर्भिक्ष पड़ने के विषय में ज्ञात होने पर अंतिम श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी अपने 12 हजार साधुओं एवं अनुयायियों के संघ सहित, जिनमें चन्द्रगुप्त मौर्य भी सम्मिलित थे, कटवप्र पर्वत (चन्द्रगिरि) पर आकर रुके थे। आचार्य भद्रबाहु इसी प्राकृतिक गुफा में निवास करते थे। इस पर्वत पर आने के कुछ ही समय पश्चात भद्रबाहु स्वामी ने समाधिमरण द्वारा देह त्याग किया। उनकी स्मृति में इस गुफा में उनके चरण स्थापित हैं जिनकी पूजा की जाती है। इस गुफा में ध्यान लगाने से आत्मिक शांति मिलती है। कहा जाता है कि यहीं पर चन्द्रगुप्त मौर्य अपनी मुनि अवस्था में आचार्य भद्रबाहु की अन्तिम समय तक सेवा-सुश्रुषा करते रहे। गुफा में उत्कीर्ण नागरी लिपि के 11 वीं शताब्दी के लेख क्रमांक 251 में उल्लेख है कि मुनि जिनचन्द्र स्वामी ने आचार्य भद्रबाहु के चरणों को नमन किया। "श्री भद्रबाहु स्वामिय पादम जिनचन्द्र प्रणमता।" इन चरणों के विषय में यह मान्यता है कि 48 दिन तक इनकी पूजा करने से मनोकामना पूर्ण हो जाती है।

वास्तव में यह एक चट्टान के झुकाव के कारण बनी एक छोटी सी प्राकृतिक गुफा है। गुफा का आकार शिलाखंड के ढलान के अनुरूप है इस कारण इसकी ऊंचाई अधिक नहीं है। इसमें केवल बैठा ही जा सकता है। खड़े होने योग्य ऊंचाई इसकी नहीं है। गुफा का आकार 15 फीट 3 इंच × 14 फीट है। गुफा को अब सुन्दर रूप दे दिया गया है। इसके अन्दर शिला की ऊंचाई तक चारों ओर दीवारें बना दी गई हैं। सुन्दर द्वार लगा दिया गया है तथा बाहर स्तंभों सहित एक छोटा सा बरामदा बना दिया गया है। गुफा बहुत स्वच्छ है। इस स्थान से सम्पूर्ण दृश्य अत्यन्त सुन्दर दिखाई देता है। गुफा के बाईं ओर सामने विन्ध्यगिरि पर गोम्मटेश्वर बाहुबली की विशाल मूर्ति तथा सामने चन्द्रगिरि पहाड़ी पर पार्श्वनाथ बसदि, चन्द्रगुप्त बसदि, चामुण्डराय बसदि आदि अपने मनोहारी रूप में दिखाई देते हैं।

चामुण्डराय चट्टान

चन्द्रगिरि की सबसे ऊंची एक लेखांकित चट्टान चामुण्डराय के नाम से प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि स्वप्न में कूष्माण्डिनी देवी के कहने से चामुण्डराय ने इसी शिला पर खड़े होकर विन्ध्यगिरि पर सोने का बाण छोड़ा था जिसके फलस्वरूप गोम्मटेश्वर की विश्व प्रसिद्ध मूर्ति का मस्तक सहित ऊपरी भाग प्रकट हुआ था। इस शिला पर कई जैन गुरुओं के आकार तथा उनके नीचे उनके नाम उत्कीर्ण हैं।

श्रवणबेलगोल

श्रवणबेलगोल नगर के संबंध में संक्षेप में पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है। यहां नगर में निर्मित भण्डारी बसदि, अक्कन बसदि, सिद्धान्त बसदि, दानशाला बसदि, नगर जिनालय, मंगायि बसदि, जैन मठ आदि जिनालयों तथा कल्याणी सरोवर का संक्षिप्त वर्णन किया जा रहा है।

भंडारि बसदि अथवा भण्डार बसदि (1159 ई० में निर्मित)

यह 266×78 फीट आकार का श्रवणबेलगोल का सबसे बड़ा जिनालय है। इसमें गर्भगृह, सुखनासि, नवरंग, मुखमंडप तथा परिक्रमा पथ निर्मित हैं। गर्भगृह में एक ही पंक्ति में चौबीस तीर्थंकरों की तीन-तीन फीट ऊंची काले पाषाण की सुन्दर मूर्तियां एक ही लम्बी वेदी पर प्रतिष्ठित हैं। चौबीस मूर्तियों का ऐसा मनोज्ञ दृश्य संभवतया भारत के किसी अन्य जैन मंदिर में देखने को नहीं मिलता। सभी चौबीस तीर्थंकरों की सुन्दर मूर्तियों को एक ही पंक्ति में इस प्रकार स्थापित देखकर हृदय आनन्द, श्रद्धा एवं गौरव से अभिभूत हो उठता है। गर्भगृह के तीन द्वार हैं। प्रवेश द्वार के ऊपर इन्द्र-नृत्य की कलामय मूर्तियां हैं। नवरंग के द्वार पर सुन्दर खुदाई की हुई है। विशेषकर इसके सिरदल पर सुन्दर मानव व पशु आकृतियां तथा बेलबूटे बने हुए हैं। नवरंग के चारों स्तंभों के मध्य भूमि पर 10 फीट आकार का एक पाषाण पट्ट बिछा हुआ है। इसी प्रकार के बड़े पाषाण पट्ट पृष्ठ भाग में तथा बरामदे में बिछे हुए हैं। मंदिर के चारों ओर लगभग 30 फीट ऊंचा परकोटा बना है। चौबीसों तीर्थंकरों की मूर्तियों की स्थापना के कारण इसे चतुर्विंशति तीर्थंकर बसदि भी कहा जाता है। मंदिर में प्राप्त शिलालेखों से यह ज्ञात होता है कि इसका निर्माण शक संवत 1081 (1159 ई०) में हुआ। होयसल नरेश नृसिंह प्रथम (1141-73 ई०) के भंडारि हुल्ल द्वारा निर्मित होने के करण इसका नाम भंडारि अथवा भंडार बसदि प्रसिद्ध हुआ। मंदिर के सम्मुख मानस्तंभ और पाण्डुक शिला मंदिर भी निर्मित हैं। नृसिंह ने इसे भव्य चूडामणि नाम दिया था और इसकी व्यवस्था के लिए सवणेरु नामक ग्राम दान में दिया था। शक संवत 1081 के विस्तृत लेख क्रम संख्या 476 में मंदिर के निर्माता हुल्ल एवं मंदिर का वर्णन किया गया है।

अक्कन बसदि (1118 ई० में निर्मित)

श्रवणबेलगोल में होयसल शैली में निर्मित केवल एक यही मंदिर है। मंदिर पर्याप्त कलापूर्ण है। इसमें गर्भगृह, सुखनासि, नवरंग और प्रवेशमंडप निर्मित हैं। गर्भगृह में भगवान पार्श्वनाथ की सप्तफण युक्त पांच फीट ऊंची मूल नायक प्रतिमा प्रतिष्ठित है। गर्भगृह का द्वार अलंकृत है। मंदिर की प्रभावली में चौबीस तीर्थंकरों की मूर्तियां हैं। सुखनासि में यक्ष धरणेन्द्र एवं यक्षिणी पद्मावती की साढ़े तीन फीट ऊंची कलामय मूर्तियां एक दूसरे के सम्मुख निर्मित हैं।

धरणेन्द्र की मूर्ति पंच सर्पफण युक्त है। सुखनासि के द्वार पर दोनों ओर जाली का सुन्दर काम किया हुआ है। नवरंग में काले पाषाण के चार चमकदार अलंकृत स्तंभ निर्मित हैं। स्तंभों की रचना हेलेबिडु के मंदिरों के स्तंभों के समान है। नवरंग की नौ छतें बहुत सुन्दर बनी हैं। छतें दो फीट गहरी हैं। प्रवेशमंडप की छत में भी कार्य किया हुआ है। मंदिर की बाह्य दीवारें स्तंभों और छोटी बुर्जियों से सज्जित हैं। मंदिर के शिखर की रचना महामेरु के आधार पर की गई है। मंदिर का सामने

का शिखर बहुत कलात्मक बना है। उसके शीर्ष पर सिंह के मुख के समान द्रविड़ शैली में अत्यंत कलात्मक आकृति निर्मित है। अलंकरण एवं छेनी के बारीक कार्य के मध्य इसमें सुन्दर तीर्थंकर प्रतिमाएं भी उत्कीर्ण हैं। विस्तृत एवं सुन्दर शिलालेख क्रम संख्या 444 से जो इसमें अंकित है, ज्ञात होता है कि इस बसदि का निर्माण होयसल नरेश बल्लाल द्वितीय के ब्राह्मण मंत्री चन्द्रमौली की जैन धर्मपत्नी अच्चियक्क ने शक संवत 1103 (1181 ई०) में कराया तथा राजा बल्लाल ने एक ग्राम बोमयाणहल्लि इसकी व्यवस्था के लिए दान में दिया था। अच्चियक्क द्वारा निर्मित होने के कारण आरम्भ में इसको अच्चियक्क बसदि कहा जाता था। किन्तु कालांतर में इसका छोटा नाम अक्कन बसदि प्रचलित हो गया।

सिद्धांत बसदि (981 ई० में निर्मित)

यह जिनालय अक्कन बसदि के प्रकर के पश्चिम में अवस्थित है। इस मंदिर के अंधेरे वाले सुरक्षित कमरे में जैन सिद्धान्त के ग्रंथ रखे जाते थे। इसी कारण इस का नाम सिद्धांत बसदि प्रसिद्ध हुआ। कालान्तर में महान जैन सिद्धांत ग्रंथ धवला, जयधवला, महाधवला, भूवलय आदि सुरक्षा के लिए यहां से मूडबिद्री के शास्त्र-भंडार में पहुंचाए गए। मंदिर में तीन फीट ऊंची चौबीस तीर्थंकरों की संगमरमर की मूर्ति विराजित हैं। मध्य में पार्श्वनाथ की खड्गासन मूर्ति तथा चारों ओर अन्य तेईस तीर्थंकरों की पद्मासन मूर्तियां निर्मित हैं।

दानशाला बसदि (निर्माणकाल अभी तक ज्ञात नहीं)

अक्कन बसदि के प्रवेश द्वार के समीप अवस्थित इस छोटे से देवालय में पंच परमेष्ठी की तीन फीट ऊंची मूर्ति प्रतिष्ठित है। मुनि वंशाभ्युदय काव्य के अनुसार मैसूर के दोड्ड देवराज वोडेयर के राज्यकाल में चिक्कदेवराज वोडेयर यहां दर्शन करने आए थे और प्रसन्न होकर उन्होंने मदनेऊ नामक ग्राम राजा से मंदिर के लिए दान में दिलवाया था। यहां पर दान दिया जाता रहने के कारण ही संभवतया इसका नाम दानशाला बसदि पड़ा।

नगर जिनालय (1195 ई० में निर्मित)

सन् 1195 के विस्तृत शिलालेख क्रम संख्या 457 के अनुसार इस मंदिर का निर्माण नयकीर्ति सिद्धांत चक्रवर्ती के शिष्य नागदेव नामक मंत्री ने कराया था (शक संवत 1118 अर्थात 1195 ई० में)। मंदिर की व्यवस्था के लिए बेलगोल के व्यापारियों अर्थात नागरों द्वारा दान दिया जाने के कारण इसका नाम नगर जिनालय प्रसिद्ध हुआ। यह एक छोटा सा साधारण मंदिर है जिसमें गर्भगृह, सुखनासि और नवरंग निर्मित हैं। गर्भगृह में भगवान आदिनाथ की ढाई फीट ऊंची मूर्ति प्रभावली सहित प्रतिष्ठित है। नवरंग के एक कक्ष में स्थापित ब्रह्मदेव की एक मूर्ति के बाएं हाथ में एक फल और दाएं हाथ में कोड़े जैसी दीखने वाली वस्तु है। शिलालेख में राजा बल्लाल द्वितीय तक होयसल वंश की वंशावली भी दी गई है।

मंगायि बसदि (1325 ई० में निर्मित)

तीर्थंकर शांतिनाथ को समर्पित इस मंदिर में गर्भगृह और नवरंग निर्मित हैं। इस मंदिर का निर्माण अभिनव चारुकीर्ति पंडिताचार्य की बेलगुला निवासिनी शिष्या मंगायि ने, जो एक प्रसिद्ध राजनर्तकी भी थी, 1325 ई० में कराया था। इसका नाम आरम्भ में त्रिभुवन चूड़ामणि था। मंगायि द्वारा निर्मित होने के कारण कालांतर में इसका नाम मंगायि बसदि प्रचलित हो गया। इस बसदि में तीर्थंकर शान्तिनाथ की साढ़े चार फीट ऊंची मूर्ति स्थापित है जिसकी प्रतिष्ठा विजयनगर देवराज महाराज की रानी भीमादेवी ने कराई थी। नवरंग में भगवान महावीर की मूर्ति की प्रतिष्ठापना पण्डित-देव की शिष्या वसतायि द्वारा की गई थी। बसदि के प्रवेश द्वार के बाहर हाथियों की दो सुन्दर मूर्तियां बनी हैं तथा सुखनासि के द्वार पर दोनों ओर पांच फीट ऊंची चमर-धारियों की मूर्तियां बनी हैं। मंदिर में अंकित एक अन्य लेख के अनुसार किन्हीं गुम्म-तन्ना द्वारा इस मंदिर का जीर्णोद्धार किया गया था।

जैनमठ (लगभग 15 वीं शताब्दी में निर्मित)

यह एक सुन्दर मंदिर एवं श्रवणबेलगोल के मठाधीश पंडिताचार्य स्वस्ति श्री चारुकीर्ति भट्टारक स्वामी का पूर्व निवास स्थान है। मठ के बीच में खुला हुआ प्रांगण तथा उससे आगे जिन मंदिर है। तीन गर्भगृहों में धातु, पाषाण आदि की अनेक कलापूर्ण मूर्तियां हैं जिनमें से कुछ मूर्तियां संस्कृत व तमिल भाषा के लेख सहित, जो ग्रन्थ लिपि में है, बहुत प्राचीन हैं। मंदिर में ज्वालामालिनी, शारदा एवं कूष्माण्डिनी शासन देवियों की मूर्तियां बनी हैं। मठ की दीवारों पर तीर्थंकरों तथा जैन नरेशों की जीवन घटनाओं के रंगीन चित्र अंकित किए हुए हैं। मठ के प्रवेश मण्डप के स्तम्भों पर खुदाई का सुन्दर कार्य किया हुआ है। ऊपर की मंजिल में, जो बाद को निर्मित हुई है, तीर्थंकर पार्श्व-नाथ की मूर्ति स्थापित है। प्रतिष्ठित मूर्तियों में से अनेक तमिलनाडु के जैन बंधुओं द्वारा भेंट की गई हैं। इन मूर्तियों पर संस्कृत, एवं तमिल भाषा के लेखों में जो ग्रंथ लिपि में अंकित हैं इनका काल सन 1850 से लेकर 1858 तक पड़ा है। मठ में नव देवता की मूर्ति विशेष उल्लेखनीय है। इस मूर्ति में पंच परमेष्ठी के अतिरिक्त जिनधर्म, जिना-गम, चैत्य एवं चैत्यालय भी प्रतीक रूप से बने हैं। इसी कारण इसे नवदेवता मूर्ति कहा जाता है। मठ चन्द्रगुप्त ग्रन्थमाला नामक शास्त्र-भण्डार, अनेक प्राचीन हस्तलिखित भोजपत्रीय और ताड़पत्रीय ग्रन्थों के संग्रह के कारण यथेष्ट प्रसिद्ध है। मठ में अमूल्य नवरत्नमय मूर्तियों का दर्शन भी कराया जाता है।

गोम्मटेश्वर मूर्ति की प्रतिष्ठा के पश्चात चामुण्डराय ने अपने गुरु नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती को यहां का मठाधीश नियुक्त किया था। यह परम्परा यहां पर वैसे इससे भी पूर्व की कही जाती है। यहां के चारुकीर्ति पंडिताचार्य मठाधीश राजगुरु माने जाते थे और अनेक राजवंश उनकी अलौकिक प्रतिभा से उपकृत हुए थे। यहां के मठा-

धीशों की विद्वत्ता तथा आध्यात्मिक शक्ति प्रदर्शन के अनेक उल्लेख मिलते हैं। सिद्धर बसदि के दाएं एवं बाएं स्तम्भों पर उत्कीर्ण विस्तृत लेखों, क्रम संख्या 360 तथा 364, के अनुसार यहां पर आसीन गुरु चारुकीर्ति पंडित को होयसल नरेश बल्लाल प्रथम (राज्यकाल 1100-1106 ई०) को व्याधि मुक्त कर देने के कारण बल्लाल जीवरक्षक की उपाधि से विभूषित किया गया था। पूर्वकाल से ही यहां के भट्टारक जप, स्वाध्याय, ध्यान, समाधि एवं मौन अनुष्ठान में रत रहते हुए श्रावकों को धर्मोपदेश देकर आत्म-कल्याण के लिए प्रेरित करते रहे हैं। मठ के वर्तमान युवा मठाधीश भट्टारक श्री चारु-कीर्ति स्वामी पंडिताचार्य हैं। अब इनका निवास स्थान मठ से सम्बद्ध एक नव-निर्मित भवन में हो गया है।

कल्याणी सरोवर

श्रवणबेलगोल के मध्य में, दोनों पहाड़ियों के बीच, पश्चिम की ओर कल्याणी सरोवर अत्यंत सुन्दर स्थल है। इसके चारों ओर बने परकोटे में शिखर युक्त द्वार है। इसके उत्तर में निर्मित एक सभा मंडप के स्तम्भ पर अंकित लेख क्रम संख्या 501 के अनुसार इस सरोवर का निर्माण चिक्कदेव राजेन्द्र महास्वामी द्वारा किया गया था। चिक्कदेव राजेन्द्र ने 1672 से 1704 ई० तक मैसूर पर राज्य किया। अनन्त कवि द्वारा रचित गोम्मटेश्वर चरित्र में वर्णन है कि चिक्कदेव राजेन्द्र ने इस सरोवर का निर्माण अपनी टकसाल के अधीक्षक अन्नय्या की प्रार्थना पर आरम्भ करवाया था। किन्तु निर्माण समाप्त होने से पूर्व ही चिक्कदेव की मृत्यु हो जाने के कारण इसके शेष निर्माण कार्य को अन्नय्या ने चिक्कदेव के पौत्र कृष्णराज वोडेयर प्रथम के राज्य काल (1713-1731 ई०) में पूर्ण करवाया। इस सरोवर का उल्लेख सातवीं सदी के अन्य लेख में भी है। इस कारण यह अधिक युक्ति संगत प्रतीत होता है कि यह प्राकृतिक सरोवर बहुत प्राचीन है और चिक्कदेव राजेन्द्र ने इसका जीर्णोद्धार ही करवाया, मूलतः निर्माण नहीं।

जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया गया है, कहा जाता है कि इस सरोवर (बेल+कोला) तथा गोम्मटेश्वर मूर्ति (श्रमण तथा श्रवण) से सम्बन्ध जोड़कर इस ग्राम का नाम श्रवणबेलगोला पड़ा। सरोवर में उतरने के लिए चारों ओर सीढ़ियां बनी हुई हैं। इसके चारों ओर प्राकृतिक सुषमा मनोमुग्धकारी है। इसके समीप ताड़ एवं नारियल के ऊंचे वृक्षों, हरे भरे मैदानों तथा दोनों ओर पवित्र जिनालयों से सज्जित पहाड़ियों ने निस्संदेह इसे प्रचुर शोभा प्रदान की है। समस्त दृश्यावली अत्यन्त आकर्षक है।

फरवरी-मार्च 1981 में सम्पन्न हुए सहस्राब्दि समारोह के अवसर पर इस सरोवर का यथेष्ट सौन्दर्य वर्धन किया गया है। सरोवर के मध्य में 75 फीट ऊंचा एक फव्वारा निर्मित किया गया है। पूर्व संचित जल को निकालकर नवीन जल भरने की व्यवस्था की गई है।

जक्की-कट्टे

भंडारि बसदि के दक्षिण में अवस्थित यह एक छोटा सा सरोवर है। इसके पास दो चट्टानों पर जिन मूर्तियों के नीचे उत्कीर्ण लेखों, क्रम संख्या 503 एवं 504 से ज्ञात होता है कि शुभचन्द्र सिद्धान्तदेव की शिष्या जक्कीयब्बे ने, जो सेनापति गंगराज के ज्येष्ठ भ्राता की भार्या थी, और सेनापति बोप्पादेव की माता थी, इस सरोवर एवं इन मूर्तियों का निर्माण करवाया। गंगराज होयसल नरेश विष्णुवर्धन के सेनापति थे। इस कारण इन लेखों का काल 1120 ई० के लगभग प्रतीत होता है। यह सरोवर जिसका नाम अपने निर्माता जक्कम्मब्बे के कारण पड़ा इस प्रकार लगभग 860 वर्ष प्राचीन लगता है।

चेन्नण्ण कुंड

यह कुंड श्रवणबेलगोल से कुछ ही दूरी पर दक्षिण में अवस्थित है। इसके निर्माता चेन्नण्ण वही व्यक्ति हैं जिन्होंने विन्ध्यगिरि पर चेन्नण्ण बसदि का निर्माण करवाया था। इस कुंड तथा एक मंडप के निर्माण के विषय में उनके द्वारा उत्कीर्ण अनेक शिलालेखों में इसका उल्लेख हुआ है। यह कुंड 1673 ई० में निर्मित हुआ कहा जाता है।

समीपस्थ स्थान

जिननाथपुर-शान्तिनाथ बसदि

श्रवणबेलगोल में चन्द्रगिरि पर्वत के पीछे नगर से उत्तर की ओर 1.6 किलोमीटर दूर जिननाथपुर नामक ग्राम में शान्तिनाथ बसदि नामक एक प्राचीन जैन मंदिर अपनी जीर्णावस्था में है। बारहवीं शताब्दी के शिलालेख क्रमांक 538 के अनुसार होयसल नरेश विष्णुवर्द्धन के सेनापति गंगराज ने इस ग्राम को बसाया था। ग्राम बसाने का समय 1118 ई. के लगभग माना जाता है। यह मन्दिर होयसल कला का बहुत सुंदर उदाहरण है। मैसूर राज्य के समस्त जैन मंदिरों में पूर्व काल में यह एक अत्यन्त कलात्मक मंदिर रहा होगा। जीर्णावस्था में भी मंदिर की बाह्य दीवारों पर शेष सुंदर शिल्पकारी इसके विगत वैभव की कहानी कहती है। मंदिर में गर्भगृह, सुखनासि और नवरंग निर्मित हैं। नवरंग में चार स्तम्भ हलेबिड् के मंदिरों के स्तम्भों के समान बने हैं जो यद्यपि उतने अधिक कलात्मक नहीं हैं। इसमें से एक स्तम्भ अधबना है। नवरंग में नौ कलात्मक छतें लगभग डेढ़ फीट गहरी बनी हैं। मन्दिर की बाह्य दीवारों पर सुन्दर शिल्पकारी सहित तीर्थंकरों यक्ष, यक्षिणी ब्रह्म सरस्वती, मन्मथ और मोहिनी, ढोल बजाने वाले संगीतज्ञों आदि की अनेक कलापूर्ण मूर्तियां उत्कीर्ण हैं। गर्भगृह में तीर्थंकर शान्तिनाथ की साढ़े पांच फीट ऊंची भव्य एवं दर्शनीय मूर्ति प्रभावली एवं दोनों ओर चमरधारियों सहित स्थापित है। नवरंग में आमने-सामने दो सुन्दर गवाक्ष निर्मित हैं जिनमें अब कोई मूर्ति नहीं है।

13वीं शताब्दी में अंकित लेख क्रम संख्या 526 के अनुसार रेचिमय्य दण्ड-

नायक ने भगवान शान्तिनाथ की मूर्ति की प्रतिष्ठा कराकर जिनालय को सागरनन्दि सिद्धान्तदेव के अधिकार में दे दिया था। लेख में रेचिमय्य को "वसुधैव बान्धव" उपाधि से विभूषित किया गया है। इस मंदिर के निर्माता भी वही प्रतीत होते हैं। रेचिमय्य कलचुरि नरेश के मंत्री थे। उसके पश्चात वह होयसल नरेश बल्लाल द्वितीय (1173-1220) के पास चले गए थे। नवरंग के एक स्तम्भ पर अंकित लेख से ज्ञात होता है कि 1632 ई० में इस मंदिर का जीर्णोद्धार किन्हीं पालेद पदुमन्ना ने करवाया था।

जिननाथपुर में एक दानशाला भी थी जिसे लेख क्रमांक 71 के अनुसार शक संवत 1085 (1163 ई०) में देवकीर्ति पंडित ने निर्मित करवाया था।

जिननाथपुर-अरेगल्लु बसदि

जिननाथपुर से ही लगी हुई एक चट्टान पर निर्मित अरेगल्लु बसदि उपरोक्त शांतिनाथ बसदि से भी पूर्व की निर्मित है। इसमें गर्भगृह, सुखनासि तथा नवरंग निर्मित हैं। गर्भगृह में तीर्थंकर पार्श्वनाथ की पांच फीट ऊंची प्रभावली युक्त 11 सर्पफण सहित पद्मासन मूर्ति विराजित है। मूर्ति की पीठिका के लेख क्रम संख्या 530 से ज्ञात होता कि इसे बेलगुल निवासी भुजबलय्य ने शक संवत 1812 (सन् 1890 ई०) में प्रतिष्ठित कराया था। चट्टान (अरेगल्लु) पर निर्मित होने के कारण इसका यह नाम पड़ा है।

पूर्व में इस मंदिर में एक प्राचीन मूर्ति स्थापित थी। उसके खण्डित हो जाने पर उसे पास के तालाब में रख दिया गया। उस मूर्ति के खण्डित हो जाने के पश्चात भुजबलय्य ने उपरोक्त नवीन मूर्ति का निर्माण कराकर उसको यहां प्रतिष्ठित करवाया। मंदिर में इस मूर्ति के अतिरिक्त चौबीस तीर्थंकर, पंचपरमेष्ठी, नवदेवता, नन्दीश्वर आदि की धातु निर्मित अन्य प्रतिमाएं हैं। मंदिर बहुत स्वच्छ है।

समाधि मण्डप

श्रवणबेलगोल के दक्षिण पश्चिम में एक समाधि मण्डप चार फीट चौकोर है जिसकी ऊंचाई 5 फीट है। इसके ऊपर शिखर तथा चारों ओर द्वारहीन दीवारें हैं। इस समाधि को शिलाकूट कहते हैं। इसके लेख क्रमांक 539 से ज्ञात होता है कि यह बालचन्द्रदेव के पुत्र एवं नेमिचन्द्र के शिष्य की निषद्या है, जिनकी मृत्यु 1213 ई. में हुई थी। इसमें यह भी उल्लेख है कि इसका निर्माण बैरोजा ने उसी स्थान पर किया था जहां बालचन्द्र के पुत्र का दाहसंस्कार किया गया था। इसमें यह भी उल्लेख है कि कालब्बे नामक एक स्त्री ने जो संभवतया बालचन्द्र देव की पत्नी थी, सल्लेखना व्रत लेकर यहां 1214 ई. में शरीर त्याग किया था।

ऐसा ही एक समाधि मंडप किन्तु इससे छोटा जक्कीकट्टे सरोवर के उत्तर में एक चट्टान पर बना है। यह सरोवर चन्द्रगिरि के पश्चिम में है। समाधि पर प्राप्त लेख क्रमांक 497 से ज्ञात होता है कि यह चारुकीर्ति पंडित की निषद्या है, जिनकी मृत्यु शक संवत 1565 (1643 ई०) में हुई।

हेलेबेलगोल

यह ग्राम श्रवणबेलगोल से 6 किलोमीटर दूर उत्तर में है। इसमें होयसल शैली का निर्मित ध्वस्त जैन मंदिर है जिसमें गर्भगृह, सुखनासि तथा नवरंग निर्मित हैं। गर्भगृह में ढाई फीट ऊंची खड्गासन तीर्थंकर प्रतिमा विराजित है। सुखनासि की दीवार के साथ तीर्थंकर पार्श्वनाथ की पांच फीट ऊंची सप्तफण सहित एक खण्डित मूर्ति खड़ी है। नवरंग की मध्य की छत पर सुन्दर कार्य उत्कीर्ण किया हुआ है और उसमें अष्ट-दिक्पाल अपनी पत्नियों सहित रथारूढ़ अंकित हैं। इनके बीच में यक्ष धरणेन्द्र की पांच सर्पफण सहित मूर्ति उत्कीर्ण है। नवरंग के द्वार पर आकर्षक कारीगरी की हुई है। इसकी बाह्य दीवारों पर स्तम्भ एवं गवाक्ष बने हैं तथा चबूतरे के कोनों व अन्य स्थानों पर हाथी की आकृतियां बनी हुई हैं। इस मंदिर के लेख क्रमांक 568 से ज्ञात होता है कि विष्णुवर्धन के पिता होयसल एरेयंग ने गुरु गोपनन्दि को बेलगोल के मंदिरों के जीर्णोद्धार के लिए राचनहल्ल नामक ग्राम दान में दिया था। मंदिर का निर्माण काल है 1016 ई०।

ग्राम साणेहल्लि

श्रवणबेलगोल से पांच किलोमीटर दूर इस ग्राम में एक ध्वस्त जैन बसदि शेष है। लेख क्रमांक 550 के अनुसार इसे सेनापति गंगराज की भावज जक्किमब्बे ने निर्मित करवाया था।

कम्बदहल्ली

यह स्थान श्रवणबेलगोल से 18 किलोमीटर दूर अवस्थित है जहां एक कला-पूर्ण स्तंभ ब्रह्म यक्ष की मूर्ति सहित निर्मित है। इसके समीप ही सात जैन पाषाण मंदिर निर्मित हैं। शान्तिनाथ नामक इनमें से एक मंदिर में तीर्थंकर शांतिनाथ की बारह फीट ऊंची मनोज्ञ मूर्ति स्थापित है। इस मंदिर का निर्माण सेनापति गंगराज के पुत्र बोप्पण द्वारा हुआ था। कम्बदहल्ली के सुन्दर शिल्प एवं कला-कौशल को देखकर प्रसन्नता मिश्रित आश्चर्य होता है।

६

बाहुबली मूर्तियों की निर्माण परम्परा

श्रवणबेलगोल की गोम्मटेश्वर मूर्ति से पूर्व भी देश में बाहुबली की मूर्तियों के निर्माण की परम्परा रही है। बाहुबली के कामदेव जैसे सौन्दर्य, अपूर्व बल, यशस्वी जीवन एवं कठोर तपश्चरण ने अनेकों श्रीमंतों एवं कलावंतों को उनकी मूर्तियां बनाने के लिए प्रेरित किया है।

मध्य प्रदेश में मंदसौर जिले की सीतामऊ तहसील में बुसई ग्राम से एक पाषाण खण्ड प्राप्त हुआ है। यह ग्राम चम्बल नदी के किनारे स्थित है। इस पाषाण खण्ड में लगभग डेढ़ फीट ऊंची भरत एवं बाहुबली की युगल मूर्तियां बनी हुई हैं। दाहिनी ओर की मूर्ति के पैरों पर बाहुबली की मूर्तियों के समान लता लिपटी हुई है तथा बाईं ओर की मूर्ति लता एवं पत्रादि विहीन है। इन मूर्तियों का वक्ष से ऊपर का भाग टूटा हुआ होने के कारण मुख की आकृति तथा केश विन्यास के विषय में कुछ ज्ञात नहीं होता। इन युगल मूर्तियों पर कोई पादलेख न होने के कारण इनका ठीक निर्माण काल ज्ञात होना कठिन है। 13 वीं शताब्दी के आसपास के प्राप्त कुछ शिलालेखों में बुसई नाम के साथ इसके पुरातन नाम भोगवर्ती का भी उल्लेख किया गया है। बुसई भोग-वर्ती का अपभ्रंश लगता है। यदि यह माने कि भाषा शास्त्र के अनुसार अपभ्रंश होने की प्रक्रिया को 8-9 शताब्दियों का समय लग जाता है तब यह युगल मूर्तियां 5 वीं शताब्दी अथवा इससे पूर्व की निर्मित मानी जा सकती हैं।

इस क्षेत्र से अनेक मूर्तिफलक एवं पुरातत्व सामग्री प्राप्त हुए हैं। उनमें से अधिकतर विष्णु एवं उनकी दशावतार मूर्तियां हैं। दशावतार की पूजा का इस क्षेत्र में 5 वीं शताब्दी से पूर्व बहुत प्रचलन रहा है। इस युगल मूर्ति के उपरोक्त पुरातत्व सामग्री के साथ प्राप्त होने के कारण इसका निर्माण काल 5 वीं शताब्दी से पूर्व का युक्ति संगत लगता है। यह मूर्ति इस प्रकार श्रवणबेलगोल की बाहुबली मूर्ति से लगभग 500 वर्ष अथवा उससे पूर्व की प्रतीत होती है। इस क्षेत्र के प्रसिद्ध मूर्तिकार श्री मांगेल धावलकर इस मूर्तिफलक को बुसई से अपने संग्रहालय में ग्राम सुवासरा में ले आए हैं।

कर्णाटक में बीजापुर जिले के प्रसिद्ध पर्यटन केन्द्र बादामी की पहाड़ी की चोटी के उत्तरी ढलान पर चार प्राचीन गुहा मंदिर हैं। इनमें से चौथी जो निश्चित ही जैन

गुहा है 650 ई० के लगभग की निर्मित है। यह इन चारों गुफाओं में सबसे छोटी है किन्तु इसमें अन्य तीन गुफाओं की अपेक्षा अधिक शिल्पकार्य किया हुआ है। इस गुफा के बरामदे के एक ओर पार्श्वनाथ की तथा दूसरी ओर बाहुबली की 7 फीट 6 इंच ऊंची मूर्ति उत्कीर्ण है। इस बाहुबली मूर्ति की केश सज्जा श्रवणबेलगोल की मूर्ति से भिन्न है। इसमें केश गुच्छ को सिर पर ऊपर उठा हुआ तथा केश जटाओं को कन्धे पर अंकित किया गया है। लता के स्थान पर पैरों तथा हाथों पर सर्प लिपटे हुए हैं। आजानु बाहुओं के नीचे भी फणधर सर्प दिखाए गए हैं।

बीजापुर जिले में ही अन्य प्रसिद्ध पर्यटन केन्द्र ऐहोले में मेघुटी नामक जैन मंदिर के पास ही जैन गुफा में बाहुबली की 7 फीट ऊंची मूर्ति उत्कीर्ण है। इस गुफा का निर्माण काल 7वीं शती माना जाता है।

महाराष्ट्र में ऐलोरा (औरंगाबाद) की प्रसिद्ध गुफाओं में गुफा संख्या 30 से 34 तक पाँच गुफाओं का जैन गुफा समूह कहलाता है। इसमें इन्द्रसभा नामक गुफा संख्या 32 अपने कलात्मक विकास के लिए विशेष प्रसिद्ध है। इस गुफा में बाहुबली की मूर्ति उत्कीर्ण है। इसी गुफा समूह में गुफा संख्या 31 में भी इन्द्रसभा के समान बाहुबली की मूर्ति उत्कीर्ण है। इन दोनों गुफाओं की मूर्तियों में ऊपर दोनों ओर विद्याधर और उनके नीचे विनत श्रावक चित्रित हैं। इस प्रकार के फलक वाली यह बाहुबली मूर्तियां प्रथम तथा अंतिम हैं। इन गुफाओं का निर्माण 8वीं शती के अन्त अथवा 9वीं शती के आरंभ से लेकर 10वीं शती तक चला।

खजुराहो में पार्श्वनाथ मंदिर की बाह्य दक्षिणी दीवार पर 10वीं शताब्दी की बाहुबली मूर्ति निर्मित है।

श्रवणबेलगोल में ही गोम्मटेश्वर मूर्ति के मंदिर के प्रवेश द्वार अखण्ड बागिलु पर भरतेश्वर दण्डनायक द्वारा 1130 ई० में द्वार के दोनों ओर भरत एवं बाहुबली की मूर्तियां उत्कीर्ण हैं।

श्रवणबेलगोल में गोम्मटेश्वर बाहुबली की 981 ई० में प्रतिष्ठित विशाल मूर्ति के पश्चात अनेक निर्माता वैसी ही विशाल मूर्तियों के निर्माण के लिए प्रेरित हुए। उसके पश्चात कर्णाटक में मैसूर के निकट गोम्मटगिरि, कन्नबाड़ी के निकट होस-कोटे हुल्लि, कारकल तथा वेणूर में बाहुबली की विशाल मूर्तियां स्थापित की गईं।

गोम्मटगिरि

कुछ वर्ष पूर्व मैसूर नगर से 22 किलोमीटर दक्षिण पश्चिम में लगभग 400 फीट ऊंची पहाड़ी पर एक ऊंचे टीले का उत्खनन करने पर 18 फीट ऊंची बाहुबली की मूर्ति प्राप्त हुई। मुखमंडल से युवयोगी से लगने वाले इस बिम्ब में सर्प विवर (दीमकों की बाम्बियां) नहीं बनाई गई हैं। नीचे लटकते हुए हाथों को नाग फनों पर

टिका हुआ दिखाया गया है। मूर्ति पर कहीं भी निर्माता का नाम तथा निर्माण वर्ष अंकित नहीं है। इसके निकट एक शिलालेख पर अंकित वर्ष के कारण यह 1423 ई० की निर्मित प्रतीत होती है। इस मूर्ति के कारण इस पहाड़ी का नाम ही गोम्मटगिरि प्रसिद्ध हो गया है।

होस-कोटे-हुल्लि

गोम्मटगिरि के समीप कन्नवाड़ी (कृष्णनगर) के उस पार 19 कि० मी० दूरी पर स्थित होस-कोटे-हुल्लि बसदि में गंगकाल की 18 फीट ऊंची बाहुबली मूर्ति स्थापित है।

कारकल गोम्मटराय

कारकल दक्षिण कन्नड जिले के उडुपी ताल्लुके में स्थित एक छोटा सा कस्बा है। यह प्रसिद्ध जैन तीर्थ मूडबिद्री से उत्तर में मात्र 15 कि. मी. दूर अवस्थित है। यहां 1432 ई० में पाण्डय राजवंशी वीर पांडय ने आचार्य ललितकीर्ति की प्रेरणा से 41 फीट 5 इंच ऊंची बाहुबली मूर्ति का निर्माण करवाया। इस गोम्मट मूर्ति का निर्माण पर्वत की किसी बड़ी शिला से हुआ है। 1646 ई० के लगभग कवि चन्द्रम द्वारा रचित "कारकल गोम्मटेश्वर चरित" में इस मूर्ति को अन्य स्थान से निर्मित करवाकर बीस पहियों की गाड़ी में इस पहाड़ी पर स्थापित करने के लिए लाने का भी वर्णन है। इस काव्य के अनुसार इस कार्य में एक माह का समय लगा। मूर्तिकार का वास्तविक नाम अज्ञात है। इस मूर्ति के प्रतिष्ठापण समारोह में विजयनगर के तत्कालीन राजा देवराज द्वितीय ने भाग लिया था। मूर्ति के दाहनी ओर अंकित संस्कृत लेख के अनुसार इसे शालिवाहन शक 1353 (1431-32 ई०) में विरोधीकृत सम्वत की फाल्गुन शुक्ला 11 बुधवार को ललितकीर्ति जी के आदेश से चन्द्रवंश के भैरव राजा के पुत्र वीर पांडय ने स्थापित किया था। मूर्तिकार ने इसको श्रवणबेलगोल की मूर्ति जैसा ही बनाने का प्रयास किया था। जंघाओं तक उसी प्रकार सर्प विवर बने हैं जिनसे कुक्कुट सर्प बाहर निकल रहे हैं तथा उसी प्रकार माधवी लताएं पैरों एवं हाथों पर कंधों के नीचे तक चढ़ी हैं। किन्तु इस मूर्ति में वैसा शिल्प वैशिष्ट्य एवं सौन्दर्य नहीं आ पाया है। वर्षा के प्रभाव से मूर्ति का वर्ण और गहरा पड़ गया है। यह मूर्ति कारकल गोम्मटराय के नाम से प्रसिद्ध है।

वेणूर गोम्मटराय

कारकल से 38 कि. मी. एवं मूडबिद्री से 19 कि. मी. दूर वेणूर नामक छोटे से ग्राम में गुरुपुर नदी के किनारे वेणूर गोम्मटराय नामक विशाल मूर्ति स्थापित है। इसको वहां के समीपवर्ती कल्याणी नामक स्थान की शिला से निर्मित किया गया है। श्रवणबेलगोल की चामुण्डराय द्वारा निर्मित गोम्मटेश्वर मूर्ति को देखकर अजिलवंशीय नरेश तिम्मण्ण अजिल ने अपनी राजधानी में वैसी ही एक मूर्ति स्थापित करने का

निश्चय किया। उसी के अनुसार उसने यह 35 फीट ऊंची मूर्ति निर्मित करवा कर सन् 1604 ई० में इसे वेणूर में स्थापित किया। मूर्ति के दाहिनी ओर उत्कीर्ण संस्कृत लेख में उल्लेख है कि चामुण्डराय के वंशज तिम्मराज ने अपने गुरु और श्रवणबेलगोल के भट्टारक चारुकीर्ति जी के आदेशानुसार शालिवाहन शक 1525 शोभकृत संवत के गुरुवार (1 मार्च, 1604) को इसकी प्रतिष्ठा करवाई। मूर्ति के बाईं ओर कन्नड़ पदों में इसका उल्लेख किया गया है। द्रविड शैली की यह मूर्ति अंग सौष्ठव के लिए प्रसिद्ध है।

देश के अनेक संग्रहालयों में भी प्राचीन बाहुबली मूर्तियां देखने को मिलती हैं। प्रिंस आफ वेल्स संग्रहालय, बम्बई में बाहुबली की लगभग 1.5 फीट ऊंची प्रथम कांस्य मूर्ति है। यह मूर्ति मूलतः श्रवणबेलगोल की है। इस मूर्ति के स्कंध कुछ अधिक फैले हुए हैं किन्तु शरीर का शेष भाग उचित अनुपात में है। पैरों एवं हाथों पर लताएं चढ़ी हुई हैं। अधिक उभरी हुई नासिका, ओष्ठों और भौंहों ने इसे कुछ अधिक आकर्षण प्रदान किया है। केशराशि पीछे की ओर काढ़ी गई है। किन्तु कुछ घुंघराली लटाएं कंधों पर लहराती दिखाई गई हैं। यह मूर्ति श्रवणबेलगोल की गोम्मटेश्वर मूर्ति के कुछ समय पश्चात की निर्मित लगती है।

कर्णाटक में गोलकुण्डा के खजाना बिल्डिंग संग्रहालय में लगभग 10वीं शताब्दी की 5 फीट 8 इंच ऊंची बाहुबली मूर्ति काले बेसाल्ट पाषाण की है। पत्तनचेरुवु से प्राप्त राज्य संग्रहालय हैदराबाद में 12वीं शती की राष्ट्रकूट काल की एक बाहुबली मूर्ति प्रदर्शित है। इस मूर्ति की यह विशेषता है कि इसमें लताएं कंधों से भी ऊपर मस्तक के दोनों ओर पहुंच गई हैं। दोनों ओर अंकित एक-एक लघु युवती आकृति का एक हाथ लता को अलग कर रहा है और दूसरा कटि तक अवलंबित मुद्रा में है। मूर्ति पर श्रीवत्स चिह्न भी है। मूर्ति के ऊपर स्वस्तिक और कमल की आकृति का प्रभामंडल है जो अन्य बाहुबली मूर्तियों में देखने को नहीं मिलता। कटि की त्रिवली ने समूची मूर्ति के अनुपात को संतुलित किया है। यह मूर्ति इस प्रकार से कई दृष्टियों से अपने में विशिष्ट है। जूनागढ़ संग्रहालय में प्रभासपाटन से प्राप्त नौवीं शताब्दी की तथा लखनऊ संग्रहालय में 10वीं शताब्दी की मूर्ति प्रदर्शित है। इसके अतिरिक्त देवगढ़ में बाहुबली की 5 मूर्तियां हैं।

गोम्मटेश्वर बाहुबली की भव्य एवं विश्व प्रसिद्ध मूर्ति से प्रभावित होकर विगत 20-30 वर्षों में देश में अनेक स्थानों पर बाहुबली की विशाल अथवा सुन्दर छोटी मूर्तियों का निर्माण हुआ है।

धर्मस्थल की बाहुबली मूर्ति

उडुपी के समीप धर्मस्थल नामक प्रसिद्ध धर्मक्षेत्र में वहां के प्रसिद्ध मंजुनाथ मंदिर के मठाधीश श्री वीरेन्द्र हेगडे ने निकटस्थ एक टीले पर 39 फीट ऊंची बाहुबली मूर्ति स्थापित कराई है। 210 टन वजन की यह विशाल मूर्ति कारकल में वहां के प्रसिद्ध मूर्तिकार श्री रेंजल गोपाल शिनाय की व्यक्तिगत देखरेख में निर्मित हुई है।

19 मार्च, 1973 को यह मूर्ति समारोह पूर्वक धर्मस्थल लाई गई थी। ऊंचाई की दृष्टि से यह श्रवणबेलगोल की गोम्मटेश्वर मूर्ति के पश्चात तीसरे स्थान पर है। आधार सहित जिस पर यह मूर्ति स्थापित है इसकी ऊंचाई 52 फीट है।

फीरोजाबाद की बाहुबली मूर्ति

उत्तर प्रदेश के आगरा जिले में कांच की वस्तुओं के निर्माण के लिए देश भर में प्रसिद्ध फिरोजाबाद नामक नगर में स्व. सेठ छदामीलाल जैन ने एक विशाल बाहुबली मूर्ति का निर्माण कराकर अपने द्वारा निर्मित संगमरमर के भव्य एवं सुन्दर मन्दिर के पीछे प्रांगण में स्थापित करवाया है। 35 फीट ऊंची इस विशाल मूर्ति का निर्माण, जिसका वजन लगभग 200 टन है, कारकल के कुशल मूर्ति शिल्पी श्री रेंजल गोपाल शिनाय द्वारा किया गया है। रेल की विशेष व्यवस्था द्वारा इसे कारकल से फीरोजाबाद लाया गया। मूर्ति की स्थापना 12 जून, 1976 को की गई। खुले आकाश के नीचे उत्तर भारत में बाहुबली की यह सबसे ऊंची मूर्ति है।

आरा (बिहार) के जैन बालाविश्राम, सागर (मध्य प्रदेश) के वर्णी भवन तथा कुम्भोज बाहुबली (महाराष्ट्र) में स्थापित बाहुबली की मूर्तियां भी उल्लेखनीय हैं। अब तो तीर्थंकर मूर्तियों के समान बाहुबली की मूर्तियों का निर्माण गौरव की बात समझा जाता है। देश के अनेक मन्दिरों, सोनागिरि के चन्द्रप्रभु मन्दिर, जबलपुर के समीप जैन टेकरी (पिसनहारी की मढ़िया) आदि में श्वेत संगमरमर की सुन्दर बाहुबली मूर्तियां स्थापित हैं। इनके अतिरिक्त भी मंदिरों में बाहुबली की पाषाण, कांस्य एवं पीतल की मूर्तियों को स्थापित कराने का प्रचलन धीरे-धीरे बढ़ रहा है।

परिशिष्ट

परिशिष्ट—१

श्रवणबेलगोल एवं उसके अंचल में प्राप्त शिलालेख
स्थान एवं शताब्दी क्रमानुसार

काल	चन्द्रगिरि (चिक्कबेट्ट)	विन्ध्यगिरि (दोड्डबेट्ट)	श्रवणबेलगोल	समीपस्थ ग्राम	योग
6वीं-7वीं शताब्दी	1	—	—	—	1
7वीं शताब्दी	54	—	—	—	54
8वीं शताब्दी	20	—	—	—	20
9वीं शताब्दी	10	—	—	—	10
10वीं शताब्दी	69	7	—	—	76
11वीं शताब्दी	41	3	2	4	50
12वीं शताब्दी	53	38	15	22	128
13वीं शताब्दी	16	16	10	10	52
14वीं शताब्दी	3	7	8	3	21
15वीं शताब्दी	—	20	8	3	31
16वीं शताब्दी	—	11	2	3	16
17वीं शताब्दी	3	38	15	4	60
18वीं शताब्दी	—	28	3	—	31
19वीं शताब्दी	1	4	17	1	23
योग	271	172	80	50	573

परिशिष्ट=२

शिलालेख स्थान एवं क्रम संख्या

स्थान	शिलालेख क्रम संख्या
1. चिक्कबेट्ट (चन्द्रगिरि)	1-271
2. दोड्ड-बेट्ट (विन्ध्यगिरि)	272-443
3. श्रवणबेलगोल	444-523
4. समीपस्थ ग्राम	
1. बस्तिहल्लि	562
2. बेक्का	563-66
3. बोम्मेणहल्लि	552, 571
4. चलया	569, 570
5. हलेबेलगोल	568
6. हालुमत्तिगत्ता	542-543
7. हिन्दलहल्लि	553
8. हिरेबेल्टी	554
9. होसहल्लि	558-60
10. जिननाथपुर	524-39
11. जिण्णेहल्लि	540-541
12. कब्बालु	544
13. कान्तरायपुर	573
14. कम्बिरायपुर	545, 546
15. कुम्बेणहल्लि	572
16. मट्टेकाले	567
17. परम	561
18. रागिबोम्मणहल्लि	551
19. साणेहल्लि	547-50
20. सुन्दहल्लि	557
21. वड्डरहल्लि	555-556
	योग 573

परिशिष्ट-३

शिलालेखों का वंशावली के अनुसार विवरण

नरेश	समय (ईसा काल)	शिलालेख क्रमांक
	राष्ट्रकूट वंश	
कम्भय्य	8वीं शताब्दी	38
इन्द्र चतुर्थ	982	163
	गंगवंश	
सत्यवाक्य पेरमानदि	884	544
राचमल्ल द्वितीय	10वीं शताब्दी	171
ऐरेयंग द्वितीय	" "	186
मारसिंह द्वितीय	" "	64
—	" "	40, 150, 272, 273, 276, 388
	कल्याण के चालुक्य	
विक्रमादित्य षष्टम	1079	563
" "	1094	568
" "	—	532
	होयसल वंश	
विष्णुवर्धन	1113	155
" "	1115	156
" "	1118	82
" "	1119	547
" "	1123	162
" "	1124	569
" "	1131	176
" "	1138	552
" "	1139	174
" "	1145	173
	—	69, 161, 335, 502 518, 538, 558, 561
नरसिंह प्रथम	1159	476, 481
"	1163	71
"	—	275, 278

नरेश	समय	शिलालेख क्रमांक
बल्लाल द्वितीय	1173	565
"	1181	362, 444, 571
"	1195	457
"	—	342, 455, 564
नरसिंह देव द्वितीय	1231	286
"	1273	348
—	1117	170
—	1120	136, 158
—	1122	157
—	1123	135
—	1139	175
—	1176	73
—	12 वीं शताब्दी	80, 84, 149, 154, 160, 179, 274, 277, 322, 359, 371-73, 453 477, 503, 504, 531, 550
—	13 वीं शताब्दी	455, 526, 528, 573
	विजयनगर शासक	
बुक्काराय प्रथम	1368	475
हरिहर द्वितीय	1404	446
देवराय प्रथम	1422	357
देवराय द्वितीय	1446	445, 447
—	15 वीं शताब्दी	467
	मैसूर के वोडेयर	
चामराज सप्तम	1634	352, 485,
दोड्ड देवराज	1672	551
चिक्क देवराज	—	501
दोड्ड कृष्णराज प्रथम	1723	351
कृष्णराज तृतीय	1827	324
	चंगल्व वंश	
कुलोत्तुंग चांगाल्व महादेव	1509	329
	मुगेहल्लि	
तिरुमल नायक	16 वीं शताब्दी	556
	कदम्ब वंश	
कदम्ब	9 वीं शताब्दी	206

समय	शिलालेख क्रमांक
	301, 336, 337, 338, 339, 343, 344, 356, 389, 432, 443, 460, 468, 469, 529, 533, 534, 548, 549, 559, 562, 566, 567, 572
1206	517
1214	539
1250	535
1256	375
1273	555
1274	346, 349
1278	478
1279	299, 458
1282	456
1288	300, 459
1296	479
13 वीं शताब्दी	101, 185, 254, 259, 261-70, 285, 345, 347, 358, 419, 420, 435, 440, 441, 480, 483, 505, 522, 536, 554, 557, 570
1313	72
1372	380
1398	360
14 वीं शताब्दी	169, 253, 353, 377-79, 382, 449 470, 472, 482, 499, 500, 506, 523, 537, 541, 546
1409	361
1432	364
1455	363
1476	291
1486	303, 304
1489	292
1500	354
15 वीं शताब्दी	282-84, 330-34, 381, 383, 438, 450, 473, 474, 543, 545,
1519	519
1578-79	302
16 वीं शताब्दी	305, 323, 325-28, 376, 387, 471, 527, 553

समय	शिलालेख क्रमांक
1632	525
1643	497
1645	395, 418
1646	370, 413, 414
1647	410
1648	422
1652	396-98
1655	399, 400
1662	384, 406, 409
1667	424
1672	551
1673	540
1680	421
17 वीं शताब्दी	74-76, 306, 365, 385, 386, 390, 394, 407; 408, 411, 412, 415-17, 423, 427-29, 437, 439, 441, 451, 452, 498, 507-16, 542
1718	405
1719	392, 393
1721	369
1731	367
1733	366
1741	368
1743	307, 308, 311-13, 318, 341, 350
1744	310
1752	401
1755	315, 317, 320, 321
1786	309
1787	314
18 वीं शताब्दी	316, 319, 391, 404, 448, 454
1804	496
1809	252
1832	403
1842-43	402
1856	486
1857	494, 495
1858	487, 488, 492, 493
1881	530
19 वीं शताब्दी	336, 461-66, 489-91